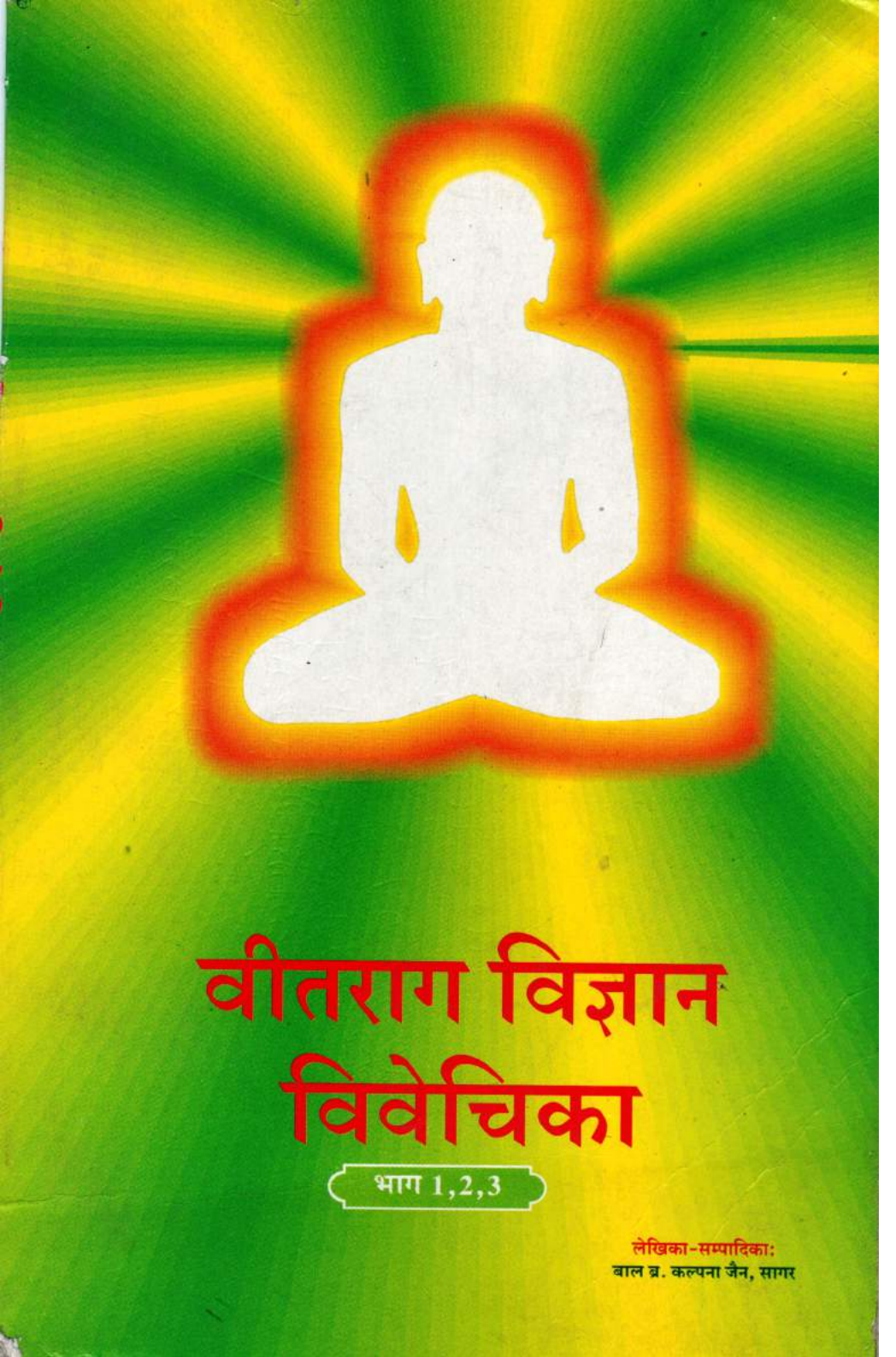

वीतराग विज्ञान विवेचिका

भाग 1,2,3

लेखिका-सम्पादिका:
बाल ब्र. कल्पना जैन, सागर

विषयानुक्रमणिका

वीतराग विज्ञान विवेचिका भाग १ – १ से ७१ पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	देवस्तुति	१ से ९	५.	कर्म	४८ से ५७
२.	आत्मा-परमात्मा	१० से २४	६.	रक्षाबन्धन	५८ से ६२
३.	सात तत्त्व	२५ से ४१	७.	जम्बूस्वामी	६३ से ६५
४.	षट् आवश्यक	४२ से ४७	८.	बारह भावना	६६ से ७१

वीतराग विज्ञान विवेचिका भाग २ – ७२ से १५० पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	उपासना	७२ से ८३	६.	सप्त व्यसन	११५ से १२३
२.	देव, शास्त्र, गुरु	८४ से ९०	७.	अहिंसा:एक विवेचन	१२४ से १३३
३.	सातत्त्वों संबंधी भूल	९१ से ९७	८.	आष्टान्हिका महापर्व	१३४ से १४१
४.	चार अनुयोग	९८ से १०७	९.	भगवान पार्श्वनाथ	१४२ से १४६
५.	तीन लोक	१०८ से ११४	१०.	देव-शास्त्र-गुरु स्तुति	१४७ से १५०

वीतराग विज्ञान विवेचिका भाग ३ – १५१ से २७८ पृष्ठ तक

पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या	पाठ	विषय	पृष्ठसंख्या
१.	सिद्धपूजन	१५१ से १६३	६.	ज्ञानी श्रावक के...	२०८ से २२९
२.	पूजा-विधि और फल	१६४ से १६९	७.	मुक्ति का मार्ग	२३० से २३६
३.	उपयोग	१७० से १८७	८.	निश्चय और व्यवहार	२३७ से २४८
४.	अगृहीत-गृहीत मिथ्या.	१८८ से २०१	९.	दशलक्षण महापर्व	२४९ से २६७
५.	मैं कौन हूँ	२०२ से २०७	१०.	बलभद्रराम	२६८ से २७३
			११.	समयसार स्तुति	२७४ से २७८

पृष्ठपूर्ति के लिए प्रयुक्त वाक्यों और पद्यों की सूची

नाथ तुम्हारे दर्शन से.....	९	प्रभो आपने एक ज्ञायक.....	१५०
संसार में ही भ्रमण होगा.....	४१	तिहूँ लोक में नाथ अनुपम.....	१६३
धन्य-धन्य मुनिवर का.....	६२	जीव का लक्षण : उपयोग.....	१८७
धन्य आज मैं हो गया.....	८३	देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट.....	२०१
जिनेन्द्र भगवान के दर्शन.....	९०	अक्षय है शाश्वत है.....	२०७
नित पीज्यो धी धारी.....	१०७	कहे सीताजी सुनो.....	२७३
सुद्ध स्वरूप कौं वंदना.....	१४१	जिनवाणी की ही शरण.....	२७८

आचार्य पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश हिन्दी पद्यानुवाद.....२७९-२८०

जिनवाणी रस अमृता, या सम सुधा न और !!!

पाठ १ | देवस्तुति

प्रश्न १ : पण्डित दौलतरामजी का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

उत्तर : पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल जाति के नररत्न थे। आपका जन्म विक्रम सम्वत् १८५५-५६ के मध्य अलीगढ़ के पास हाथरस के सासनी नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम टोडरमल तथा गोत्र गंगटीवाल था। आपने वस्त्र-व्यवसाय अपनाया; इसके लिए आप अलीगढ़ में आकर रहने लगे।

आपका विवाह अलीगढ़ निवासी चिंतामणी बजाज की सुपुत्री के साथ हुआ। आपके दो पुत्रों में से बड़े पुत्र टीकारामजी आपके समान ही कवि हृदय थे। आत्मप्रशंसा से दूर रहनेवाले, अध्यात्म-रस में निमग्न इन महान कवि पं. दौलतरामजी का पूर्ण जीवन-परिचय अज्ञात है। मात्र इतना ही ज्ञात है कि आप एक सरल स्वभावी, आत्मज्ञानी साधारण गृहस्थ थे।

वि.सं. १९२३ मार्गशीर्ष कृष्ण अमावस्या को पूर्ण सावधान दशा में समाधिपूर्वक दिल्ली में आपका देहावसान हो गया।

कविवर पण्डित दौलतरामजी की प्रमुख दो रचनाएँ हैं – एक तो है आपको अमरत्व प्रदान करनेवाली, 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करनेवाली **'छहढाला'** नामक सुप्रसिद्ध रचना। यह संपूर्ण जैन-धर्म के मर्म को अपने में समेटे हुए जन-जन के कंठ का हार बना हुआ अत्यंत लोकप्रिय संक्षिप्त, सरल, सरस, आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

दूसरी रचना है **'दौलतविलास'**। यह आपके अध्यात्म-रसमय भजनों, पदों, स्तुतिओं का संकलन है। इसमें अत्यन्त भावपूर्ण 'देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर' उक्ति को चरितार्थ करनेवाले करीब १५० पद हैं। जिनमें से कुछ तो अभी भी जिनमंदिरों में शास्त्र-सभा के बाद पढ़े जाते हैं। ये भजन मात्र भक्तिमय ही नहीं हैं; अपितु जैन-धर्म के गूढ़ रहस्यों से ओत-प्रोत हैं। इनकी

भाषा भी अत्यन्त सरल, सुबोध, प्रवाहमयी तथा शब्दों की सार्थकता को सिद्ध करनेवाली प्रौढ़ता-युक्त है।

यही कारण है कि ये पद्य हिन्दी गीत साहित्य के किसी भी विद्वान के समक्ष अत्यन्त गौरव के साथ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रस्तुत **'देव-स्तुति'** भी कविवर पण्डित दौलतरामजी की एक भक्तिपूर्ण अनुपम कृति है।

प्रश्न २ : देव-स्तुति का अर्थ अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा लिखी गई प्रस्तुत देव-स्तुति में मुख्यतया तीन तथ्यों का वर्णन किया गया है –

१. सच्चे भगवान के स्वरूप का।

२. अपने अनादिकालीन दुःखों के मूलकारणों का।

३. उन दुःखों को नष्ट करने के अंतरंग-बहिरंग उपाय का।

प्रस्तुत स्तुति के प्रत्येक छन्द का क्रमशः अर्थ निम्नलिखित है –

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरजरहस विहीन॥१॥

जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं कि हे भगवान! आप सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हुए भी अपने अतीन्द्रिय आनंदरूपी रस में लीन हैं। आप अरि अर्थात् मोहनीय कर्मरूपी शत्रु, रज अर्थात् धूल के समान ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म और रहस अर्थात् अन्तराय कर्म – इसप्रकार चार घाति कर्मों से सदा रहित हैं; ऐसे जिनेन्द्र भगवान सदा जयवंत रहें॥१॥

जय वीतराग विज्ञानपूर। जय मोहतिमिर को हरन सूर।
जय ज्ञान अनंतानंत धार। दृग सुख वीरज मंडित अपार॥२॥

हे भगवान! आप वीतराग-विज्ञानता के भण्डार हैं; मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान हैं; आप अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्यरूप अनंतचतुष्टय से सुशोभित हैं, सम्पन्न हैं; आपकी जय हो, जय हो...॥२॥

जय परमशांत मुद्रा समेत। भविजन को निज अनुभूति हेत।
भवि भागन वच जोगे वशाय। तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय॥३॥

आप परम/उत्कृष्टतम शांतमुद्रा से सहित हैं, जो भव्यजीवों को आत्मानुभूति में कारण होती है अर्थात् आपकी परम शांतमुद्रा को देखकर भव्यजीवों

को आत्मस्वरूप में लीन रहने की भावना जागृत होती है। भव्यजीवों के तीव्रतम पुण्योदय से और आपके वचनयोग से होनेवाली आपकी दिव्यध्वनि को सुनकर भव्यजीवों के विभ्रम अर्थात् मोह, संशय आदि नष्ट हो जाते हैं ॥३॥

तुम गुण चिंतत निज-पर विवेक। प्रगटै विघटै आपद अनेक।
तुम जगभूषण दूषणवियुक्त। सब महिमायुक्त विकल्पमुक्त ॥४॥

आपके गुणों के चिन्तन से अपने और पराये का भेदज्ञान प्रगट होता है, सभी प्रकार की आपत्तिआँ नष्ट हो जाती हैं। आप जगत के आभूषण हैं अर्थात् जगत में सर्वश्रेष्ठ हैं, आपसे जगत की शोभा है। आप सभी दोषों से रहित हैं, सभी महिमाओं से सम्पन्न हैं और सर्वविकल्पों से रहित हैं ॥४॥

अविरुद्ध, शुद्ध, चेतन-स्वरूप। परमात्म परम पावन अनूप।
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन। स्वाभाविक परिणतिमय अछीन ॥५॥

आप सभी प्रकार के विरुद्ध भावों से रहित अविरुद्ध, शुद्ध हैं; चेतन अर्थात् ज्ञान-दर्शन स्वरूप हैं, परमात्मपद को प्राप्त हैं, पूर्णतया पवित्र हैं, अनुपम हैं। आपने सम्पूर्ण शुभ-अशुभ विकारी भावों का अभाव करके, कभी भी नष्ट नहीं होनेवाली सहज स्वाभाविकदशा प्रगट की है ॥५॥

अष्टादश दोष विमुक्त धीर। सचतुष्टयमय राजत गंभीर।
मुनि गणधरादि सेवत महंत। नव केवल लब्धिरमा धरंत ॥६॥

आप अठारह दोषों से रहित हैं, सब कुछ सहन करने में धीर हैं, अनंत चतुष्टयसम्पन्न शोभायमान हैं, गंभीर हैं। आप बड़े-बड़े मुनिराज, गणधर आदि द्वारा भी पूज्य हैं अथवा आप सर्वोत्कृष्ट होने के कारण, आपके समान होने के लिए मुनि, गणधर आदि भी आपकी सेवा करते हैं। आप नव केवल-लब्धिरूपी लक्ष्मी के धारक हैं ॥६॥

तुम शासन सेय अमेय जीव। शिव गये जाहिं जैहैं सदीव।
भवसागर में दुख छार वारि। तारन को और न आप टारि ॥७॥

आपके शासन की सेवा करके अर्थात् आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर अनंत जीव मोक्ष गए हैं, अभी जा रहे हैं और आगे भी जाएंगे। हे भगवान! इस संसाररूपी समुद्र में दुःखरूपी खारा जल भरा हुआ है, इससे पार होने के लिए आपको छोड़कर दूसरा कोई भी सहारा नहीं है ॥७॥

यह लखि निज दुखगद हरणकाज। तुमही निमित्त कारण इलाज।
जाने तातैं मैं शरण आय। उचरों निज दुख जो चिर लहाय ॥८॥

हे भगवान ! मुझे यह भली-भाँति समझ में आ गया है कि मेरी दुःखरूपी बीमारी का इलाज करने के लिए एकमात्र आप ही समर्थ हैं। दुःखरूपी बीमारी को नष्ट करनेरूप कार्य के प्रति आप ही निमित्तकारण हैं; अतः मैं आपकी शरण में आ गया हूँ तथा अनादिकाल से जो दुःख भोग रहा हूँ, उन्हें मैं कह रहा हूँ॥८॥

मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप। अपनाये विधि फल पुण्य-पाप।
निज को पर को करता पिछान। पर में अनिष्टता इष्ट ठान॥९॥

मैं स्वयं ही, स्वयं से, स्वयं को भूलकर घूमा हूँ; मैंने कर्म के फलस्वरूप पुण्य और पाप को अपनाया है, अपने को दूसरे का कर्ता और दूसरों को अपना कर्ता माना है तथा पर-पदार्थों को ही इष्ट-अनिष्ट मान रहा हूँ॥९॥

आकुलित भयो अज्ञान धारि। ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।
तन-परिणति में आपो चितार। कबहूँ न अनुभवो स्वपदसार॥१०॥

जैसे मृग मृग-तृष्णावश बालू में जल की कल्पना कर आकुलित होता रहता है; वैसे ही मैं भी अज्ञानता को धारणकर आकुलित हो रहा हूँ। मैंने शरीर की अवस्थाओं में ही अपनेपन की मान्यता कर अपने पद का सार स्वानुभव कभी भी प्रगट नहीं किया॥१०॥

तुमको बिन जाने जो कलेश। पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु, नारक, नर, सुरगति मँझार। भव धर धर मर्‌यो अनंत बार॥११॥

हे जिनेन्द्र भगवान ! आपको नहीं पहिचानने के कारण मैंने जो दुःख भोगे हैं, उन सबको आप जानते हैं। मैंने अनंतबार तिर्यंचगति, नरकगति, मनुष्यगति और देवगति में जन्म धारण कर-करके मरण के दुःख भोगे हैं॥११॥

अब काललब्धि बलतैं दयाल। तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शांत भयो मिटि सकल द्वंद। चाख्यो स्वातम-रस दुख-निकंद॥१२॥

हे दयालु जिनेन्द्र भगवान ! काललब्धि के बल से, तीव्र पुण्योदय से आपके दर्शन पाकर मैं अति प्रसन्न हो रहा हूँ, मेरा मन शांत हो गया है, द्वंद अर्थात् संकल्प-विकल्प नष्ट हो गए हैं तथा मैंने दुःखों को नष्ट करनेवाले अपने आत्मा का रस चख लिया है अर्थात् मुझे आत्मानुभव हो गया है॥१२॥

तातैं अब ऐसी करहु नाथ। बिछुरैं न कभी तुव चरण साथ।
तुम गुणगण को नहिं छेव देव। जग तारन को तुव विरद एव॥१३॥

अतः हे भगवान ! अब आप ऐसा करें अर्थात् मैं ऐसी भावना करता हूँ, जिससे आपके चरणों का साथ कभी न छूटे अर्थात् मैं आपके द्वारा बताए गए

मार्ग पर निरंतर चलता रहूँ। आपके गुण-समूह का तो अंत नहीं है तथा संसार से पार उतारने का तो मानो आपका विरद ही है अर्थात् आपके सम्बन्ध में यह जग-प्रसिद्ध है कि जो आपके द्वारा बताए मार्ग पर चलता है, वह नियम से संसार-पार हो जाता है॥१३॥

आतम के अहित विषय-कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आपमें आप लीन। सो करो होउँ ज्यों निजाधीन॥१४॥

आत्मा का अहित करनेवाले विषय और कषाय हैं; अत: मेरी परिणति इनमें न जाए, मैं इनमें आसक्त न होऊँ। हे भगवान! ऐसा कीजिए, ऐसा उपाय बताइए, जिससे मैं स्वयं में लीन रहूँ, मैं पूर्ण स्वाधीन बन जाऊँ॥१४॥

मेरे न चाह कछु और ईश। रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारण सु आप। शिव करहु हरहु मम मोहताप॥१५॥

हे मुनिओं के नाथ भगवान! मेरी और कुछ भी इच्छा नहीं है; एक मात्र यही चाह है कि आप मुझे सम्यक् रत्नत्रयरूपी निधि दीजिए अर्थात् मेरे अंदर ऐसा स्वोन्मुखी पुरुषार्थ जागृत हो, जिससे मैं आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सम्यक् रत्नत्रयरूपी सम्पदा प्रगट कर लूँ। मेरे इस कार्य के प्रति आप ही निमित्तकारण हैं; अत: मेरा कल्याण कीजिए; मेरा मोहरूपी संताप नष्ट कीजिए अर्थात् मेरा पुरुषार्थ इतना तीव्रतम हो, जिससे मैं अपना कल्याण कर सकूँ, मोह-संताप नष्ट कर सकूँ॥१५॥

शशि शांतिकरन तपहरन हेत। स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पीयूष ज्यों रोग जाय। त्यों तुम अनुभवतैं भव नशाय॥१६॥

जिसप्रकार चन्द्रमा स्वयं शीतलता करने में, उष्णता को हरने/नष्ट करने में कारण होता है; उसीप्रकार आप भी कुशलता देने में स्वयं सहज ही कारण हैं। जैसे अमृत को पीने से रोग स्वयं ही नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार आपके अनुभव से अर्थात् आपके द्वारा बताए गए अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा के अनुभव से संसार नष्ट हो जाता है॥१६॥

त्रिभुवन तिहुँकाल मँझार कोय। नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज। दुख-जलधि उतारन तुम जहाज॥१७॥

तीन लोक और तीन काल में आपको छोड़कर दूसरा कोई भी सुखदायक अर्थात् वास्तविक सुख का मार्ग बतानेवाला नहीं है। मेरे मन में आज यह

निश्चय हो गया है कि इस दु:खरूपी समुद्र से पार होने के लिए एकमात्र आप ही जहाज के समान हैं ॥१७॥

तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमूँ त्रियोग सँभार॥१८॥

आपके गुण-समूहरूपी मणिओं को गिनने में गणधरदेव भी पार नहीं पा पाते अर्थात् वे भी समर्थ नहीं हैं, तब फिर अल्पबुद्धिवाला मैं 'दौलतराम' उन्हें कैसे कह सकता हूँ; अत: मैं तो मन, वचन, कायरूप तीनों योगों को सँभाल-कर मात्र (सहज) नमस्कार करता हूँ... ॥१८॥

प्रश्न ३ : जिनेन्द्र भगवान में नहीं पाए जानेवाले अठारह दोष कौन-कौन हैं?

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो जाने से उनके संसारदशा में पाए जानेवाले निम्नलिखित अठारह दोष नहीं होते हैं –

"जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिंता स्वेद॥
राग द्वेष अरु मरणजुत, ये अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरहंत के, सो छवि लायक मोष॥"

इन अठारह दोषों से रहित जीव ही वास्तविक भगवान हैं।

प्रश्न ४ : नव केवल-लब्धिआँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान के साथ प्रगट होनेवाले क्षायिक भावों को केवललब्धि कहते हैं। संख्या में नव होने से वे नव केवललब्धि कहलाते हैं। वे इसप्रकार हैं – क्षायिकज्ञान/केवलज्ञान, क्षायिकदर्शन/केवलदर्शन, क्षायिकसुख/अनंत-सुख, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिकवीर्य/अनंतवीर्य।

प्रश्न ५ : हमारे अनादिकालीन अनंत दु:खों के मूलकारणों को देवस्तुति नामक पाठ के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : देवस्तुति नामक पाठ में अपने दु:खों के कारणों को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया गया है –

१. मैं स्वयं, स्वयं से, स्वयं को भूल जाने के कारण संसार में भटकता हुआ दुखी हुआ हूँ।

२. कर्म के उदय में होनेवाले अर्थात् कर्म के फलमय पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भावों को अपनाकर दुखी हुआ हूँ।

३. दूसरों को अपना कर्ता मानकर, स्वयं को दूसरों का कर्ता मानकर दुखी हुआ हूँ।

४. अपने से भिन्न जो परपदार्थ मात्र संयोगरूप थे, जानने-योग्य थे; उनमें इष्ट-अनिष्ट या अनुकूल-प्रतिकूल की मान्यता करके मैं दुखी हुआ हूँ।

इत्यादि कारण हमारे दु:खों के मूलकारण हैं।

प्रश्न ६ : उपर्युक्त चार कारणों का परिणाम क्या निकला ?

उत्तर : उपर्युक्त चार अज्ञानताओं के कारण मैं मृगमरीचिका (मृग-जल) में दुखी होनेवाले मृग के समान अनंतानंत दु:खों को भोगता हुआ आकुलित रहा हूँ। शरीर की विभिन्न दशाओं में ही अपनेपन की मान्यता कर मैंने अपने ज्ञानानंद स्वभाव का अनुभव कभी भी नहीं किया तथा जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताए गए स्वाधीनता के मार्ग को समझ नहीं पाने के कारण चारों गतिओं में जन्म-मरण के दु:ख सहता आ रहा हूँ।

प्रश्न ७ : देवस्तुति पाठ के आधार पर सच्चे देव का स्वरूप लिखिए।

उत्तर : जो चार घाति कर्मों से रहित, पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ, अनंत-चतुष्टय-सम्पन्न हैं, नव-केवललब्धिओं सहित हैं, शुभाशुभभावों का अभाव कर पूर्ण स्वाभाविक परिणति सम्पन्न हुए हैं, अठारह दोषों से रहित परमपवित्र और अनुपम हैं तथा जिनकी मुद्रा अत्यंत शांत है, वे ही सच्चे देव अर्थात् जिनेन्द्र भगवान हैं।

प्रश्न ८ : इसके अनुसार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से क्या लाभ हैं?

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान पूर्ण सुखी व शांत हैं, आत्मानुभव में निमग्न हैं; अत: उनके दर्शन करने से, उनकी शांत मुद्रा देखने से भव्यजीवों को सदा आत्मा-नुभूति की प्रेरणा मिलती है। उनकी दिव्यध्वनि सुनकर सम्पूर्ण विभ्रम-संशय-विपर्यय आदि नष्ट हो जाते हैं। उनके गुणों का चिंतन करने से स्व-पर-विवेक प्रगट हो जाता है और अनेक आपत्तिआँ नष्ट हो जाती हैं, मन शांत हो जाता है, सम्पूर्ण अंतर्द्वन्द नष्ट हो जाते हैं इत्यादि अनेकों लाभ जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ९ : चौथे छन्द में आई हुई 'विघटैं आपद अनेक' – इस पंक्ति का क्या भाव है ?

उत्तर : जब हम विशुद्ध मन से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हैं, उनके गुणों

का चिंतवन करते हैं, उस समय हमारे मन में किसी भी प्रकार के पाप-परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं, उनके नहीं होने से पाप का बंध भी नहीं होता है, बंध नहीं होने से उसका उदय भी नहीं होता है तथा शुभभाव होने से, पुण्य का बंध होने के कारण, पुण्य का उदय भी होता है; अत: अनायास ही लौकिक प्रतिकूलताएं नष्ट होकर लौकिक अनुकूलताएं मिल जाती हैं; लौकिक विपत्तिआँ नष्ट होकर, लौकिक सम्पत्तिआँ उपलब्ध हो जाती हैं।

जिनेन्द्र भगवान के दर्शन कर, उनके गुणों का चिंतन कर यदि हमने स्व-पर का भेद-विज्ञान प्रगट कर लिया, आत्मानुभूति प्रगट कर ली तथा सतत आत्मा में लीन रहने का पुरुषार्थ जागृत किया; तो मोह, राग, द्वेषरूपी वास्तविक आपत्तिआँ भी उत्पन्न नहीं होती हैं; विषय-विकार या क्रोधादि कषाय-रूपी शत्रु स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं।

इसप्रकार पाप के उदय में होनेवाली लौकिक आपत्तिआँ तथा कर्ममात्र के उदय में होनेवाली मोह, राग, द्वेष आदि अलौकिक आपत्तिआँ, जिनेन्द्र भगवान के गुण-चिंतन से नष्ट हो जाती हैं – यह 'विघटैं आपद अनेक' का भाव है।

प्रश्न १० : प्रस्तुत देवस्तुति में कवि ने अनेक छन्दों में भगवान से कुछ न कुछ माँग की है, तो क्या वास्तव में भगवान उन माँगों को पूरी कर देते हैं? क्या भगवान कर्ता-धर्ता हैं ?

उत्तर : प्रस्तुत स्तुति के रचयिता कविवर पण्डित दौलतरामजी एक आध्यात्मिक, आत्मज्ञान-संपन्न व्यक्ति हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है, कोई किसी को कुछ भी नहीं दे सकता है – ये तथ्य उन्होंने परपदार्थों से पूर्ण निरपेक्ष, अनंत सामर्थ्य-सम्पन्न वस्तु-व्यवस्था को समझकर आत्मज्ञान के बल पर स्वीकार किए थे; परन्तु इसके साथ ही सहजरूप से घटित होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी वे अच्छी तरह जानते थे; जिसका हजूरी-पदों द्वारा कर्तृत्व की शैली में प्रतिपादन विनयशील, ज्ञानी, भक्त-हृदय द्वारा किया गया है।

इस स्तुति में उन्होंने जो माँगें की हैं, वे वास्तव में सहज घटित होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को बतानेवाले तथ्य हैं; जिसके उदाहरण उन्होंने स्वयं ही सोलहवें छन्द में दिए हैं।

वहाँ वे कहते हैं कि जैसे चन्द्रमा को कुछ भी करने, देने या नष्ट करने का

भाव नहीं है; तथापि जब उसका उदय होता है, तब स्वयं ही गर्मी नष्ट हो जाती है, शांति प्रगट हो जाती है, प्राणी सुख का अनुभव करने लगते हैं; इसीप्रकार कुशल देने में भगवान की निमित्तता सहज स्वयमेव बन जाती है।

अन्य उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं कि जैसे रोग नष्ट करने के लिए अमृत से निवेदन नहीं करना पड़ता, अमृत को भी रोग मिटाने की इच्छा नहीं है; तथापि जो अमृत का सेवन करता है, उसका रोग अपने आप ही नष्ट हो जाता है; इसीप्रकार जो भी जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताए गए मार्ग पर चलता है, अपने आत्मा में लीन हो जाता है, उसका संसाररूपी रोग स्वयं ही नष्ट हो जाता है और सुख-शांति प्रगट हो जाती है, उसे सम्यक् रत्नत्रयरूपी सम्पत्ति स्वयं प्राप्त हो जाती है।

इसप्रकार प्रस्तुत स्तुति कर्तृत्व-बुद्धि का पोषण नहीं करती है; अपितु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का सम्यग्ज्ञान कराती है। विनय-भक्ति के वश ऐसे औपचारिक कथनरूप हजूरीपद भक्त की वाणी में सहज ही आ जाते हैं।

ooo

नाथ तुम्हारे दर्शन से, निज दर्शन मैंने पाया

तुम जैसी ही प्रभुता निज में लखकर अति हर्षाया ॥टेक॥
तुम बिन जाने निज से च्युत हो, भव-भव में भटका हूँ।
निज का वैभव निज में शाश्वत, अब मैं समझ सका हूँ॥
निज प्रभुता में मग्न होय मैं, भोगूँ निज की माया ॥नाथ. ॥
पर्यय दीन हीन है तब भी, द्रव्य सुखमयी राजे।
पर्यय दृष्टि को गौण करूँ, निज भाव लखूँ सुख काजे॥
पर्यय में ही अटक-भटक कर मैं बहु दुःख उठाया ॥नाथ. ॥
पद्मासन थिर मुद्रा, स्थिरता का पाठ पढ़ाती।
निज भाव लखे से सुख होता, नाशादृष्टि सिखलाती॥
कर पर कर ने कर्तृत्व रहित, सुखमय शिवपंथ सुझाया ॥नाथ. ॥
यही भावना अब तो भगवन, निज में ही रम जाऊँ।
आधि-व्याधि-उपाधि रहित मैं, परम-समाधि पाऊँ॥
ज्ञान सुखमयी निज स्वभाव ही, अब मेरे मन भाया ॥नाथ. ॥

पाठ २

आत्मा और परमात्मा

प्रश्न १ : मुनिराज योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : अपभ्रंश भाषा के महाकवि अध्यात्मवेत्ता मुनिराज योगीन्दु विक्रम संवत् छठवीं शताब्दी के आसपास इस भारत भूमि पर आत्मसाधना करते हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न थे। आप गूढ़तम अध्यात्मवाद, रहस्यवाद के मुख्य प्रवर्तक आचार्यों में से एक प्रसिद्धि-प्राप्त मुनिराज हैं। जगत-जन से अति-दूर स्वरूप-निमग्न अन्य आचार्यों/मुनिराजों के समान आपके भी लौकिक जीवन सम्बन्धी कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है। शरीर को अपना नहीं माननेवाले तथा लोकैषणा से निरंतर दूर रहनेवाले, आत्मस्वरूप में सतत लीनतारूप परिणमित ज्ञानी-धर्मात्मा वास्तव में शरीर के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने की, बताने की, आवश्यकता ही नहीं समझते हैं।

मुनिराज योगीन्दुदेव पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव, पूज्यपादाचार्य आदि पूर्वाचार्यों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आपकी रचनाएं तो मानों इन पूर्वाचार्यों के ग्रंथों का संक्षिप्त-सार ही हैं। माँ सरस्वती के विशाल कोश को विविध रचनाओं से समृद्ध करनेवाले मुनिराज योगीन्दुदेव के अभी तक तीन ग्रंथ ही प्रकाश में आए हैं; १. परमात्मप्रकाश, २. योगसार, ३. अमृताशीति – ये तीनों ही ग्रंथ अपने नाम के समान परम-अध्यात्म के पोषक हैं।

'**परमात्मप्रकाश**' में परमात्मा के स्वरूप का विशद विवेचन करते हुए आपने इसमें परमात्मा बनने का उपाय विस्तार से स्पष्ट किया है।

'**योगसार**' में भी अपनी सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाओं के सारभूत मोक्षपद को पाने-हेतु अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में लीनता का अत्यन्त सुगम उपाय आपने अत्यन्त सरल लोकभाषा में प्रस्तुत किया है।

'**अमृताशीति**' में भी जन्म-मरण से रहित अमृतमय, अमरपद को/मोक्ष-पद को प्राप्त करने का उपाय बताया गया है।

परमात्मप्रकाश और योगसार ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिपिबद्ध हैं तथा अमृताशीति ग्रन्थ संस्कृत भाषा की अनुपम एवं अध्यात्म-तत्त्व की रहस्यो-द्घाटक संक्षिप्त कृति है।

परवर्ती लेखकों, रचनाकारों ने आपके नाम का उल्लेख योगीन्द्र, जोइन्दु इत्यादि रूपों में किया है।

अभी तक प्रकाश में आए ये ग्रन्थ ही आपकी कीर्ति के अक्षय भण्डार हैं तथा सतत सम्पूर्ण परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में लीनता की प्रेरणा देने में तत्पर हैं।

प्रश्न २ : आत्मतत्त्व को समझने की विशेष पात्रता क्या है ? इसका फल क्या है?

उत्तर : जिसप्रकार लोक में अपने रुचिकर विषय को सुनने, समझने और ग्रहण करने में हमारा मन अति उत्साहित, प्रसन्न रहता है; अति प्रीतिपूर्वक सर्वस्व समर्पण के साथ हम उसमें एकाग्र होने का प्रयास करते हैं; उसीप्रकार चैतन्य-स्वभावी, आनंदमयी अपने आत्मा की बात अति प्रसन्नता-उत्साहपूर्वक अत्यन्त प्रीतिभाव से, सर्वस्व समर्पण की भावना से एकाग्रतापूर्वक सुनना ही आत्मा को सुनने, समझने की पात्रता है। जो जीव इस योग्यतापूर्वक अपने आत्मा को सुनकर, समझकर, उसमें स्थिर होते हैं; वे अल्पसमय में ही नियम से परमात्मदशारूपी फल प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उनका जीवन अनंतकाल के लिए अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय हो जाता है।

प्रश्न ३ : आत्मा किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : ज्ञानानन्द स्वभावी निज चेतनामय जीव को आत्मा कहते हैं। अनंता-नंत गुण-पर्यायों का अखण्ड पिण्ड होने से वास्तव में इसके भेद नहीं होते हैं; तथापि समझने-समझाने की अपेक्षा पर्याय की मुख्यता से इसके भेद किए जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में मोक्षमार्ग की मुख्यता से श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण संबंधी पर्यायों की अपेक्षा आत्मा के तीन भेद किए गए हैं –

१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा।

वास्तव में ये तीन प्रकार के आत्मा नहीं हैं; वरन् एक ही आत्मा की मोक्ष-मार्ग के संदर्भ में क्रम से होनेवाली तीन दशाएँ हैं।

प्रश्न ४ : बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव, शरीर को आत्मा मानता है, अन्य पदार्थों को अपना मानता है, रागादि पर्यायों में अपनत्व करता है, आत्मा का स्वभाव नहीं जानता है, शरीर और आत्मा – इन दोनों की संयोगी दशा को एक मानता है, इस रूप ही मैं हूँ – ऐसा अभिप्राय रखता है, वह बहिरात्मा है। वह जीव पूर्णतया अज्ञानी, मिथ्याज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है। बहि: + आत्मा = बहिरात्मा अर्थात् जो

बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है, अपना मानता है; उनका स्वामी, कर्ता-धर्ता स्वयं को मानता है; वह बहिरात्मा है।

यह बहिरात्मारूप दशा इस जीव की अनादिकाल से चली आ रही है। अज्ञानता के कारण अपने स्वरूप को समझ नहीं पाने से यह जीव शरीर की उत्पत्ति, शरीर के नाश तथा इसीप्रकार की शरीर में होनेवाली अन्य विविध दशाओं को अपनी मानता है। जबतक यह विपरीत मान्यता नष्ट नहीं होती है; तबतक धर्म प्रगट होना, सुखी होना असंभव है।

प्रश्न ५ : बहिरात्मा का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : बहिरात्मा का स्वरूप समझने से निम्नलिखित अनेकों लाभ हैं–

१. बहिरात्मा-दशा वास्तव में जीव की एक दशा होने से क्षणिक है; अपने ज्ञानानन्द-स्वभाव को अपना नहीं मानने के कारण प्रगट होती है। इस दशा में जो पदार्थ कभी भी अपने नहीं हो सकते हैं, उन्हें अपना बनानेरूप, अपना करनेरूप विपरीत अभिप्राय रहता है। इसमें विश्व-व्यवस्था तथा वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध श्रद्धान आदि रहता है; अत: यह दु:खमय, दु:ख का कारण तथा पूर्ण निरर्थक है। – यह समझ में आ जाने पर इसे नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थ करते हैं। वास्तव में इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ बाहर में नहीं करना पड़ता है; अपितु अन्दर में होता है। जो पदार्थ अपने नहीं हैं, उन्हें अपना मानना छोड़- कर, अपने पदार्थ में अर्थात् अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा में ही अपनापन करना, अपनत्वरूप में उसकी ही प्रतीति करना; उस विपरीत मान्यता को छोड़ने का उपाय है।

२. बहिरात्मा-दशा वास्तव में मुख्यरूप से अपने श्रद्धा-गुण की विपरीत परिणति है; अत: इसे नष्ट करने के लिए मुख्यरूप से श्रद्धा गुण की परिणति को ही सम्यक् करना होगा; अन्य ज्ञान-चारित्र आदि अथवा किन्हीं अन्य बाह्य-पदार्थों में परिवर्तन करने से यह दशा नष्ट नहीं होगी। – यह समझ में आ जाने पर सर्वप्रथम हम तत्त्वज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञानपूर्वक अपनी मान्यता को सही करने का पुरुषार्थ करेंगे। – इसप्रकार सही दिशा में पुरुषार्थ करने से धर्म की प्रगटता, सुख की उपलब्धि नियम से होती है।

३. अनादिकाल से सभी जीव इसी दशा में हैं। जो सिद्ध हो गए हैं, वे भी पहले अनादिकाल से इसी दशा में थे। जब उन्होंने अपने स्वरूप को स्वयं ही 'स्व' रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें स्थिरता की; तब स्वयं परमसुखी

सिद्ध भगवान हो गए। – यह समझ में आ जाने पर दीनता, हीनता, पामरता का भाव नष्ट होकर, सिद्ध भगवान के समान अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का भाव जागृत होता है; जिसके बल पर हम भी उनके समान बन जाते हैं।

४. वास्तव में बहिरात्मा-दशा किसी परपदार्थ के कारण, कर्म आदि या शरीर आदि के कारण नहीं है; अपितु अपनी विपरीत मान्यता के कारण है। – यह समझ में आ जाने पर उन पदार्थों पर से दृष्टि हट जाने के कारण उन संबंधी एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व के भाव नष्ट होकर; मोह, राग, द्वेषादि विकारी भाव नष्ट होकर स्वरूपस्थिरता का पुरुषार्थ जागृत होता है; जिससे जीवन सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न, सुखमय हो जाता है।

इत्यादि अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ-प्रेरक अनेकों लाभ बहिरात्मा का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ६ : अन्तरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव तत्त्वज्ञान के अभ्यास से भेदविज्ञान प्रगटकर देहादि सम्पूर्ण परपदार्थों से पूर्णतया भिन्न, अपने परम पारिणामिक भावरूप ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा को अपनत्वरूप से मानता है, जानता है, उसी की प्रतीति करता है, उसी का अनुभव करता है; वह सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी आत्मा ही अन्तरात्मा है। अंत:+आत्मा=अन्तरात्मा अर्थात् जिस जीव ने अपने आत्मा को अपने अन्दर ही खोजकर उसे अपनत्वपूर्वक स्वीकार किया है; अपने से भिन्न किन्हीं भी परपदार्थों को जो अपना नहीं मानता है, वह अन्तरात्मा है। इस अन्तरात्मा-दशा से ही धर्म का प्रारंभ होता है; दु:खों का नाश तथा अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन प्रगट होता है।

प्रश्न ७ : अन्तरात्मा के कितने भेद हैं? नाम सहित स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में अपने आत्मा को ही अपना माननेरूप अन्तरात्मा के तो कोई भेद नहीं हैं; परन्तु अपने में ही स्थिरता की अपेक्षा इसके मुख्यतया तीन भेद हो जाते हैं – १. जघन्य अन्तरात्मा, २. मध्यम अन्तरात्मा, ३. उत्तम अन्तरात्मा।

१. जघन्य अन्तरात्मा – भेद-विज्ञान के बल से मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हो जाने पर जो जीव अपने त्रिकाल ज्ञायक भावरूप ज्ञानानन्द-स्वभाव को ही अपना मानता है, अपना जानता है, अपनत्वरूप से अनुभव करता है, सम्यक्त्वाचरण चारित्ररूप स्वरूप-स्थिरता भी जिसे प्रगट हुई है; परन्तु अभी अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायें शेष होने से व्रतादिरूप

चारित्र प्रगट नहीं हुआ है, उस अविरत-सम्यग्दृष्टि चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती जीव को जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। यद्यपि यह मोक्षमार्गी है, स्वच्छन्द प्रवृत्तिओं से रहित है, अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता है; तथापि विशेष स्वरूपलीनता न होने से यह जघन्य अन्तरात्मा है। संवर-निर्जरा तत्त्व से सहित तथा आंशिक-रूप में आस्रव-बंधतत्त्व से मुक्त यह जीव दृष्टि/श्रद्धा/मान्यता सम्बन्धी दोष से मुक्त होने के कारण दृष्टिमुक्त कहलाता है।

२. **मध्यम अन्तरात्मा** – विशेष स्वरूप लीनता के बल पर जो जीव देश-संयमी या सकल-संयमी हुए हैं, अणुव्रती या महाव्रती हुए हैं; परन्तु जिनके चारित्रमोह का अभी पूर्णतया क्षय नहीं हुआ है, वे पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानपर्यन्त के जीव मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं। कहीं-कहीं मात्र पाँचवें और छठवें गुणस्थानवर्ती जीवों को ही मध्यम अन्तरात्मा में लिया गया है।

३. **उत्तम अन्तरात्मा** – जो जीव पूर्ण स्वरूपलीनता के बल पर पूर्ण वीत-रागी हुए हैं; मोह, राग, द्वेषरूप भावकर्मों का तथा मोहनीय कर्मरूप द्रव्यकर्म का जिनके अभाव हुआ है, वे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं। मोह से पूर्णतया मुक्त होने के कारण ये जीव मोहमुक्त कहलाते हैं। ये जीव नियम से एक अन्तर्मुहूर्त बाद ही परमात्मा बन जाते हैं; चार घाति-कर्मों का अभावकर पूर्ण सुखी, अनंत चतुष्टय सम्पन्न वीतरागी-सर्वज्ञ भग-वान हो जाते हैं।

कहीं-कहीं कषाय की अत्यन्त मन्दता होने से शुद्धोपयोगी सातवें गुण-स्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त के जीवों को भी उत्तम अन्तरात्मा में लिया गया है। बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो पूर्ण वीतरागी होने से उत्तम अन्तरात्मा हैं ही; ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के अन्तर्मुहूर्त तक वीत-रागता होने से वे भी उत्तम में लिए गए हैं तथा सातवें से दशवें तक व्यक्त राग-द्वेष आदि न होने से उन्हें भी उपचार से उत्तम कहा जाता है।

प्रश्न ८ : अन्तरात्मा का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : अन्तरात्मा का स्वरूप समझने से निम्नलिखित अनेकों लाभ हैं–

१. मुख्यरूप से जघन्य या मध्यम अन्तरात्मा जीव ही गृहस्थपना त्याग कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म धारण कर निज स्वभाव की साधना द्वारा उत्तम अन्तरात्मा बनकर परमात्मा बनते हैं। एकमात्र परमात्मा ही परिपूर्ण सुखी,

स्वतंत्र और स्वाधीन हैं – यह समझ में आ जाने पर हम अपने अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अन्तरात्मा बनने का पुरुषार्थ करते हैं, जिससे पूर्ण सुखी परमात्मा बनने का अवसर प्राप्त होता है।

२. अन्तरात्मा-दशा भी पूर्ण सुखमय-दशा नहीं है। यह साधक-दशा है, साध्य नहीं है; मार्ग है, मंजिल नहीं है। – यह समझ में आ जाने पर हम उसमें ही न अटककर, बीच में ही संतुष्ट न होकर, सतत परमात्मा बनने के पुरुषार्थ में अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभाव में पूर्णतया लीन होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

३. चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव अन्तरात्मा ही हैं। स्वरूप-स्थिरतारूप चारित्र में और क्षायोपशमिक ज्ञान में अन्तर होने पर भी श्रद्धा की अपेक्षा उनमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। – यह समझ में आ जाने पर मात्र बाह्य चारित्र को ही मुख्यकर कभी भी वास्तविक सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की या दशम प्रतिमापर्यन्त पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ जीवों की विराधना का भाव अपने मन में उत्पन्न नहीं होता है, जिससे मिथ्यात्व नामक घोर पाप से बच जाते हैं।

इत्यादि अनेकों लाभ अन्तरात्मा का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ९ : परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने ज्ञायक भावमय आनन्द आदि अनन्त स्वभाव-सम्पन्न भगवान आत्मा में पूर्णतया स्थिर हो जाने से जो पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ, अनंतचतुष्टय सम्पन्न हो गए हैं; वे भगवान परमात्मा कहलाते हैं। परम+आत्मा=परमात्मा अर्थात् परम/उत्कृष्टतम आत्मतत्त्व जिनकी पर्याय में पूर्णतया प्रगट हो गया है, वे परमात्मा हैं। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान इसी कोटि में आते हैं। एकमात्र यह दशा ही परिपूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन, अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा है।

प्रश्न १० : परमात्मा के भेद बताते हुए उनका स्वरूप लिखिए।

उत्तर : वास्तव में तो पूर्ण सुखमय-दशा में कोई भेद नहीं होने से परमात्मा के भेद नहीं होते हैं; तथापि एकक्षेत्रावगाही संयोगरूप में रहनेवाले शरीरादि की अपेक्षा उनके सकल परमात्मा और निकल परमात्मा – ये दो भेद हैं।

१. **सकल परमात्मा** – पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाने पर भी जो परमात्मा अभी शरीर से सहित हैं; चार घातिकर्मों का अभाव हो जाने से अनंतचतुष्टय प्रगट हो जाने पर भी; चार अघातिकर्म विद्यमान होने से जिनका अगुरुलघुत्व,

अव्याबाधत्व आदि रूप सम्पूर्ण आत्मवैभव अभी प्रगट नहीं हुआ है; वे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान, सकल परमात्मा कहलाते हैं। स=सहित, कल=शरीर; शरीर सहित परमात्मा, सकल परमात्मा हैं। इन्हें जीवन्मुक्त या भावमुक्त परमात्मा भी कहते हैं।

२. **निकल परमात्मा** – सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने से जो भगवान सिद्ध दशारूप परिणमित हो गए हैं, सम्पूर्ण आत्मवैभव पूर्णतया प्रगट कर चुके हैं, वे सिद्ध भगवान, निकल परमात्मा हैं। नि=रहित, कल=शरीर अर्थात् शरीर रहित परमात्मा, निकल परमात्मा हैं। इन्हें पूर्णमुक्त, देहमुक्त या द्रव्यमुक्त, अशरीरी परमात्मा भी कहते हैं। वास्तव में अव्याबाधत्व सुखी, परिपूर्ण प्रगट आत्मवैभव सम्पन्न होने से, साध्यभूत अपने आत्मा को बताने के लिए, इन्हें ही प्रतिच्छंद के स्थान पर रखा गया है।

प्रश्न ११ : परमात्मा का स्वरूप समझने से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर : परमात्मा का स्वरूप समझने से प्राप्त होनेवाले अनेकों लाभों में से कुछ निम्नलिखित हैं –

१. यह परमात्मा-दशा ही एकमात्र परिपूर्ण सुखमय, सम्पूर्ण आत्मिक गुणों के परिपूर्ण विकासस्वरूप है; अन्य किसी भी दशा में ये सब पूर्णतया व्यक्त नहीं हैं। – यह समझ में आ जाने पर हम संयोग आदि सम्पूर्ण परपदार्थों से दृष्टि हटाकर, अपने आपमें परमात्मा-दशा प्रगट करने के लिए अपने त्रिकाली ध्रुव परमात्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर रहने का पुरुषार्थ करते हैं; जिससे हम भी पर्याय में परमात्मा अर्थात् परिपूर्ण सुखी हो जाते हैं।

२. परमात्मा अनंत शक्तिसम्पन्न तथा सम्पूर्ण लोकालोक के ज्ञाता-दृष्टा होने पर भी किसी का कुछ भी करते-धरते या हरते नहीं हैं। उनके समान ही हमारा स्वरूप है। – यह समझ में आ जाने पर हम भी करने-धरने के भाव नष्ट कर सहज ज्ञाता-दृष्टारूप रहने-हेतु पुरुषार्थ करने लगते हैं।

३. भगवान सब कुछ जानते हुए भी न तो किसी से प्रभावित होते हैं और न किसी को प्रभावित करते हैं। – यह समझ में आ जाने से सच्चे देव का स्वरूप समझ में आ जाता है, जिससे तत्संबंधी विपरीत मान्यताएं नष्ट हो जाती हैं।

४. पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा ही भगवान या सच्चे देव हैं। – यह

समझ में आ जाने पर अन्य देवी-देवताओं को पूजनेरूप गृहीत मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।

इत्यादि अनेकों लाभ परमात्मा का स्वरूप समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १२ : आत्मा के सम्पूर्ण भेदों को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

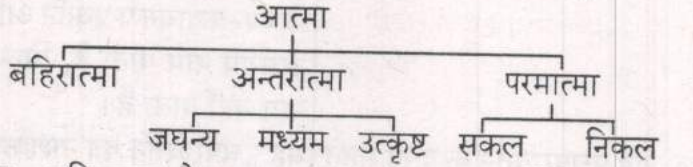

प्रश्न १३ : बहिरात्मा और अन्तरात्मा का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : बहिरात्मा और अन्तरात्मा परस्पर विरुद्ध दशाएँ होने से उन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है –

बहिरात्मा	अन्तरात्मा
१. बहिरात्मा संसारमार्गी, संसार-तत्त्व है।	अन्तरात्मा मोक्षमार्गी, मोक्षतत्त्व (दृष्टि-मुक्त, मोहमुक्त) है।
२. बहिरात्मा पूर्णतया विराधक है।	यह पूर्णतया साधक या आराधक है।
३. यह बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है।	यह अपने त्रिकाली ज्ञानानन्द स्वभाव को ही आत्मा मानता है।
४. प्रत्येक जीव अनादि काल से बहि-रात्मा ही है।	मात्र सैनी पंचेन्द्रिय जीव ही अन्तरो-न्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अन्तरात्मा बनता है।
५. यह भव्य जीव की परम्परा-अपे-क्षया अनादि सांत, दुरानुदूर भव्य या अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनंत तथा पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त है।	यह परम्परा तथा पर्याय दोनों की अपेक्षा से सादि-सान्त ही है।
६. यह पूर्णतया हेय है।	यह प्रगट करने की अपेक्षा, एकदेश उपादेय है।
७. यह सदा अनंत दुखी, आकुलित है।	यह आंशिक अतीन्द्रिय आनन्दमय है।
८. इसे मिथ्यादृष्टि, पर्यायमूढ, पर-समय, भगवान का निंदक भी कहते हैं।	इसे सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा, आत्मज्ञानी, द्रव्यदृष्टिवान, भगवान का लघुनंदन भी कहते हैं।
९. इसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ, सम्पूर्ण	इसके पुरुषार्थ की कमजोरीवश व्रतादि

व्रताचरण, सभी प्रकार का ज्ञान-श्रद्धान, मिथ्याचारित्र, मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धान कहलाता है।	का कदाचित् अभाव होने पर भी, ज्ञान का भी विशेष क्षयोपशम नहीं होने पर भी, इसका श्रद्धान और ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहलाता है। विषय-कषायरूप प्रवर्तन अविरत या असंयम नाम पाता है, मिथ्याचारित्र नाम नहीं पाता है।
१०. यह पंचपरावर्तन के दु:ख सहते हुए संसार में ही भटकता रहता है।	यह पंचपरावर्तन का नाशकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक पूर्ण स्वरूप लीन होकर नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा।
११. इसके शुक्ललेश्या आदि होने पर भी कर्मों की बंध-व्युच्छित्ति आदि रंचमात्र भी नहीं हैं; वास्तविक संवर-निर्जरा तत्त्व रंचमात्र भी नहीं है।	कदाचित् असंयमदशा होने पर भी इस जीव के ४१ प्रकृतिओं की बंध-व्युच्छित्ति नियम से हो जाती है। संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट हो गए हैं।
१२. यह पूर्ण बंधस्वरूप है।	यह दृष्टिमुक्त या मोहमुक्त होने से कथंचित् मुक्तस्वरूप है।

इत्यादि अनेकप्रकार से बहिरात्मा और अन्तरात्मा दशाओं में अन्तर है।

प्रश्न १४ : अन्तरात्मा और परमात्मा का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अन्तरात्मा और परमात्मा दशाएँ क्रमश: साधक और साध्य होने से इनका अन्तर निम्नलिखित है –

अन्तरात्मा	परमात्मा
१. ये साधक या आराधक हैं।	ये साध्य या आराध्य हैं।
२. इसमें चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त के जीव आते हैं।	इसमें तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत तथा गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान आते हैं।
३.यह दशा सादि-सांत है।	निकल परमात्मा की अपेक्षा यह सादि-अनंत है, सकल परमात्मा तथा पर्याय मात्र की अपेक्षा सादि-सांत है।
४. यह दशा चारों गतिओं में होती है।	यह मात्र मनुष्यगति की पुरुष पर्याय में या गतिरहित पंचम सिद्धगति में होती है।

५. यह दशा प्रगट होकर पूर्णतया नष्ट भी हो सकती है अर्थात् यह जीव पुनः बहिरात्मा भी हो सकता है।	परम्परा की अपेक्षा यह दशा कभी भी नष्ट नहीं होती, वैसी की वैसी ही बनी रहती है।
६. इस दशा में औपशमिक आदि पाँचों ही भाव हो सकते हैं।	इस दशा में क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव हो सकते हैं। यहाँ नियम से औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं होते हैं।
७. इसके जघन्य आदि तीन भेद हैं।	इसके सकल और निकल – दो भेद हैं।
८. यहाँ मात्र मोहनीय कर्म का ही पूर्णतया अभाव होता है।	इस दशा में आठों ही कर्मों का या चार कर्मों का पूर्णतया अभाव हो जाता है।
९. यहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के साथ का सम्बन्ध पूर्णतया व्युच्छिन्न नहीं होता है।	यहाँ इनका सम्बन्ध पूर्णतया व्युच्छिन्न भी हो जाता है।
१०. यहाँ मात्र सम्यग्दर्शन ही पूर्ण विकसित, शुद्ध अर्थात् क्षायिक होता है।	यहाँ क्षायिक ज्ञान, क्षायिक चारित्र आदि सभी दशाएँ पूर्ण विकसित शुद्ध हो जाती हैं।
११. इसमें अव्रती, व्रती, गृहस्थ तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठीरूप मुनि – सभी आ जाते हैं।	इसमें मात्र अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी रूप भगवान ही आते हैं।
१२. इस दशा में दृष्टिमुक्ति और मोहमुक्त जीव ही आते हैं।	इसमें जीवन्मुक्त और देहमुक्त जीव आते हैं।
१३. यहाँ पर्याय में आत्मवैभव की पूर्ण प्रगटता नहीं होने से ऐसे जीव वास्तविक आदर्श नहीं होते हैं। इनकी बात भी मात्र स्वयं से ही पूर्ण प्रामाणिक नहीं होती है; उसकी प्रामाणिकता सर्वज्ञ भगवान के आधार पर होती है।	यहाँ उसकी पूर्ण प्रगटता हो जाने के कारण ये आदर्श भी हैं तथा इनकी दिव्यध्वनि केवलज्ञानानुसारिणी होने से वह स्वयमेव प्रामाणिक है।
१४. यहाँ आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तत्त्व का मिश्ररूप है।	यहाँ मात्र ईर्यापथ आस्रव और संवर, निर्जरा या मोक्ष तत्त्व हैं; साम्परायिक आस्रव तथा बंध नहीं है।
१५. इन्हें मुख्यतया संवर, निर्जरारूप	इन्हें मोक्षरूप कहते हैं।

कहा जाता है।	
१६. ये छद्मस्थ कहलाते हैं।	ये सर्वज्ञ कहलाते हैं।
१७. ये संसारी जीव हैं।	इनमें संसारी और सिद्ध दोनों हैं।
१८. ये सामान्यतया त्रसनाली सम्बन्धी तीनों लोकों में होते हैं।	ये मात्र मध्यलोक के ढ़ाई द्वीप में तथा उससे ही ऊपर ऊर्ध्वलोक/सिद्धलोक में होते हैं।
१९. ये चार ज्ञान और तीन दर्शन – इस प्रकार सात उपयोग सम्पन्न भी होते हैं।	ये केवलज्ञान और केवलदर्शन – इसप्रकार दो उपयोग सम्पन्न ही होते हैं।
२०. इसमें ३ सम्यग्दर्शन हो सकते हैं।	यहाँ मात्र क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।
२१. यहाँ संयम/चारित्र मार्गणा के सातों भेद सम्भव हैं तथा यह प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है।	यहाँ मात्र यथाख्यात चारित्र या क्षायिक चारित्र ही होता है तथा यह प्रगट करने की अपेक्षा पूर्ण उपादेय है।

इत्यादि अनेकों प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न १५ : सकल और निकल परमात्मा का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: यद्यपि ये दोनों परमात्मा ही हैं; तथापि इनमें निम्न अंतर भी है –

सकल परमात्मा	निकल परमात्मा
१. इनके चार घातिकर्मों का अभाव हुआ है।	इनके आठों कर्मों का अभाव है।
२. इनके छ्यालीस गुण प्रसिद्ध हैं, उनमें से अनंतदर्शन आदि अनंत चतुष्टय आत्मिक गुण कहलाते हैं।	इनके आठ गुण प्रसिद्ध हैं, पर वास्तव में इनके सम्पूर्ण गुणों का परिपूर्ण शुद्ध परिणमन हुआ है।
३. ये परमौदारिक शरीरसहित हैं। मनुष्यलोक (ढ़ाई द्वीप) में रहते हैं। जीवन्मुक्त संसारी कहलाते हैं।	ये शरीररहित अशरीरी हैं। ढाई द्वीप सम्बन्धी ऊर्ध्वलोक में रहते हैं। पूर्णमुक्त सिद्ध कहलाते हैं।
४. इनका परद्रव्यों के साथ संबंध है।	इनका परद्रव्यों के साथ रंचमात्र संबंध नहीं है।
५. ये धर्म का उपदेश देते हैं, विहार करते हैं।	ये इन सब क्रियाओं से पूर्णतया रहित हैं।
६. इनमें से सयोगकेवली के मन, वचन, काय सम्बन्धी योग तथा साता-	योग का सम्पूर्णतया अभाव हो जाने से ये निष्क्रिय, निश्चल हो गए हैं। आ-

वेदनीय कर्म का ईर्यापथ आस्रव विद्यमान है।	स्रव से पूर्णतया मुक्त हैं।
७. ये मनुष्यगति के जीव हैं।	ये पंचमगति के जीव हैं।
८. ये अनंत सुखी हैं, पर पूर्णतया कृतकृत्य नहीं हैं।	ये अव्याबाध सुखी होने से पूर्णतया कृतकृत्य हैं।
९. इनमें सामान्य अरहंत तथा तीर्थंकर अरहंत होते हैं।	ये सिद्ध परमेष्ठी हैं।
१०. ये सयोगी तथा अयोगी केवली हैं।	ये योगायोग से रहित ध्रुव, अचल केवली हैं।

इत्यादि अनेकों प्रकार से सकल और निकल परमात्मा में अन्तर है।

प्रश्न १६ : बहिरात्मा आदि दशाओं में ज्ञेयता, हेयता, उपादेयता स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जानकारी के बिना हेयता, उपादेयता सम्भव नहीं होती है; अत: ज्ञेय अर्थात् जानने-योग्य तो सभी अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – ये तीनों ही दशाएं हैं।

बहिरात्मा-दशा पूर्णतया दु:खमय, संसारमय, आत्मस्वरूप की विराधक होने से सर्वथा हेय ही है, त्याज्य ही है। यह दशा पूर्णतया आस्रव, बंध, पुण्य, पाप तत्त्वमय है। ये सभी संसारमय और संसार के कारण होने से अनंत आकुलतामय हैं; अत: यह दशा पूर्णतया नष्ट करने-योग्य है।

अन्तरात्मा-दशा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है। यह दशा आत्मस्वरूप की साधक/आराधक होने से स्वयं सुखमय तथा सुख की कारण है, मोक्षमार्गस्वरूप है; निराकुलता का प्रारंभ, वृद्धि तथा आंशिक पूर्णता भी इस दशा में हो जाती है; तथापि सादि-सांत होने के कारण परम्परा की अपेक्षा से भी स्थिर न होने के कारण पूर्ण उपादेय नहीं है। यह स्वयं संवर, निर्जरातत्त्वरूप है। संवर, निर्जरा तत्त्व मोक्ष के कारण हैं, मोक्षरूप नहीं। हमारा साध्य मोक्ष है; इस दृष्टि से यह अन्तरात्मा दशा कथंचित् हेय भी है। इसके अतिरिक्त इस दशा की उत्पत्ति, वृद्धि या पूर्णता स्वयं इसके लक्ष्य से नहीं होती है; त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानंद स्वभावी अपने भगवान आत्मा के लक्ष्य से होती है; इसकारण भी यह दशा दृष्टि में लेने-योग्य नहीं है, उपेक्षणीय है।

इसप्रकार यह दशा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय और दृष्टि में रखने/आश्रय करने की अपेक्षा हेय है।

परमात्मा-दशा परिपूर्ण सुखमय, मोक्षमय, आत्मवैभव के पूर्ण विकास-

मय होने से प्रगट करने की अपेक्षा पूर्णतया उपादेय है। हम सभी की साध्य/आराध्य यह दशा ही है। संपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान इसके लिए ही हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप इस दशा जैसा ही है। यह दशा प्रगट होने के बाद परंपरा की अपेक्षा से अनंतकाल पर्यन्त स्थायी बनी रहती है; अत: प्रगट करने की अपेक्षा से पूर्णतया उपादेय है। इसप्रकार यह दशा संपूर्ण परपदार्थों के साथ संबंध विच्छेदकर परिपूर्ण स्वतंत्रता, स्वाधीनतामय होने से कथंचित् उपादेय है। पूर्ण निष्क्रियता, अमूर्तिकता, कृतकृत्यता इसमें ही प्रगट हुई है, संपूर्ण शीलों के स्वामी ये परमात्मा ही हैं; अत: प्रगट करने की अपेक्षा से पूर्ण उपादेय है।

ऐसा होने पर भी इस दशा के आश्रय से स्वयं यह दशा प्रगट नहीं होती है; त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानंद स्वभावी अपने भगवान आत्मा के आश्रय से यह प्रगट होती है। स्वयं पर्याय होने से, परंपरा की अपेक्षा भी अनादि-अनन्त नहीं होने से, क्षणिक होने से, यह स्वयं को शरण देने में असमर्थ है। अनंतकाल तक सौभाग्यशाली रहने के लिए इसका भी व्यामोह छोड़कर, एकमात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा का आश्रय लेना ही उपाय है।

इसके अतिरिक्त विशेष बात यह भी है कि यह अभी प्रगट है कहाँ कि जिससे इसका सहारा लिया जा सके ? जो स्वयं अभावात्मक है, अभी विद्यमान नहीं है, उसके बल पर हम सुखी कैसे हो सकते हैं ? जो स्वयं उत्पाद-व्ययरूप है, कार्यरूप है, वह हमें स्थायी शरण कैसे दे सकती है ? इस दृष्टि से विचार करने पर यह परमात्मा-दशा भी दृष्टि में लेने-योग्य, आश्रय करने-योग्य नहीं है, अपनत्व करने-योग्य नहीं है, इसमें अपनत्व करने का फल भी पर-समय/मिथ्यात्व है; क्योंकि ''**पज्जयमूढा हि परसमया** – पर्याय में मुग्ध परसमय है'' – ऐसा जिनागम का वाक्य है; अत: यह भी कथंचित् हेय है।

इसप्रकार प्रगट करने की अपेक्षा से पूर्ण उपादेय और दृष्टि में लेने, अपनत्व करने की अपेक्षा से पूर्ण हेय होने के कारण यह परमात्मा-दशा भी कथंचित् उपादेय और कथंचित् हेय है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञेय तो तीनों ही दशाएं हैं। बहिरात्मा-दशा पूर्णतया हेय है। अंतरात्मा-दशा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है; आश्रय लेने की अपेक्षा पूर्ण हेय है। परमात्मा-दशा प्रगट करने की अपेक्षा पूर्ण उपादेय है; आश्रय लेने की अपेक्षा हेय है। सर्वथा पूर्ण उपादेय तो एकमात्र सहज त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानंद स्वभावी अपना (निज) भगवान आत्मा ही है।

प्रश्न १७ : जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट (उत्तम) अंतरात्मा का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यद्यपि ये तीनों एक अंतरात्मा ही हैं; तथापि इनमें निम्नलिखित अंतर भी है –

जघन्य अंतरात्मा	मध्यम अंतरात्मा	उत्तम (उत्कृष्ट) अंतरात्मा
१. यह मात्र चतुर्थ गुणस्थानवर्ती दशा है।	यह पाँचवें से ग्यारहवें पर्यन्त अथवा मात्र पाँचवें-छठवें में होती है।	यह मात्र बारहवें गुणस्थानवर्ती अथवा सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती दशा है।
२. यह चारों ही गतिओं में होती है।	यह मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय कर्मभूमिज तिर्यंच में ही होती है।	यह मात्र मनुष्य में ही होती है।
३. इसमें मात्र अन्याय, अनीति, अभक्ष्य का ही त्याग होता है; शेष सभी प्रकार का आरंभ-परिग्रह, यहाँ तक की छह खंड की विभूति का परिग्रह भी इसमें हो सकता है।	इसमें आरंभ-परिग्रह का परिमाण करने वाले या आरंभ-परिग्रह के पूर्णतया त्यागी होते हैं।	इसमें नियम से संपूर्ण आरंभ-परिग्रह से पूर्णतया रहित निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज ही आते हैं।
४. यह अविरति, असंयमी सम्यग्दृष्टि है।	यह सम्यग्दृष्टि बारहव्रतमय ग्यारह-प्रतिमाधारी देशव्रती या अट्ठाईस मूलगुण-सम्पन्न महाव्रती है।	ये पूर्ण शुद्धोपयोगी, वीतरागी मुनिराज हैं।
५. इसमें संकल्पी, उद्योगी, विरोधी, आरंभी – इन चार हिंसाओं में से किसी का भी त्याग नहीं होता है।	इसमें संकल्पी हिंसा का तो पूर्णतया त्याग ही होता है; शेष हिंसाएँ कुछ प्रतिमाओं तक हैं, आगे नहीं हैं।	इसमें नियम से संपूर्ण हिंसाओं के त्याग-रूप पूर्ण अहिंसक वृत्ति ही होती है।

६. इसमें शुद्ध आदि तीनों उपयोग होते हैं।	इसमें यथायोग्य तीनों, दो या एक शुद्धोपयोग ही होता है।	इसमें मात्र एक शुद्धोपयोग ही होता है।
७. इसमें आर्त, रौद्र और धर्म्यध्यान हैं।	इसमें आर्त-रौद्र की हीनता युक्त, वृद्धिगत धर्म्यध्यान होता है; शुक्लध्यान भी होता है।	इसमें मात्र शुक्लध्यान ही होता है। दूसरी विवक्षा में धर्म्यध्यान भी मान्य है।
८. इसमें मति, श्रुत ज्ञान के साथ अवधिज्ञान भी हो सकता है।	यहाँ इनके साथ ही मन:पर्ययज्ञान भी हो सकता है। चारों ज्ञान पृथक्-पृथक् उपयोगात्मक भी सकते हैं।	यहाँ भी चारों ज्ञान हो सकते हैं; परंतु उपयोगात्मक एक श्रुतज्ञान ही होता है, मतिज्ञान को उपचार से उपयोगात्मक कहा गया है।
९. ये मात्र दृष्टिमुक्त हैं।	ये दृष्टिमुक्त, मोहमुक्त होने के लिए विशेष पुरुषार्थरत हैं।	ये दृष्टिमुक्त, पूर्णतया मोहमुक्त हैं।
१०. इनके मात्र सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।	इनके यथायोग्य देश-सकल चारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र है।	इनके मात्र एक यथाख्यात चारित्र ही होता है। दूसरी विवक्षा में सामायिक आदि अन्य भी हैं।
११. ये जीव भगवान के लघुनंदन कहलाते हैं। यह दशा धर्म की बालदशा है।	ये भगवान के बीच के बेटे कहलाते हैं। यह दशा धर्म की तरुण या यौवनदशा है।	ये भगवान के बड़े बेटे कहलाते हैं, एक अंतर्मुहूर्त में इन्हें सर्वज्ञपद मिलनेवाला है। यह धर्म की प्रौढ़दशा है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन तीनों में अन्तर है। ○○○

पाठ ३

सात तत्त्व

प्रश्न १ : आचार्य उमास्वामी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : **''तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।**
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्॥''

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले **आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी** के **तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र** ग्रंथ से जैनसमाज जितना अधिक परिचित है, उतना ही उनके जीवन-चरित्र से अपरिचित है। आपके संबंध में इतना ही ज्ञात है कि आप कुंदकुंदाचार्य के पट्टशिष्य थे तथा विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में अपनी वीतरागता, विद्वत्ता से भारतभूमि को अलंकृत कर रहे थे।

आपका नाम पूर्ण प्रामाणिक आचार्यों की परंपरा में आचार्य कुंदकुंददेव के समान अग्रगण्य व सर्वमान्य है। आपके द्वारा रचित एकमात्र ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र संस्कृत भाषा का तथा गद्य शैली का इस युग का सर्वप्रथम ग्रंथ है। प्रस्तुत ग्रंथ जैनधर्म सम्बन्धी सभी सम्प्रदायों को एक समान प्रामाणिकरूप में मान्य है। जो महत्त्व वैदिक धर्म में गीता का, क्रिश्चियन धर्म में बाइबिल का और मुस्लिम धर्म में कुरान का है; वही महत्त्व जैनधर्म में '**तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र**' का है। सर्वमान्य होने से तथा संक्षेप में जैनदर्शन की समग्र जानकारी करानेवाला होने से, यह ग्रंथ जैनसमाज द्वारा संचालित समस्त परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रम में रखा गया है तथा समस्त जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

मात्र तीन सौ सत्तावन सूत्रों में निबद्ध यह ग्रंथ वास्तव में जैनदर्शन की समग्र प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का सूची-ग्रंथ के समान है। दश अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में सात तत्त्व, नव पदार्थों का वर्णन है। पहले से चौथे अध्याय पर्यन्त जीवतत्त्व का, पाँचवें में अजीवतत्त्व का, छठवें और सातवें में पाप-पुण्यरूप आस्रवतत्त्व का, आठवें में बंधतत्त्व का, नवमें में संवर और निर्जरातत्त्व का तथा दशवें में मोक्षतत्त्व का वर्णन है। अन्य ग्रंथों के प्रथम शब्दपरक नामों के

समान यह ग्रंथ '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' – इत्यादि मंगलाचरण में 'मोक्ष' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण 'मोक्षशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

इस ग्रंथ की महिमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक प्रचलित है –

''दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

दश अध्यायों से सहित तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है; – ऐसा मुनिराजों में श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा कहा गया है।''

इस कथन के संदर्भ में विचारणीय बात यह है कि इसे पढ़ने से एक उपवास का फल कैसे मिल जाएगा? परंतु जब हम इसकी प्रतिपाद्य विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करते हैं, तो शंका के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता। इस लघु-काय ग्रंथ में वास्तविक मोक्षमार्ग-मोक्ष का स्वरूप, बंधमार्ग-बंध का स्वरूप तथा जीवादि सभी द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को बताकर, उनमें बननेवाले पार-स्परिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की घोषणा करते हुए अत्यंत स्पष्टता से वस्तु की स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा अनंत वैभव-संपन्नता का उद्घोष किया गया है। अत्यंत सरल और स्पष्ट शब्दों में विश्व-व्यवस्था और वस्तु-व्यवस्था का निरूपण है। विविध परिणामों का फल भी स्पष्टरूप में प्ररूपित है –इत्यादि विषयों के प्रतिपादक इस ग्रंथ का यदि हम एकाग्रतापूर्वक गंभीरता से पाठ करेंगे, तो इच्छा के निरोधमय स्वरूप-स्थिरतारूप तप नियम से प्रगट होगा।

आचार्य उमास्वामी ने इस ग्रंथ में स्वाध्याय के क्रमिक अंगों की चर्चा करते हुए लिखा है कि वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा के बाद आम्नाय अर्थात् पाठ का क्रम आता है। जिसने पाठ करने के स्तर तक विश्व-व्यवस्था और वस्तु-व्यवस्था को समझ लिया है, हृदयंगम कर लिया है; उसके सहज ही पर संबंधी, एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि भावों; इच्छाओं का अभाव हो जाता है – इसप्रकार उसके सहज ही तप, तप का एक भेद अनशन घटित हो जाता है।

सूत्रात्मक शैली में तथा विषय-वस्तु का मुख्यतया मात्र नामोल्लेख करते हुए संक्षिप्त गंभीर शैली में लिखा गया होने से इस ग्रंथ पर, इसकी विषय-वस्तु का विवेचन करनेवाली सर्वाधिक टीकाएँ, वृत्तिआँ, वार्तिक, भाष्य आदि सभी भाषाओं में लिखे गए हैं। इनमें सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। इन

सबके गंभीर अध्ययन से यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की विषय-वस्तु स्पष्ट हो जाती है; तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि न जाने अभी और भी कितने रहस्य इन सूत्रों में भरे पड़े हैं। –इसप्रकार यह लघुकाय ग्रंथ स्वयं में सागर के समान अगाध गंभीरता को गर्भित किए हुए है। परवर्ती सम्पूर्ण साहित्य के बीजभूत, इस ग्रंथ का तलस्पर्शी अध्ययन, मनन, चिंतन ही इसे समझने का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न २ : प्रयोजनभूत तत्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर : जिन तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना कभी भी आकुलता नष्ट नहीं होती है, हमारे सुखरूपी प्रयोजन/उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती है, उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। इसका विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है–

प्रयोजन शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'युज्' धातु से ण्युट्/अन प्रत्यय लगकर बनता है। प्र=प्रकृष्टरूप से; युज्=युक्त होना/जुड़ना/लगना/तन्मय होना; अर्थात् जिस काम में हम प्रकृष्टरूप से लगते हैं, जुड़ते हैं, तन्मय होते हैं; उसे प्रयोजन कहते हैं।

प्रत्येक प्राणी सदैव सुख के प्रयास में ही लगा रहता है, उसके लिए ही प्रयत्न करता है, उसमें ही तन्मय होता है, दु:खों से बचने का निरन्तर प्रयास करता है; अत: सुख प्रगट करना और दु:खों से बचना ही एकमात्र प्रयोजन है।

'भूत' शब्द का अर्थ 'होना' है। तत्त्व शब्द भी तत्+त्व से मिलकर बना है। तत्=उस वस्तु का; त्व=मौलिक स्वभाव/असाधारणभाव।

इसप्रकार वस्तु के जिन मौलिक, असाधारणभावों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना वास्तविक सुख उत्पन्न नहीं होता है, दु:खों का नाश नहीं होता है; उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं।

प्रश्न ३ : प्रयोजनभूत तत्त्व जानना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : अनादिकाल से ही प्रत्येक प्राणी एकमात्र दु:ख नष्ट करने और सुख प्रगट करने के पुरुषार्थ में लग रहा है; तथापि प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान न होने से आजतक दु:ख नष्ट नहीं हुआ, सुख प्रगट नहीं हुआ। सुख के लिए सतत प्रयत्न करने पर भी दु:ख ही चलता रहा, सम्पूर्ण पुरुषार्थ पूर्णतया निरर्थक रहा। किसे सुखी होना है? सुख क्या है? सुखी कैसे हों? दु:ख क्या है? दु:ख क्यों हो रहा है? – इत्यादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान किए बिना दु:ख का अंत और सुख की प्राप्ति कभी संभव ही नहीं है; अत: प्रयोजनभूत तत्त्व समझना आवश्यक है।

प्रश्न ४ : प्रयोजनभूत तत्त्व कितने और कौन-कौन हैं? तथा वे इतने और ये ही क्यों हैं?

उत्तर : अतीन्द्रिय आनंद प्रगट करने की अपेक्षा तथा समस्त आकुलताएँ नष्ट करने की अपेक्षा से प्रयोजनभूत तत्त्व सात हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

सुखी हमें होना है; अत: अपनी वास्तविक सत्ता, स्वसत्ता, स्वजीव या आत्मा को जानना अत्यावश्यक है।

जो पदार्थ जीव नहीं हैं; परन्तु जीव जैसे लगते हैं, जिनमें हमें अपनेपन का भ्रम हो जाता है, वे अपने से भिन्न समस्त परपदार्थ अजीव कहलाते हैं। यदि उनकी यथार्थ जानकारी नहीं हुई तो अनादिकालीन प्रयासों के समान अभी भी उन्हें ही सुखी करने के प्रयास में हम लगे रहेंगे। ऐसी दशा में स्व-पर भेद-विज्ञान का अवसर भी प्राप्त नहीं हो पाने के कारण स्वयं को सुखी बनाने का प्रयास ही नहीं कर सकेंगे; अत: अजीव को जानना परमावश्यक है।

आस्रव स्वयं दु:खमय तथा दु:ख के कारण हैं। उनकी यथार्थ जानकारी किए बिना उन्हें नष्ट करना संभव नहीं है। उन्हें नष्ट किए बिना हम सुखी नहीं हो सकते हैं; अत: उन्हें जानना अत्यावश्यक है।

बंध स्वयं बंधनरूप, आकुलतारूप, आस्रव का कार्यभूत व दु:खमय है। उसका यथार्थ ज्ञान किए बिना, उसे नष्टकर सुखी होना संभव नहीं है; अत: उसे जानना अत्यावश्यक है।

संवर स्वयं एकदेश सुखमय तथा सुख का कारण है। इसका यथार्थ ज्ञान किए बिना, इसे प्रगट करना संभव नहीं होने से सुखी होना संभव नहीं है; अत: इसका ज्ञान अत्यावश्यक है।

निर्जरा स्वयं एकदेश सुखमय तथा सुख की कारण है। इसका यथार्थ ज्ञान किए बिना, इसे प्रगट करना संभव नहीं होने से, सुखी होना संभव नहीं है; अत: इसका ज्ञान अत्यावश्यक है।

मोक्ष स्वयं परिपूर्ण सुखमय, बंधनरहित, निराकुल दशा है। उसका यथार्थ ज्ञान किए बिना उसे प्रगट करना संभव नहीं है; अत: उसका ज्ञान भी आवश्यक है। पुण्य और पाप ये आस्रव, बंध के ही विशेष होने से उनमें ही गर्भित हैं।

इसप्रकार स्व और पर का, दु:ख और दु:ख के कारणों का तथा सुख और

सुख के कारणों का यथार्थ ज्ञान, श्रद्धान हो जाने पर नियम से अपनी दृष्टि अपने त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा पर जाती है। जिसमें लीनता से दुःखों का अंत तथा सुख की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार मात्र इतने ही ज्ञान-श्रद्धान से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाने के कारण ज्ञानिओं ने इनको ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहा है। इनसे अधिक की आवश्यकता न होने से, और अन्य इनमें नहीं लिए; तथा इनमें से किसी को कम करने पर प्रयोजन सिद्ध न होने से कुछ कम करना संभव नहीं हो पाने के कारण प्रयोजनभूत तत्त्व में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – ये सात ही रखे।

प्रश्न ५ : जीवतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ज्ञान, दर्शन, आनंद स्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। **आत्मा शब्द अपनत्व-वाचक है; अर्थात् ज्ञानानंद स्वभावी अपना आत्मा अपने लिए जीवतत्त्व कहलाता है।** इससे भिन्न शेष सभी आत्माएँ जीवद्रव्य कहलाते हैं। यह त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा ही आश्रय करने-योग्य, परम उपादेय है।

अनादि-अनंत, निर्बंधस्वभावी, मुक्तस्वभावी, अनंतवैभवसंपन्न इस आत्मा के आश्रय से ही बंध का अभाव, मोक्ष की प्रगटता तथा समस्त वैभव की पर्याय में प्रगटता होती है। **समस्त पर्यायों तथा भेदभावों से भिन्न यह भगवान आत्मा ही दृष्टि का विषय अर्थात् श्रद्धा का श्रद्धेय है; साधना का साध्य, आराधना का आराध्य, ध्यान का ध्येय तथा ज्ञान का परम ज्ञेय है। इस अकृत्रिम चैतन्य भगवान आत्मा में अपनत्व की प्रतीति सम्यग्दर्शन है, अपनत्व का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा स्थिरता, लीनता सम्यक्चारित्र है।**

प्रश्न ६ : जीवतत्त्व और जीवद्रव्य में क्या अंतर है?

उत्तर : समस्त परपदार्थों, अपनी शुद्धाशुद्ध सम्पूर्ण पर्यायों तथा गुणभेद आदि समस्त भेद-भावों से भिन्न; सामान्य, अभेद, नित्य, एक, अखण्ड पिण्ड आत्मा जीवतत्त्व कहलाता है तथा सम्पूर्ण परपदार्थों से सर्वथा भिन्न, शुद्धाशुद्ध समस्त पर्यायों का, भेदभावों का, सामान्य-विशेष, अभेद-भेद, नित्य-अनित्य, एकानेक आदि स्वभावों का अखण्ड पिण्ड आत्मा जीवद्रव्य है।

जीवतत्त्व में गुण, भाव या ध्रौव्य की अखण्ड एकरूपता मुख्य होती है। जीवद्रव्य में गुण, पर्याय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अखण्ड एकरूपता मुख्य होती है।

प्रश्न ७ : अजीवतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण परपदार्थ अजीवद्रव्य हैं। इन अजीवद्रव्यों में से जो मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभावों में निमित्त होते हैं, उन्हें अजीवतत्त्व कहते हैं। इनमें स्वयं को छोड़कर शेष अनंत जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य; धर्म-अधर्म-आकाशद्रव्य एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य तथा इन सभी के गुण, पर्यायें आदि आते हैं।

ये सभी अपनी सत्ता से सर्वथा भिन्न होने के कारण न तो अपने लिए दु:खमय हैं और न सुखमय; अत: मात्र ज्ञेय हैं। वास्तव में तो ये स्वयं रागादि भावों के निमित्त भी नहीं हैं; हम स्वयं अपनी अज्ञानता से उनका लक्ष्यकर रागादि भावरूप परिणमित होते हैं, तब उन्हें उसमें उपचार से निमित्त कहा जाता है; अत: सुखार्थी जीव को उन्हें मात्र ज्ञेयरूप ही जानना चाहिए। वहाँ भी यदि वे सहज ही जानने में आ जाएं तो जान लेना; बुद्धिपूर्वक उन्हें जानने सम्बन्धी तीव्र इच्छा, आसक्ति नहीं रखना चाहिए।

प्रश्न ८ : आस्रवतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : कर्मों का आना आस्रव कहलाता है अर्थात् मोहनीय आदि पूर्वबद्ध कर्म के उदय में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेषादि विकारीभावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म-योग्य कार्मण-वर्गणाओं का कर्मरूप में आना आस्रव है। इसके दो भेद हैं – भावास्रव और द्रव्यास्रव।

भावास्रव – मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभावों का आना, उत्पन्न होना भावास्रव या जीवास्रव है। वास्तव में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप ये आस्रव ही स्वयं दु:खमय तथा दु:ख के मूलकारण होने से आस्रव हैं; अत: सर्वथा हेय हैं। ये समस्त अशुद्धदशामय आस्रव शुभ और अशुभ या पुण्य और पापरूप होते हैं; परन्तु दोनों ही दु:खमय और दु:ख के कारण होने से हेय हैं। हमें स्वरूप-स्थिरता के बल पर इन्हें नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

द्रव्यास्रव – उपर्युक्त भावास्रव का निमित्त पाकर जो ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव या अजीवास्रव कहते हैं। ये पूर्णतया पुद्गल के परिणाम होने से वास्तव में जीव को सुख-दु:ख के कारण नहीं हैं; तथापि इनका भावास्रवों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से ये भी उपचार से दु:ख के

कारण कहे जाते हैं; परन्तु इन द्रव्यास्रवों को नष्ट करने के लिए जीव को पृथक् से कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ता है; अत: वास्तव में तो ये ज्ञेय हैं, मात्र उपचार से ही हेय कहे जाते हैं।

प्रश्न ९ : बंधतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : बँधने, अटकने को बंध कहते हैं; अर्थात् मोह, राग, द्वेष आदि जीव के विकारीभावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही विशिष्ट सम्बन्ध हो जाना बंध कहलाता है। इसके दो भेद हैं – भावबंध और द्रव्यबंध।

भावबंध – जीव में उत्पन्न होनेवाले अज्ञान, मोह, राग, द्वेष, पुण्य, पाप आदि विकारीभाव भावबंध या जीवबंध कहलाते हैं। वास्तव में दु:खमय यह बंध ही है; अत: पूर्णतया हेय है। बंध के शुभ, अशुभ या पुण्य, पाप – ये भेद होने पर भी सभी बंधमय, दु:खमय, पराधीनतामय होने से हेय ही हैं; अत: इन्हें नष्ट करने के लिए सतत पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप-स्थिरता का प्रयास करना चाहिए।

द्रव्यबंध – उपर्युक्त भावबंध का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाना, द्रव्यबंध या अजीव-बंध कहलाता है। इसके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग– ये चार भेद हैं। यह पूर्णतया पुद्गल का परिणमन होने से वास्तव में न सुखमय है और न दु:खमय; अत: न हेय है, न उपादेय, मात्र ज्ञेय है; परन्तु भावबंध के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से, भावबंध के समान इसे भी उपचार से दु:खमय कहने के कारण हेय कहा जाता है; तथापि इसे नष्ट करने के लिए पृथक् से कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है।

प्रश्न १० : संवरतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं; अर्थात् ज्ञानानंद स्वभावी अपने आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता के बल पर मोह, राग, द्वेषादि अशुद्धि उत्पन्न न होने, रुक जाने तथा वीतरागता उत्पन्न हो जाने से नवीन कर्मों का आना रुक जाना, संवर कहलाता है। इसके दो भेद हैं – भावसंवर, द्रव्यसंवर।

भावसंवर – ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर उसमें ही स्थिरतारूप शुद्ध वीतरागदशा उत्पन्न होना; मोह, राग,

द्वेषादि अशुद्धि उत्पन्न न होना/रुक जाना, भावसंवर या जीवसंवर है। इसके गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र–ये छह भेद हैं। यह संवर स्वयं सुखमय तथा सुख का कारण होने से प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है; अत: स्वोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक इसे प्रगट करने का सतत प्रयास करना चाहिए।

द्रव्यसंवर – उपर्युक्त भावसंवर का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि नवीन कर्मों का आना रुक जाना द्रव्यसंवर है। यह स्वयं पूर्णतया पुद्गल का परिणमन होने से सुख-दु:खमय या सुख-दु:ख का कारण नहीं है; अत: हेय या उपादेय नहीं है, मात्र ज्ञेय है। यद्यपि भावसंवर के साथ इसका निमित्त नैमित्तिक संबंध होने से उसका उपचार कर इसे भी एकदेश उपादेय कहा जाता है; तथापि इसे प्रगट करने के लिए पृथक् सें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है।

प्रश्न ११ : निर्जरातत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : खिरना, झड़ना, क्रम-क्रम से नष्ट होना निर्जरा है; अर्थात् अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा में विशेष स्थिरता की क्रमश: वृद्धि से एवं मोहादि विकारों की क्रमश: हानि से पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मों का क्रमश: खिरना, झड़ना, निर्जरा है। इसके दो भेद हैं – भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा।

भावनिर्जरा – तीव्रतम स्वोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा के विशेष आश्रय से उत्पन्न हुई स्वरूप-स्थिरतारूप शुद्धि की क्रमश: वृद्धि तथा मोहादि अशुद्ध भावों की क्रमश: हानि/कमी होना भावनिर्जरा या जीवनिर्जरा कहलाती है। इसके सकाम और अकाम–ये दो भेद हैं। यह स्वयं सुखमय तथा सुख की कारण होने से प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है। आत्मोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक इसे प्रगट करने का सतत प्रयास करना चाहिए।

द्रव्यनिर्जरा – भावनिर्जरा का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रतिसमय खिरना, झड़ना, निर्जरित होना, द्रव्यनिर्जरा या अजीवनिर्जरा है। इसके अविपाक और सविपाक – ये दो भेद हैं। यह पूर्णतया पुद्गल का परिणमन होने से सुख-दु:खमय या सुख-दु:ख की कारण नहीं है; अत: हेय या उपादेय न होकर मात्र ज्ञेय है। यद्यपि भावनिर्जरा के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उसका उपचार कर इसे भी एकदेश उपादेय कहा जाता है; तथापि इसे प्रगट करने के लिए पृथक् से कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है।

प्रश्न १२ : मोक्षतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : छूटने को, मुक्त होने को मोक्ष कहते हैं; अर्थात् अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा में पूर्ण स्थिरता होने से सम्पूर्ण अशुद्धि का नाश तथा परिपूर्ण शुद्धि की प्रगटता का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों का छूट जाना, नष्ट हो जाना, अकर्मरूप हो जाना, मोक्ष कहलाता है। इसके दो भेद हैं – भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष।

भावमोक्ष – अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता, तन्मयता होने से परिपूर्ण शुद्धता की प्रगटता, समस्त वैभव की पर्याय में प्रगटता तथा मोहादि सम्पूर्ण विकारों का, संयोगों का पूर्णतया अभाव हो जाना, भावमोक्ष या जीवमोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष परिपूर्ण अव्याबाध अतीन्द्रिय आनंदमय, अनंत वैभव-सम्पन्न, पूर्ण स्वतंत्रता, स्वाधीनतामय होने से प्रगट करने की अपेक्षा पूर्णतया उपादेय है; अत: अंतरोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक इसे प्रगट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

द्रव्यमोक्ष – भावमोक्ष का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीर रूप नोकर्म आदि सभी परपदार्थों का संबंध पूर्णतया छूट जाना, द्रव्यमोक्ष या अजीवमोक्ष कहलाता है। यह पूर्णतया पुद्गल का परिणमन होने से सुख या दु:खमय नहीं होने के कारण उपादेय या हेय नहीं है, मात्र ज्ञेय है। भावमोक्ष के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उसका उपचार कर इसे भी पूर्ण उपादेय कहा जाता है; तथापि इसे प्राप्त करने के लिए कोई पृथक् पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है, भावमोक्ष के समय स्वयमेव यह प्रगट हो जाता है।

प्रश्न १३ : तत्त्वों के भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

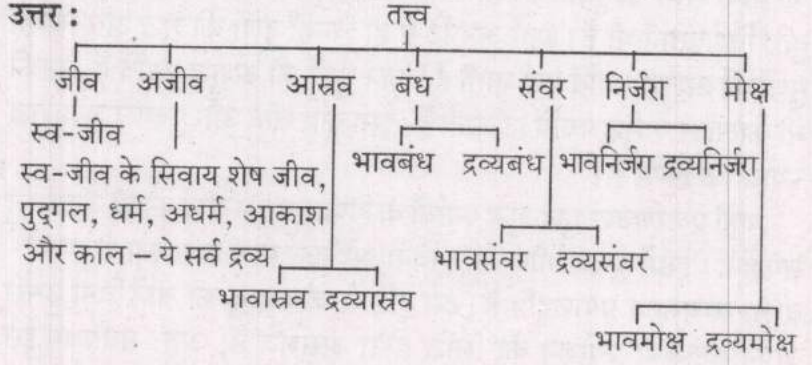

प्रश्न १४ : पुण्य-पाप तत्त्व को कहीं आस्रव-बंध तत्त्व में गर्भित करने का और कहीं उनसे भिन्न बताने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर : पुण्य-पाप आस्रव-बंध के ही भेद होने से उन्हें सामान्यतया आस्रव-बंध में ही गर्भित कर दिया जाता है। उन्हें भिन्न बताने का प्रयोजन यह है कि अनादि से इस जीव की पुण्य में मोक्षमार्ग मानने की तथा पाप में स्वच्छंद प्रवर्तन करने की प्रवृत्ति चली आ रही है; इन दोनों का यथार्थ श्रद्धान कराने के लिए अर्थात् पुण्य भी बंधमार्ग ही है, मोक्षमार्ग नहीं – यह समझाने के लिए तथा पाप में स्वच्छंद प्रवर्तन करना नरक-निगोद के तीव्रतम दुःखों का कारण होने से यह उचित नहीं है–यह समझाने के लिए उनका पृथक् वर्णन किया जाता है।

प्रश्न १५ : चार्ट द्वारा पुण्य-पाप तत्त्व को आस्रव-बंध में गर्भित कर दर्शाइए।

उत्तर :

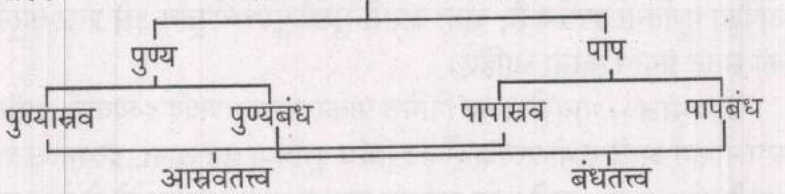

प्रश्न १६ : प्रमाणदृष्टि क्या है?

उत्तर : प्रमाणज्ञान की विषयभूत सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाणदृष्टि या प्रमाणज्ञान कहलाता है। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, गुण-पर्यायात्मक, अनंतधर्मात्मक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक स्वचतुष्टय स्वरूप है। जीव भी एक ऐसी ही वस्तु है। यद्यपि यह परिभाषा सभी वस्तुओं की सामान्य परिभाषा है; तथापि जीव, पुद्गल में कुछ विशेषताएँ भी हैं। इनमें अनादि से ही किन्हीं गुणों की शुद्ध और किन्हीं गुणों की अशुद्ध पर्यायें पाई जाती हैं। जिन गुणों की अशुद्ध पर्यायें हैं, उनकी भी कालांतर में शुद्ध पर्यायें हो जाती हैं। इसप्रकार जीव और पुद्गल शुद्धाशुद्ध पर्यायों के पिण्ड हैं।

यहाँ प्रकरणवश शुद्धाशुद्ध पर्यायों के पिण्डरूप इस जीव को ही जीववस्तु समझना। इसमें मुख्य-गौण किए बिना इसे एक साथ समग्ररूप से जाननेवाला सम्यग्ज्ञान प्रमाणदृष्टि है। इस दृष्टि से जीववस्तु को जाने बिना उससे अपने सुखरूपी प्रयोजन की सिद्धि होना असंभव है; अतः सर्वप्रथम इसे

इस दृष्टि से जानना आवश्यक है। इसके बाद इसे ही विशेषरूप से जानने के लिए/अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अन्य-अन्य दृष्टिओं से जाना जाता है।

प्रश्न १७ : द्रव्यदृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमाणदृष्टि से जाने हुए जीव में से समस्त परपदार्थों, शुभाशुभ आस्रवादि विकारी भावों, संवरादि अविकारी भावों आदि समग्र पर्यायों और भेद-भावों से भी भिन्न मात्र ज्ञानानंद स्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को ही अपनत्वरूप में स्वीकार करनेवाली दृष्टि अर्थात् श्रद्धा को द्रव्यदृष्टि कहते हैं। इसमें परपदार्थों, पर्यायों और भेदों को गौणकर मात्र त्रैकालिक ज्ञान-स्वभाव को ही आत्मा जाना/माना जाता है।

यद्यपि यह ध्रुवतत्त्व, वस्तु का एक अंश है; तथापि अनादि-अनंत, एक-रूप, अनंत वैभवसम्पन्न, अनंत महिमावंत, शक्तिशाली होने से, इसे अपनत्वरूप में स्वीकार करने पर अनंत दु:खों का अंत होने के कारण तथा अपनत्वरूप से स्वीकार न करने पर अनंत दु:ख ही चलते रहने के कारण, इसे द्रव्य कहा जाता है।

इसे द्रव्य कहने का दूसरा कारण यह भी है कि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को द्रव्य कहते हैं। यह ध्रुवतत्त्व भी दर्शन-ज्ञान स्वभावी होने से सामान्य-विशेषात्मक है; अत: इसे द्रव्य कहते हैं। इसे विषय बनानेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि कहलाती है। इसके दूसरे नाम तत्त्वदृष्टि, ध्रुवदृष्टि, परमार्थदृष्टि आदि हैं। यह ध्रुवतत्त्व या दृष्टि का विषय ही परम शुद्ध निश्चय नय का या परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

एकमात्र यह दृष्टि का विषयभूत ध्रुवतत्त्व ही सुखी होने के लिए सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धा का श्रद्धेय, सम्यग्ज्ञानरूप आत्मज्ञान का परमज्ञेय और सम्यक्चारित्ररूप आत्मध्यान का परमध्येय है। इसके आश्रय से ही संवर, निर्जरा, मोक्षरूप धर्म प्रगट होता है तथा आस्रव, बंध, पुण्य, पापरूप अधर्म का नाश होता है; अतींद्रिय निराकुल आनंद प्रगट होता है, आकुलता का नाश होता है।

प्रश्न १८ : जबकि द्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है, तब फिर द्रव्यदृष्टि में किसी भी पर्याय को शामिल क्यों नहीं किया गया है ?

उत्तर : जीव की अनादि-अनंत समग्र पर्यायों को समझने की दृष्टि से हम उन्हें मुख्यतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—स्वाभाविक/शुद्ध पर्यायें और

वैभाविक/अशुद्ध पर्यायें। स्वाभाविक/शुद्ध पर्यायों को समझने के लिए उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–लाक्षणिक पर्यायें, एकदेश शुद्ध साधक या आराधक पर्यायें और पूर्ण शुद्ध साध्य या आराध्य पर्यायें।

आस्रव, बंध, पुण्य, पाप आदि सम्पूर्ण विराधक पर्यायें वैभाविक/अशुद्ध पर्यायों में गर्भित हैं। ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीवत्वसूचक गुणों की समस्त पर्यायें लाक्षणिक पर्यायों में गर्भित हैं। संवर और निर्जरारूप समस्त पर्यायें साधक या आराधक पर्यायों में समा जाती हैं तथा मोक्षरूप पर्यायें साध्य या आराध्य पर्यायों में समाविष्ट हैं।

आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप पर्यायें तो तत्त्व व्यवस्था में पृथक्रूप से विवक्षित हैं ही; ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों की पर्यायें जीव-अजीव आदि सभी तत्त्वों को जानने, समझने में लग जाती हैं। इनके सिवाय अब और कोई भी पर्यायें द्रव्य में हैं ही कहाँ कि जिन्हें दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव में शामिल किया जाए? अत: उसमें कोई भी पर्यायें शामिल नहीं हैं।

दूसरा कारण यह है कि ध्रुव और पर्यायें परस्पर विरुद्ध-स्वभावी हैं। यदि ये दोनों परस्पर मिल जाएं, तो या तो पर्याय को ध्रुवरूप होना पड़ेगा या ध्रुव को पर्यायरूप; जो कि वस्तु-व्यवस्था में कभी भी संभव नहीं है; अत: दृष्टि के विषयभूत द्रव्य में/तत्त्व में किन्हीं भी पर्यायों के प्रवेश का अवसर नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य है कि दृष्टिरूप पर्याय स्वयं को ज्ञानानंद स्वभावी, त्रिकाली, ध्रुवरूप स्वीकार करती हुई ही उत्पन्न होती है; उस समय यह पर्याय और ध्रुव दोनों ही अभेद, एकरूप में ज्ञान के विषय होने से इस अनुभूति/स्वानुभूति को स्वानुभव प्रमाण कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त विशेष बात यह भी है कि एकमात्र ज्ञान ही स्व-पर व्यवसायात्मक होने से, मुख्य-गौण की व्यवस्था भी इसमें ही घटित होती है। शेष गुण इस योग्यतावाले नहीं होने से उनके परिणमन में यह व्यवस्था शक्य नहीं है। यही कारण है कि श्रद्धा आदि पर्यायें जिस विषय को भी स्वीकार करती हैं, उसे परिपूर्ण अखण्डरूप में एकनिष्ठ होकर अपनत्वरूप से स्वीकार करती हैं। श्रद्धा या ध्यान पर्याय में एक साथ दो विषयों के लिए अवकाश नहीं है। सम्यग्दर्शन पर्याय ही नहीं, मिथ्यादर्शन पर्याय भी जिस किसी पदार्थ को

अपना मानती है, पूर्णतया एकनिष्ठ हो सर्वस्व समर्पणभाव से ही उसे अपना मानती है। उसके मिथ्यादर्शन का कारण तो मात्र इतना ही है कि वह जिसे अपना मानती है, वह उसका होता नहीं, कभी होना शक्य भी नहीं; अत: उसका सम्पूर्ण पुरुषार्थ निष्फल जाता है; अनंत दु:खमय और दु:खों का कारण बन जाता है।

सम्यग्दर्शन पर्याय भी त्रिकाली ध्रुव को सर्वस्व समर्पणभाव से अपनत्व-रूप में एकनिष्ठ होकर अखण्ड परिपूर्णरूप से स्वीकार करती है। 'यह मैं' 'इसे स्वीकार करती हूँ'–इस रूप में इस ध्रुव को वह स्वीकार नहीं करती है; अपितु 'यही मैं हूँ'; 'मैं स्वयं त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा हूँ' – इस रूप में प्रतीति करती है तथा यह वस्तु-स्वरूप होने से वह पर्याय इस प्रतीति के कारण स्वयं सुखमय तथा सुख की कारण हो जाती है।

इसप्रकार द्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायों का पिण्ड होने पर भी कोई भी पर्यायें दृष्टि के विषय में/द्रव्यदृष्टि में शामिल नहीं होती हैं।

प्रश्न १९: जीव की अनादि-अनंत पर्यायों के विभाजन को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

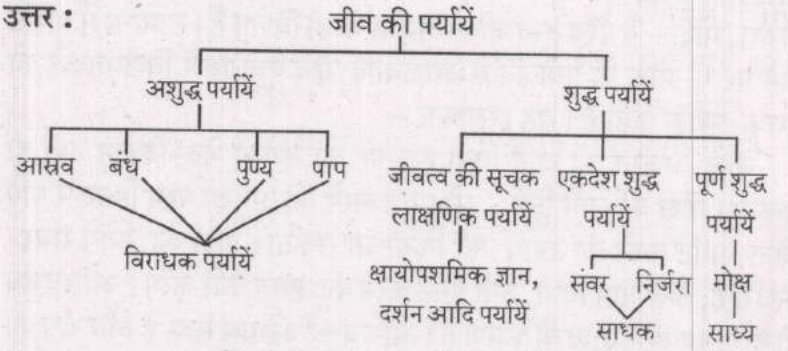

प्रश्न २० : सात तत्त्वों को ज्ञेय, हेय, उपादेयरूप में स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सातों तत्त्वों की यथार्थ जानकारी के बिना हेय, उपादेय करना शक्य नहीं होने से ज्ञेय तो सातों ही तत्त्व हैं। उनमें से जीवतत्त्व के आश्रय से संपूर्ण दु:खों का अंत होकर परिपूर्ण सुखमयदशा प्रगट होती है; अत: यह ज्ञेय के साथ-साथ एकमात्र आश्रय-योग्य परम उपादेय भी है। अजीवतत्त्व स्वयं जीव के लिए सुख-दु:खमय या सुख-दु:ख का कारण नहीं होने से, वह न स्वयं हेय

है और न उपादेय; मात्र ज्ञेय ही है। आस्रव, बंध, पुण्य, पाप स्वयं पूर्णतया दुःखमय या दुःख के कारण होने से सर्वथा हेय ही हैं। संवर और निर्जरा तत्त्व सुखमय और सुख के कारण होने से प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय हैं। मोक्षतत्त्व पूर्ण सुखमय होने से, प्रगट करने की अपेक्षा पूर्ण उपादेय है। – इस-प्रकार अजीवतत्त्व मात्र ज्ञेय; आस्रव-बंध हेय; संवर, निर्जरा, मोक्ष कथंचित् उपादेय तथा जीव पूर्णतया/सर्वथा उपादेय है।

प्रश्न २१ : सात तत्त्वों में से प्रत्येक का काल बताइए।

उत्तर : जीव व अजीव तत्त्व अनादि-अनंत हैं। आस्रव व बंध तत्त्व भव्य की अपेक्षा अनादि-सांत हैं, अभव्य एवं दूरानुदूर-भव्य की अपेक्षा अनादि-अनंत हैं। संवर व निर्जरा तत्त्व सादि-सांत हैं। मोक्षतत्त्व सादि-अनंत है।

एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा आस्रवादि पाँच तत्त्व सादि-सांत हैं। (प्रस्तुत काल-विभाजन एक जीव की अपेक्षा है। अनेक जीवों की अपेक्षा सभी अनादि-अनंत हैं।)

प्रश्न २२: तत्त्वों का सामान्य-विशेषरूप से विभाजन करते हुए विशेष तत्त्वों को पृथक् कहने का कारण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सामान्यरूप से जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं; आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – ये पाँच तत्त्व जीव-अजीव के ही विशेष हैं। सामान्य में गर्भित होने पर भी मोक्ष के प्रयोजन से आस्रवादि पाँच पर्यायरूप विशेषतत्त्वों को पृथक्-पृथक् कहा है। वह इसप्रकार –

जीव-अजीव को जाने बिना स्व-पर का यथार्थ भेद-विज्ञान नहीं हो सकता। मोक्ष को जाने बिना, उसे प्रगट करने की अपेक्षा परम हितरूप माने बिना, प्रगट करने का उपाय नहीं किया जा सकता। मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है; उन्हें जाने बिना, उन्हें प्रगट करने का उपाय कैसे करेंगे? आस्रवबंध ही दुःखमय और दुःख के कारण हैं। आस्रव का अभाव संवर है और बंध का एकदेश अभाव निर्जरा है; आस्रव-बंध को जाने बिना उनके अभावरूप तथा मोक्ष के कारणभूत संवर-निर्जरा को प्रगट करने का पुरुषार्थ शक्य नहीं है।

इसप्रकार उपर्युक्त सात तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना मोक्ष, मोक्ष-मार्ग, निराकुलदशा, अतीन्द्रिय आनंदमयदशा प्रगट कर पाना सम्भव नहीं है; अतः जीव-अजीव में गर्भित होने पर भी जीव-अजीव के ही विशेष आस्र-वादि को उनसे पृथक् कर कुल सात तत्त्वों की चर्चा जिनागम में की गई है।

प्रश्न २३ : जिनागम में वर्णित सात तत्त्वों सम्बन्धी विविध विवक्षाओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मुख्यतया जिनागम में सात तत्त्वों सम्बन्धी चार विवक्षाएं उपलब्ध होती हैं। चारों विवक्षाओं में वीतरागता के कारणभूत एकमात्र भेदविज्ञान की ही मुख्यता है। वह इसप्रकार है –

१. प्रथम विवक्षा में जीवों को सम्पूर्ण अजीवों से भिन्न किया जाता है। इसमें सात तत्त्वों की परिभाषाएं निम्नलिखित रूप में की जाती हैं –

१. **जीवतत्त्व** – जो जानता-देखता है, उसे जीव कहते हैं। इसमें समस्त जीवराशि गर्भित हो जाती है।

२. **अजीवतत्त्व** – जो जानता-देखता नहीं है, उसे अजीव कहते हैं। इसमें पुद्गल आदि पाँच द्रव्य गर्भित हैं।

३. **आस्रवतत्त्व** – रागादि विकारीभावों का उत्पन्न होना तथा उनका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का आना आस्रव है। इसमें जीव की सम्पूर्ण शुभाशुभमय विकारी पर्यायें तथा उनका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमित होनेवाली कार्मण वर्गणाएं आ जाती हैं।

४. **बंधतत्त्व** – रागादि विकारीभावों में अटकना, फसना, उलझना तथा उनका निमित्त पाकर कर्मों का और आत्मप्रदेशों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होकर कर्मों में प्रकृति आदि रूप भेद होना, बंध है। इसमें जीव की सम्पूर्ण विकारी पर्यायें तथा उनका निमित्त पाकर बँधनेवाले सभी कर्म समाहित हैं।

५. **संवरतत्त्व** – स्वोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होने से रागादि विकारीभावों का उत्पन्न होना रुक जाना, शुद्ध सम्यक् रत्नत्रयमय दशा प्रगट होना तथा उसका निमित्त पाकर कर्मों का आना रुक जाना, संवर है। इसमें भूमिकानुसार अशुद्धि का नाश; शुद्धि की प्रगटतारूप गुप्ति, समिति आदि मय वीतरागीभाव और कर्मों की बंधव्युच्छित्ति गर्भित है।

६. **निर्जरातत्त्व** – आत्मस्वरूप में विशेष-स्थिरता के बल पर रागादि विकारों का उत्तरोत्तर नष्ट होते जाना, शुद्धि की वृद्धि होना तथा इसका निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्म क्रमशः झड़ते जाना, खिरते जाना, निर्जरा है। इसमें अशुद्धि की उत्तरोत्तर हीनता, शुद्धि की विशेष वृद्धिरूप वीतरागी दशाएं तथा कर्मों का एकदेश खिरना गर्भित है।

७. **मोक्षतत्त्व** – पूर्ण स्वरूप-स्थिरता के बल पर अशुद्धि का पूर्णतया नाश, परिपूर्ण शुद्धि की पूर्ण प्रगटता तथा उसका निमित्त पाकर कर्मों का बंधन भी सदा के लिए संपूर्णतया नष्ट हो जाना, मोक्ष है। इसमें भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष दोनों गर्भित हैं।

सात तत्त्वों की इस पहली विवक्षा में जीव को समस्त अजीवों से पृथक् जाननेरूप भेदविज्ञान की मुख्यता है।

२. सात तत्त्वों की दूसरी विवक्षा में आस्रव आदि पाँच तत्त्वों का स्वरूप तो पूर्ववत ही है। मात्र जीव और अजीव का स्वरूप पृथक् है। वह इसप्रकार है–

१. **जीवतत्त्व** – जिसमें मेरा जानना-देखना पाया जाता है, वह मैं जीव-तत्त्व हूँ।

२. **अजीवतत्त्व** – मुझ जीव से अतिरिक्त शेष जीव तथा पुद्गलादि अजीव तत्त्व हैं।

इस विवक्षा में अपने से पृथक् अन्य जीवों को भी अजीव मानकर उनसे पृथक्तारूप भेदविज्ञान कराया गया है।

३. सात तत्त्वों सम्बन्धी तीसरी विवक्षा में समस्त जीवादि परपदार्थों से सर्वथा भिन्न मात्र एक अपने जीवद्रव्य को ही मुख्यकर उसमें ही पर्यायों के माध्यम से भेदकर सात तत्त्व स्थापित किए जाते हैं। वे इसप्रकार हैं –

१. **जीवतत्त्व** – जानने-देखने आदि रूप लाक्षणिक पर्यायें अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन, वीर्यरूप परिणमन या व्यवहारजीव, जीवतत्त्व है।

२. **अजीवतत्त्व** – अजीव को जाननेवाला ज्ञान-दर्शन, अजीवतत्त्व है।

३. **आस्रवतत्त्व** – मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है।

४. **बंधतत्त्व** – मोहादि विकारीभावों में उलझना, अटकना, बंधतत्त्व है।

५. **संवरतत्त्व** – आत्मा के आश्रय से शुद्धि का उत्पन्न होना; अशुद्धि का रुक जाना, उत्पन्न न होना, संवरतत्त्व है।

६. **निर्जरातत्त्व** – आत्मा के विशेष आश्रय से प्रगट शुद्धि में वृद्धि होते रहना तथा अशुद्धि की क्रमशः हानि होते रहना, निर्जरातत्त्व है।

७. **मोक्षतत्त्व** – आत्मा के परिपूर्ण आश्रय से शुद्धि की परिपूर्ण प्रगटता तथा अशुद्धि का परिपूर्ण नाश, मोक्षतत्त्व है।

इन सातों तत्त्वों में व्याप्त, सामान्य, अभेद, नित्य, एक ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा को देख लेना, भूतार्थ दृष्टि से तत्त्व का ज्ञान है; इस एक का अपनत्व-रूप से श्रद्धान-ज्ञान, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है तथा इसमें ही लीनता सम्यक्-चारित्र है। इस विवक्षा में सातों तत्त्वों को जानकर, उन रूप परिणमित होता हुआ प्रतिभासित होने पर भी उनरूप परिणमित नहीं होनेवाले अपरिणामी ध्रुव ज्ञायक आत्मा को अपनत्वरूप से जानना ही तत्त्व का ज्ञान है। संपूर्ण परपदार्थों और पर्यायों से पृथक् इस एक का ज्ञान कराना ही इस भेदविज्ञान का मूल प्रयोजन है। यह ध्रुव तत्त्व ही एकमात्र श्रद्धा का श्रद्धेय, ध्यान का ध्येय, ज्ञान का परमज्ञेय आदि सभी कुछ है।

इसप्रकार इस विवक्षा में सातों ही तत्त्व क्षणिक पर्यायरूप होने से हेय हैं; एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व ही ध्रुव होने से उपादेय है, आश्रय करने-योग्य है।

४. सात तत्त्वों सम्बन्धी चौथी विवक्षा में सात तत्त्वों का स्वरूप तो तीसरी विवक्षावाला ही रहता है। मात्र इन्हें संक्षिप्त कर दिया जाता है। इसमें जीव आदि सात तत्त्वों को एक अजीवतत्त्व या बहिस्तत्त्व कहकर हेय कहा जाता है और उन सबमें व्याप्त एक त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व को ही जीवतत्त्व या अंत-स्तत्त्व कहकर, उसे उपादेय कहा जाता है। इस जीवतत्त्व के आश्रय से ही/ इसे अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर होने से समस्त दुःखों का अभाव होकर संपूर्ण अतीन्द्रिय आनंदमय जीवन हो जाता है।

इसप्रकार क्रमिक भेदविज्ञान की अपेक्षा 'स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर' की शैली में मुख्यतया चार विवक्षाओं से सातत्तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

○○○

संसार में ही भ्रमण होगा...

जो विचारशक्तिसहित हो और जिसके रागादिक मन्द हों – वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवायें या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहारधर्म कार्यों में प्रवर्ते; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

पाठ ४

षट् आवश्यक

प्रश्न १ : आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नामसहित भेद लिखिए।

उत्तर : जिन भावों या क्रियाओं से हम दूसरों के अधीन नहीं होते हुए स्वतंत्र, स्वाधीन रहकर सुखमय आनन्दित जीवन जीते हैं, उन भावों या क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं।

आवश्यक शब्द मूलतया अ,वश – इन दो शब्दों से बना है। अ=नहीं, वश=अधीन अर्थात् दूसरों के अधीन नहीं होना अवश है। अवश संबंधी भाव अवश्य हैं तथा अवश्य संबंधी परिणमन या क्रियाएँ आवश्यक कहलाती हैं।

वास्तव में तो एकमात्र स्वरूप-लीनतारूप दशा ही आवश्यक है अर्थात् अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनता/स्थिरता स्वतंत्रता, स्वाधीनता, सुखमयदशा को प्रगट करने का एकमात्र उपाय होने से वास्तविक आवश्यक है। इसे ही निश्चय आवश्यक कहते हैं।

साधकदशा में अस्थिरतावश किसी भी जीव को एकसाथ परिपूर्ण स्वरूप-लीनता नहीं हो पाने के कारण भूमिकानुसार शेष रही कषायों की मंदावस्था में होनेवाले शुभभाव भी तीव्र आकुलतारूप पराधीनता से बचानेवाले होने के कारण, उपचार से आवश्यक कहलाते हैं। इन्हें ही व्यवहार आवश्यक कहते हैं। आवश्यक के भेद बताते हुए 'मुनि पद्मनन्दी अपने 'पद्मनन्दी पंचविंशतिका' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थाणां, षट्कर्माणि दिने दिने॥

देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान – ये छह कर्म गृहस्थ को प्रतिदिन करने-योग्य हैं।''

प्रश्न २ : देव पूजा नामक आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेद-प्रभेद स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : **''अप्पा सो परमप्पा – आत्मा ही परमात्मा है''** – आगम के इस

वाक्यानुसार ज्ञानी श्रावक की स्वरूप-लीनता के बल पर उत्पन्न हुई भूमिकानुसार यथायोग्य आंशिक शुद्धि वास्तविक देवपूजा नामक आवश्यक है। जब यही ज्ञानी जीव पुरुषार्थ की कमजोरी-वश अपने स्वरूप में लीन नहीं रह पाता है, तब वास्तविक देव के/भगवान के स्वरूप को समझकर उनके गुणों का स्तवन आदि करता है, वह भी देवपूजा कहलाती है।

देवपूजा के दो भेद हैं – भावदेवपूजा और द्रव्यदेवपूजा। भावदेवपूजा के भी दो भेद हैं – निश्चय भावदेवपूजा और व्यवहार भावदेवपूजा।

निश्चय भावदेवपूजा : ज्ञानी श्रावक की भूमिकानुसार यथायोग्य प्रगट आंशिक शुद्धि निश्चय भावदेवपूजा है।

व्यवहार भावदेवपूजा : सच्चे देव का स्वरूप समझकर, उनके गुणों का स्तवन आदि व्यवहार भावदेवपूजा है।

द्रव्यदेवपूजा : वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों का स्तवन करते हुए ज्ञानी श्रावक द्वारा विधिपूर्वक द्रव्य आदि से की जानेवाली पूजा द्रव्य-देवपूजा है।

प्रश्न ३ : भेद सहित गुरु-उपासना नामक आवश्यक स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : गुरु की उपासना करना, उनकी आज्ञा में रहना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना, उनकी वैयावृत्त्य आदि करना, गुरु-उपासना है। इसके दो भेद हैं – निश्चय गुरु-उपासना, व्यवहार गुरु-उपासना।

१. निश्चय गुरु-उपासना – 'इष्टोपदेश' में 'आचार्य पूज्यपादस्वामी' लिखते हैं कि –

"स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत: ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन: ॥

स्वयं में सत् का अभिलाषी होने से, अभीष्ट को बतानेवाला होने से तथा स्वयं को हित में प्रयुक्त करने/लगानेवाला होने से आत्मा ही आत्मा का गुरु है।"

इस ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मतत्त्व को जानकर, पहिचानकर, भूमिकानुसार उसमें ही लीनता के बल पर प्रगट हुई आंशिक शुद्धि वास्तविक गुरु की उपासना होने से निश्चय गुरु-उपासना है।

२. व्यवहार गुरु-उपासना : वीतरागता के आराधक, आरम्भ-परिग्रह से पूर्णतया विमुक्त, अट्ठाईस मूलगुण-सम्पन्न आदि रूप में जिनागमानुसार दिगम्बर गुरुओं का स्वरूप समझकर, उन गुरुओं की सेवा-सुश्रूषा करना,

वैयावृत्ति करना, विनय-भक्ति करना इत्यादि तदनुकूल प्रवर्तन उपचार से गुरु की उपासना होने से व्यवहार गुरु-उपासना है।

प्रश्न ४ : भेदसहित स्वाध्याय नामक आवश्यक को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिससे ज्ञान का लाभ होता है, उसे स्वाध्याय नामक आवश्यक कहते हैं। इसके दो भेद हैं – निश्चय स्वाध्याय और व्यवहार स्वाध्याय।

१. निश्चय स्वाध्याय आवश्यक : स्वाध्याय शब्द तीन पदों से मिलकर बना है – स्व+अधि+आय। स्व=अपना, अधि=ज्ञान, आय=लाभ अर्थात् जिस क्रिया से आत्मज्ञान का लाभ होता है, उसे स्वाध्याय कहते हैं। अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें लीनतारूप शुद्धि से ही आत्मज्ञान का लाभ होता है; अत: भूमिकानुसार यह प्रगट शुद्धि ही वास्तविक या निश्चय स्वाध्याय है।

२. व्यवहार स्वाध्याय आवश्यक : आत्मा का ज्ञान कराने में कारणभूत वीतरागता की पोषक जिनवाणी को विनयभक्ति पूर्वक पढ़ना, उसमें प्रतिपादित विषयों का आत्महित की भावनापूर्वक गहराई से अध्ययन, मनन, चिंतन करना इत्यादि क्रियाएं व्यवहार स्वाध्याय आवश्यक कहलाती हैं।

प्रश्न ५ : भेदसहित संयम नामक आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यक् रूप से, अच्छी तरह से सीमित होने, संकुचित होने, सिकुड़ जाने, समा जाने को संयम कहते हैं। इसके अनुरूप होनेवाली क्रियाएं संयम नामक आवश्यक हैं। इसके दो भेद हैं – निश्चय संयम और व्यवहार संयम।

१. निश्चय संयम आवश्यक – अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, भूमिकानुसार उसमें स्थिरतारूप प्रगट आंशिक शुद्धि निश्चय संयम आवश्यक है। वास्तव में इस संयम से ही हम संयमित होते हैं, परपदार्थों से हटकर स्वरूपलीन होते हैं।

२. व्यवहार संयम आवश्यक – उपर्युक्त संयम में निमित्त बननेवाले या सहचारी भाव व्यवहार संयम हैं। यथायोग्य भूमिकानुसार पाँच स्थावर और त्रस जीवों की रक्षा का भाव तथा पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों से विरक्ति का भाव, हिंसादि पापों से विरक्ति का भाव, तदनुसार क्रिया व्यवहार संयम है।

प्रश्न ६ : भेदसहित तप नामक आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : इच्छाओं का निरोध होना तप है। जिन भावों या क्रियाओं से इच्छाओं का निरोध होता है, वे उत्पन्न ही नहीं होती हैं, उन्हें तप नामक आवश्यक कहते

हैं। इसके दो भेद हैं – निश्चय तप, व्यवहार तप।

१. निश्चय तप आवश्यक : अपने अनंत वैभवसम्पन्न भगवान आत्म-तत्त्व को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें स्थिरता से ही वास्तव में शुभाशुभरूप सम्पूर्ण इच्छाओं का निरोध होने के कारण इसमें यथायोग्य भूमिकानुसार स्थिरतारूप आंशिक शुद्धि ही निश्चय तप आवश्यक है।

२. व्यवहार तप आवश्यक – अशुभ इच्छाओं के निरोध-हेतु शुभभाव रूप मंदकषायमय अनशनादि तपों में प्रवृत्त होना व्यवहार तप आवश्यक है।

प्रश्न ७ : भेदसहित दान नामक आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व और पर के अनुग्रह (उपकार)-हेतु देने को दान कहते हैं। इसके दो भेद हैं – निश्चय दान, व्यवहार दान।

१. निश्चय दान आवश्यक – वास्तव में अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर उसमें ही अपने उपयोग को देने, लगाने, स्थिर करने से स्व-पर दोनों का ही उपकार होने के कारण, भूमिकानुसार यथायोग्य स्वरूप-स्थिरतारूप प्रगट शुद्धि ही वास्तविक या निश्चय दान आवश्यक है। यह दान स्वयं के अतीन्द्रिय आनंद का कारण होने से स्वयं का तो उपकारक है ही, साथ में पर के प्रति पूर्ण उपेक्षाभाव प्रगट हो जाने के कारण, उनमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप करने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होने के कारण, परपदार्थों को भी उनकी स्वतंत्रता का परिपूर्ण दान देने से उनका भी उपकार करता है; अतः स्वरूप-स्थिरता या प्रगट-शुद्धिरूप यथायोग्य वीतरागता निश्चय दान आवश्यक है।

२. व्यवहार दान आवश्यक – भूमिकानुसार यथायोग्य प्रगट शुद्धि के अनुसार लोभादि कषायें मंद हो जाने के कारण स्व-पर का उपकार करने के लिए, व्यवहार से अपने कहे जानेवाले धन आदि पदार्थों को देना, व्यवहारदान है। इसके चार भेद हैं – आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदान।

आहारदान – विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता सहित देश-काल के अनुसार शुद्ध सात्त्विक भोज्य-सामग्री पात्र को देना, आहारदान है।

औषधिदान – आकुलता नष्ट करने के लिए, स्वरूप-स्थिरता करने के लिए, रोग-निवारणार्थ शुद्ध सात्त्विक औषधि देना, औषधिदान है।

अभयदान – अपनी ओर से प्राणीमात्र को कष्ट नहीं होने देना, उन्हें निर्भय कर देना, सभी को निरंतर संरक्षण देने का भाव रखना, संरक्षण देना,

भय से मुक्त करना, अभयदान है।

ज्ञानदान – सुख के एक मात्र साधन आत्मज्ञान, सम्यक्रत्नत्रय की प्रगटता में निमित्तभूत उपदेश आदि देना या तत्संबंधी वीतरागता के पोषक शास्त्रादि देना, ज्ञानदान है।

इन चारों दानों में अपनी लोभवृत्ति, तीव्रकषायवृत्ति, पापवृत्ति नष्ट या मंद हो जाने के कारण, अपना उपकार भी होता है तथा जिन्हें इन पदार्थों की आवश्यकता है, उन्हें ये पदार्थ मिल जाने से उनकी भी तत्संबंधी आकुलता नष्ट हो जाने से उनके उपकार की भी प्रधानता है; तथापि पराधीनवृत्ति होने से, बंध के कारण होने से ये व्यवहार दान हैं; निश्चय दान नहीं हैं।

प्रश्न ८ : आवश्यक के भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

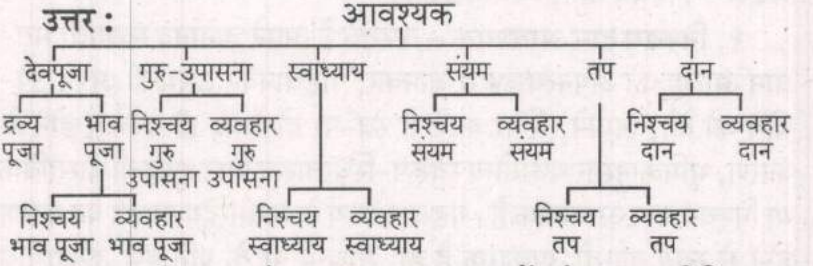

प्रश्न ९ : निश्चय और व्यवहार आवश्यक में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : निश्चय और व्यवहार आवश्यक में निम्नलिखित अंतर है –

निश्चय आवश्यक	व्यवहार आवश्यक
१. यह शुद्ध भावमय है।	यह शुभ भावमय है।
२. यह पूर्णतया स्वाधीन क्रिया है।	यह पराधीन क्रिया है।
३. यह मोहनीय आदि कर्मों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय में होता है।	यह कर्मों के उदय में होनेवाली दशा है।
४. यह संवर-निर्जरा तत्त्व है।	यह पुण्यास्रव और पुण्यबंध तत्त्व है।
५. यह ज्ञानी, धर्मात्मा, अन्तरात्मा साधक जीवों के ही होता है।	ये कभी-कभी अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा जीवों के भी देखे जाते हैं।
६. यह स्वयं आंशिक निराकुलतामय, आनंदमय-आनंद का कारण है।	ये आकुलतामय तथा आकुलता के कारण हैं।
७. यह प्रगट करने की अपेक्षा किंचित् उपादेय है।	ये यथायोग्य भूमिकानुसार होने पर भी आकुलतामय होने से हेय हैं।

८. यह निष्कषाय-भावस्वरूप है।	ये मंदकषायरूप हैं।
९. यह वास्तव में एकरूप ही होता है।	इसके अनेकों रूप व्यक्त होते हैं।
१०. यह चारों गतिओं में, सभी देश-कालों में गुणस्थानानुसार समान है।	इनमें गतिओं की अपेक्षा, देश-काल की अपेक्षा विविधता पाई जाती है।
११. यह जीव को वास्तव में पूर्णतया स्वतंत्र, स्वाधीन, बनानेवाला होने से वास्तविक धर्म है।	ये पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन बनाने में समर्थ नहीं होने से; इनके माध्यम से पर-लक्ष्यी भाव ही होने के कारण इन्हें उपचार से धर्म कहा जाता है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहार आवश्यक परस्पर विरुद्धस्वभावी हैं। वास्तव में ये दो भेद आवश्यक के नहीं हैं; आवश्यक का निरूपण करने के हैं। यथार्थ आवश्यक को आवश्यक कहना या जानना, निश्चय आवश्यक है तथा जो यथार्थ आवश्यक तो नहीं है; परन्तु यथार्थ का निमित्त या सहचारी है, उसे उपचार से आवश्यक कहना या जानना व्यवहार आवश्यक है।

प्रश्न १० : यदि आप देव-पूजनादि व्यवहार आवश्यक को बंधमार्ग कहेंगे तो इसे सुनकर अज्ञानी जीव देव-पूजनादि छोड़ देंगे, जिससे उनकी दुर्गति होगी; तब क्या उनकी दुर्गति में यह उपदेश निमित्त हुआ नहीं कहा जाएगा?

उत्तर : वास्तव में उपदेश तो सदैव ऊपर चढ़ने के लिए ही दिया जाता है, नीचे गिरने के लिए नहीं। देवपूजनादि के भावों को बंधमार्ग बताकर उन्हें हेय कहने के पीछे अभिप्राय यह है कि उनसे भी निरंतर भेदज्ञान करते हुए स्वरूप-लीनता के लिए सतत प्रयत्नशील रहना। यदि कोई निर्विचारी उन शुभभावों को छोड़कर अशुभ भावों में प्रवर्तन करेगा, तो यह उसकी अज्ञानता ही होगी। इसमें उपदेशदाता का तो कोई दोष नहीं है।

उपदेशदाता तो मात्र इतनी ही सावधानी रख सकता है कि वह समय-समय पर यह बताता रहे कि अशुभ की अपेक्षा शुभ का निषेध नहीं किया गया है। अशुभ भावों में तो मोक्षमार्ग का उपचार भी घटित नहीं होता है; मोक्षमार्ग प्रगट करने की पात्रता भी प्रगट नहीं होती है। इससे विरुद्ध शुभ भाव में मोक्ष-मार्ग का उपचार घटित होता है तथा वास्तविक मोक्षमार्ग प्रगट करने की पात्रता भी प्रगट हो जाती है। इसप्रकार शुभ भाव को हेय कहने के संदर्भ में यथार्थ अभिप्राय समझने के अतिरिक्त वास्तविक मोक्षमार्ग प्रगट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। ○○○

पाठ ५

कर्म

प्रश्न १ : आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : **"जह चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविग्घेण।**
तह मइ चक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्मं॥

जिसप्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न द्वारा निर्विघ्नरूप से आर्य, म्लेच्छ आदि छह खण्डों को साध लेता है, उन पर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लेता है; उसीप्रकार मैंने अपने बुद्धिरूपी चक्र द्वारा षट्खण्डरूप आगम को अच्छी तरह साधा है, उनके विषय को हृदयंगम किया है, आत्मसात् किया है।"

उपर्युक्त कथन स्वयं श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ३९७वीं में किया है। इससे ही उनकी अगाध विद्वत्ता, महानता का परिचय मिल जाता है।

जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, वेयणाखंड, वग्गणाखंड और महाबंध – इन छह खण्डों में विभक्त षट्खण्डागम ग्रंथ वर्तमानयुगीन जिनवाणी के प्रथम श्रुतस्कंध का सर्वप्रथम लिपिबद्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ सिद्धांतग्रंथ कहलाता है। इस ग्रंथ को चक्रवर्ती के समान पूर्णतया हृदयंगम कर लेने से आप सिद्धांत-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित हुए।

आप राजा चामुण्डराय के समकालीन होने से आपका समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध माना गया है। राजा चामुण्डराय प्रधानतम राजा राचमल्ल (रायमल्ल) के मंत्री तथा सेनापति थे। उनका घरेलू नाम गोम्मट था।

अन्य जैनाचार्यों की प्रचलित परम्परा के समान आपके वर्तमान जीवन के संबंध में इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है।

आप असाधारण विद्वान हैं। आपके द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार इत्यादि उपलब्ध ग्रंथ आपकी अद्वितीय विद्वत्ता और सिद्धांतचक्रवर्ती पदवी को सिद्ध करते हैं। इन ग्रंथों की विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है –

गोम्मटसार जीवकाण्ड : इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण,

संज्ञा, चौदहमार्गणा और उपयोग – इन बीस प्ररूपणाओं के माध्यम से जीव द्वारा किए गए काण्डों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड : इसमें जीव की विविध विकृतिओं क्रा निमित्त पाकर होनेवाली कर्म की बंध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, निधत्ति, निकाचित, उपशमरूप दश दशाओं का वर्णन किया गया है।

लब्धिसार : सम्यग्दर्शन की कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण नामक पाँच लब्धिओं का विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है।

क्षपणासार : इसमें गुणस्थान-क्रमानुसार कर्मों के क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है।

त्रिलोकसार : इस ग्रंथ में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक संबंधी विस्तृत जानकारी निहित है।

इन ग्रंथों में से गोम्मटसार ग्रंथ की रचना चामुण्डराय अपर नाम गोम्मट के आग्रह पर षट्खण्डागम का संक्षिप्तसार लेकर की गई होने से, इसका मूल नाम पंचसंग्रह होने पर भी यह गोम्मटसार नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गया है। इस ग्रंथ पर मुख्यतया आगमशैली में लिखी गईं अध्यात्म की पोषक चार टीकाएं उपलब्ध हैं –

१. अभयचंद्राचार्यकृत मंदप्रबोधिका नामक संस्कृत टीका, २. केशव-वर्णीकृत जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका, ३. नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती से भिन्न तथा इनके उपरान्त हुए नेमिचंद्राचार्यकृत जीवतत्त्व-प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका, ४. आचार्यकल्प पं. टोडरमलजीकृत सम्य-ग्ज्ञानचंद्रिका नामक भाषा टीका।

संसारी जीव के भावों का और कर्मों का परस्पर में घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने के कारण, इस संबंध को जाने बिना विश्व-व्यवस्था का तथा वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान होना अशक्य है। इस ज्ञान के अभाव में जीवन सुखी नहीं हो सकता है; अत: इनकी विशद जानकारी के लिए इन ग्रंथों का गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन करना चाहिए।

प्रश्न २ : आत्मा दुखी क्यों है ? सुख क्या है ? और उसे प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

उत्तर : वास्तव में आत्मा अपने अपराध के कारण दुखी है; कर्म आदि किन्हीं अन्य पदार्थों के कारण नहीं। अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को भूलकर, परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की मान्यता करके मोह, राग, द्वेष आदि विकाररूप परिणमन ही वह अपराध है; जिसके कारण आत्मा अनादि से सतत दुःख भोगता आ रहा है। कर्म तो इसमें मात्र निमित्त होने के कारण, उन्हें उपचार से दुःख का कारण कहा जाता है; परन्तु वास्तव में वे जड़ होने से, चेतनता तथा वेदन करने की क्षमता से रहित होने के कारण, सुख-दुःख के कारण नहीं हो सकते हैं।

आत्मा का हित एकमात्र निराकुल सुखमयदशा की प्रगटता में है। इस दशा को प्रगट करने का एकमात्र उपाय अपने आत्मा का आश्रय लेना ही है/ अपने ज्ञानानंद स्वभावी त्रिकाली भगवान आत्मा को अपनत्व रूप से जान-कर, पहिचानकर, उसमें लीनता ही निराकुल सुख को प्रगट करने का एकमात्र उपाय है। इन्हें ही शास्त्रीय शब्दों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा जाता है। इन तीनों की एकता ही निराकुल सुख-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न ३ : निमित्तकारण किसे कहते हैं ? तथा निमित्त का उपादानगत कार्य में क्या योगदान है ?

उत्तर : जब कोई पदार्थ विवक्षित कार्यरूप परिणमित होता है, तब उस कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आता है, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घड़े बननेरूप कार्य में कुम्भकार की हस्तादि क्रियाएं।

वास्तव में प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वतः अपनी उपादानगत योग्यता से कार्यरूप परिणमित होने के कारण अन्य द्रव्यों का उसमें रंचमात्र भी हस्त-क्षेप नहीं है; तथापि इस असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में परिणमनशील अनंत द्रव्यों का निवास होने से सहज-स्वाभाविक रूप में किसी न किसी के ऊपर अनुकूलता का आरोप आ ही जाता है; इसे ही कार्य की उत्पत्ति में निमित्तकारण कहते हैं।

जिस पर अनुकूलता का आरोप आया है, वह तो उस समय वास्तव में अपना ही कार्य कर रहा था; अन्य में कार्य करने का तो उसे अवकाश ही नहीं था; तथापि दोनों कार्यों का एक ही समय होने से काल-प्रत्यासत्ति-रूप सहचर संबंध हो जाने के कारण उसे निमित्तकारण कह दिया जाता है।

इसप्रकार विवक्षित कार्यों की उत्पत्ति के समय निमित्त होता अवश्य है;

परन्तु वह उपादानगत कार्य में कुछ भी योगदान, मदद, सहयोग आदि नहीं करता है। उसकी पूर्णतया निरपेक्ष उपस्थिति मात्र ही उसे निमित्त नाम से सम्बोधित करा देती है।

प्रश्न ४ : कर्म किसे कहते हैं ? और उसके मुख्यतया कितने भेद हैं ?

उत्तर : विशिष्ट परिणमन या विशिष्ट कार्य को कर्म कहते हैं। उसके मुख्यतया दो भेद हैं – भावकर्म और द्रव्यकर्म।

प्रश्न ५ : भावकर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : पूर्वबद्ध मोहनीय आदि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेषरूप विकारीभावों को भावकर्म कहते हैं। ये भाव ही कार्मण वर्गणा को द्रव्यकर्मरूप से परिणमित होने में निमित्तकारण हैं। ये भावकर्म स्वयं अपने अपराधीभाव होने से दुःखमय, दुःख के कारण तथा आकुलतारूप हैं; अतः आत्मा के आश्रय से इन्हें नष्ट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। शुभाशुभ भाव, मंदकषाय, तीव्रकषाय, पुण्य-पाप परिणाम आदि सभी प्रकार के विभावभाव इसमें गर्भित हो जाते हैं।

प्रश्न ६ : द्रव्यकर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आत्मा के मोह, राग, द्वेषरूपी भावकर्मों का निमित्त पाकर कार्मण-वर्गणा का कर्मरूप से परिणमित होकर, आत्मा के साथ संबंध हो जाना द्रव्यकर्म कहलाता है। यह पूर्णतया पुद्गल का परिणमन है। इसके घाति, अघाति, पुण्य, पाप इत्यादि अनेकों भेद होते हैं; तथापि ये स्वयं में न तो दुःखमय हैं और न दुःख के कारण। जीव की दुःखावस्था में निमित्त होने के कारण उपचार से दुःखमय तथा दुःख के कारण कहे जाते हैं।

अपने से पृथक् द्रव्य का परिणमन होने से वास्तव में इन्हें नष्ट करने के लिए पृथक् से कोई पुरुषार्थ भी नहीं करना पड़ता है। जब जीव अपने आत्मा का आश्रय लेता है, तो वे स्वयं कर्मरूप नहीं रहकर अकर्मरूप हो जाते हैं; सामान्य वर्गणाओं रूप हो जाते हैं। इसे ही इन कर्मों का नष्ट होना कहा जाता है।

प्रश्न ७ : द्रव्यकर्म के भेद-प्रभेद बताइए।

उत्तर : मूलतया द्रव्यकर्म के घाति और अघाति – ये दो भेद हैं। घातिकर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय – ये चार भेद तथा अघाति-कर्म के वेदनीय, आयुष्क, नाम और गोत्र – ये चार भेद हैं। इसे चार्ट द्वारा इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं –

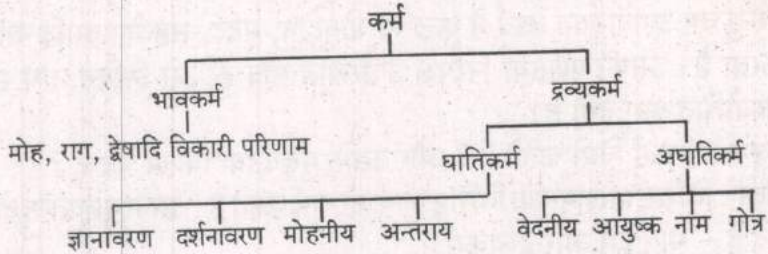

प्रश्न ८ : घातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब जीव स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने अनुजीवि गुणों का विकास नहीं करता है, तब उन गुणों का विकास नहीं होने में अर्थात् उनके घात में निमित्त होनेवाले कर्म को घातिकर्म कहते हैं। वास्तव में इन गुणों का शुद्ध परिणमन व्यक्त नहीं होना ही, इनका घात है। इसमें भी कर्म बलात् इनका घात नहीं करते हैं; अपितु जब जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय नहीं लेता है, तब इन गुणों का शुद्ध परिणमन व्यक्त नहीं होता है; उस समय उसमें द्रव्यकर्म का उदय आदि भी निमित्त होता है।

प्रश्न ९ : अघातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिजीवि गुणों के घात में निमित्त होने पर भी जो कर्म अनुजीवि गुणों के घात में निमित्त नहीं होते हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं।

प्रश्न १० : अनुजीवि गुण और प्रतिजीवि गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : भावस्वरूपी गुणों को अनुजीवि गुण कहते हैं अर्थात् जिन गुणों का अत्यधिक विकृत परिणमन होने पर भी किसी न किसी रूप में सतत आंशिक शुद्ध परिणमन निरंतर व्यक्त रहता है, स्वभाव का अंश सतत प्रगट रहता है, जीवत्व के पहिचान की कारणभूत दशाएं निरंतर चलती रहती हैं, उन गुणों को अनुजीवि गुण कहते हैं; जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि।

अभावस्वरूपी गुणों को प्रतिजीवि गुण कहते हैं अर्थात् जिन गुणों के विकृत परिणमन के समय शुद्धता का अंशमात्र भी व्यक्त नहीं होता है, उन गुणों को प्रतिजीवि गुण कहते हैं; जैसे अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व आदि। कर्म की मुख्यता से हम इन्हें इसप्रकार कह सकते हैं कि जिन गुणों के परिणमन में क्षायोपशमिक भाव होता है, वे अनुजीवि गुण हैं तथा जिनके परिणमन में क्षायोपशमिक भाव नहीं होता है, वे प्रतिजीवि गुण हैं।

प्रश्न ११ : ज्ञानावरण कर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है अर्थात् ज्ञानशक्ति को व्यक्त नहीं करता है, तब उस ज्ञानगुण के घात में जो कर्म निमित्त होता है, उसे ज्ञानावरणकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य मूर्ति पर डाले गए वस्त्र के समान ज्ञान को आवृत करना है अर्थात् यह ज्ञान को आच्छादित करने में निमित्त होता है।

जैसे मूर्ति पर वस्त्र डालने से मूर्ति ढ़क जाने के कारण, वह स्पष्टतया दिखाई तो नहीं देती है; परन्तु उसकी सत्ता का सामान्य आभास होता रहता है; उसी-प्रकार इस कर्म का उदय होने पर पदार्थों का ज्ञान रुक जाता है; परन्तु उनकी सत्ता का आभास, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान निरंतर विद्यमान रहता है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद हैं – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। इन भेदों के भी ज्ञेयादि की अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं।

प्रश्न १२ : दर्शनावरण कर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब जीव अपने दर्शनगुण का घात करता है; अर्थात् दर्शनशक्ति को व्यक्त नहीं करता है, तब उस दर्शनगुण के घात में जो कर्म निमित्त होता है, उसे दर्शनावरणकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य द्वार पर खड़े द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल की आज्ञा के बिना अंदर प्रवेश पाना शक्य नहीं है; उसी-प्रकार इस कर्म के उदय में पदार्थों का दिखाई देना, आभासमात्र होना भी शक्य नहीं होता है।

इसके नौ भेद हैं – चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शना-वरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, निद्रा और प्रचला।

प्रश्न १३ : मोहनीय कर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों को अपना मानता है तथा स्वरूपाचरण में असावधान रहता है; तब उनमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसका कार्य मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीने से व्यक्ति बेभान हो जाता है, असावधान हो जाता है, अविवेकी क्रियाओं में मस्त हो जाता है; उसीप्रकार इस मोहनीय कर्म के उदय

में जीव बेभान हो जाता है, अपने स्वरूप में असावधान रहता है, स्व-पर भेदविज्ञान से रहित अविवेकी क्रियाओं में मस्त रहता है।

इसके मुख्यतया दो भेद हैं – दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शन-मोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति – ये तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कर्मप्रकृति; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कर्मप्रकृति – ये पच्चीस भेद हैं। ये सभी मिलकर मोहनीयकर्म के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। मोहादि विकारीभावों की अपेक्षा इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

प्रश्न १४: अन्तरायकर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब यह जीव स्वयं अपनी दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यरूप क्षमता को प्रगट नहीं करता है; तब उसमें जिस कर्म का उदय विघ्न डालनेरूप निमित्त होता है, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य खजानची/भंडारी के समान है। जैसे सामग्री विद्यमान होने पर भी खजानची की आज्ञा के बिना उस सामग्री का भोग-उपभोग आदि सम्भव नहीं है; उसीप्रकार इस कर्म के उदय में भी दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य की क्षमता व्यक्त नहीं होती है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद हैं – दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म।

प्रश्न १५ : वेदनीयकर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब आत्मा स्वयं अपने मोहभाव से आकुलित होता है, तब उस आकुलता में, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग होने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य शहद लपेटी तलवार के समान है। शहद से लिप्त तलवार को जीभ पर रखने से जैसे अत्यंत अल्पकाल के लिए गंदे, मीठे स्वाद का लाभ होता है; परन्तु तत्क्षण ही जीभ कट जाने से अत्यधिक कष्ट भी भोगना पड़ता है; उसीप्रकार इस कर्म के उदय में निरंतर अनुकूल-प्रतिकूल संयोग जन्य आकुलता का वेदन होता रहता है।

इसके मुख्यतया दो भेद हैं – सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म।

प्रश्न १६ : आयुष्ककर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जब जीव अपनी योग्यता से मनुष्य, तिर्यंच आदि शरीरों में रहता है;

तब उसमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे आयुष्क कर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य काठ के खोड़े के समान है। जिसप्रकार काठ के खोड़े (अपराधी को सजा देने के लिए बनाए जानेवाले प्राचीनकालीन लकड़ी के यन्त्र) में फँसा हुआ पैर, वह खोड़ा खोले जाने पर या नष्ट होने पर ही निकल सकता है; उसीप्रकार इस कर्म के उदयरूप निमित्त के समय यह जीव अपनी योग्यता से जिस शरीर में रह रहा है, उस शरीर से निकल पाना, इस कर्म के उदय का अभाव होने पर ही होता है, इसके बिना नहीं।

इसके चार भेद हैं – नरकायुष्क, तिर्यंचायुष्क, मनुष्यायुष्क और देवायुष्क कर्म।

प्रश्न १७ : नामकर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यह जीव अपनी योग्यता से जिस शरीर में रहता है, उस शरीर के निर्माण आदि में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे नामकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार विविध आकार-प्रकारवाले चित्र बनाता है; उसीप्रकार इस कर्म के उदय में भी शरीर के विविध आकार-प्रकार होते हैं।

इसके तेरानवे भेद हैं – चार गति, पाँच जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, पाँच बंधन, पाँच संघात, छह संस्थान, छह संहनन; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण संबंधी बीस; चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर।

प्रश्न १८ : गोत्रकर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जीव के उच्च या नीच आचरण होने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य कुंभकार के समान है। जिसप्रकार कुंभकार छोटे, बड़े, ऊँचे या नीचे बर्तन बनाता है; उसीप्रकार यह कर्म उच्च, नीच आचरण में निमित्त होता है।

इस कर्म के दो भेद हैं – उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्म।

प्रश्न १९ : क्या कर्म आत्मा में जबरन विकार उत्पन्न कराता है ?

उत्तर : वास्तव में कर्म और आत्मा के मध्य अत्यन्ताभाव होने के कारण, उन दोनों का एक दूसरे की सत्ता में प्रविष्ट होना शक्य नहीं है। प्रविष्ट हुए बिना एक

दूसरे में कुछ भी कार्य करना असंभव होने से, कर्म आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जब आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से विकाररूप परिणमित होता है, तब उस समय कर्म का उदय निमित्त होता है; परन्तु वह आत्मारूपी उपादान में कुछ भी नहीं करता है। यदि वह आत्मारूपी उपादान में कुछ करने लगे, तो वह निमित्त नहीं रहकर स्वयं उपादान बन जाएगा; परन्तु वस्तु-व्यवस्था में यह कदापि सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि कर्म आत्मा को विकृत करता होता तो चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त कर्म का उदय सतत विद्यमान होने के कारण, कर्म के बंध का; मोह, राग, द्वेष उत्पन्न होने का अभाव होना शक्य ही नहीं होता; परन्तु जब यह जीव उनके उदय में भी स्वोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक अपने आत्मा का आश्रय लेता है, तो चतुर्थ गुणस्थान से ही कर्म-बंध का अभाव होना प्रारंभ हो जाता है। मोह, राग, द्वेष भी भूमिकानुसार नष्ट होने लगते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में कर्म विकार उत्पन्न नहीं कराते हैं। जब आत्मा स्वयं अपनी अपराधी वृत्ति से विकाररूप परिणमित होता है, तब उसमें कर्म का उदय मात्र निमित्त होता है। जो स्वयं विवक्षित कार्यरूप परिणमित तो नहीं हो; परन्तु उस कार्य के होने में अनुकूलता का आरोप उस पर आता हो, उसे ही निमित्त कहते हैं अर्थात् निमित्त मात्र उपस्थित होता है। कार्य की उत्पत्ति में उसका योगदान रंचमात्र भी नहीं होता है। कर्म भी निमित्त होने के कारण रागादि विकारी भावरूप कार्य होते समय मात्र उपस्थित रहते हैं; परन्तु रागादि होने में उनका योगदान रंचमात्र भी नहीं है। यही कारण है कि रागादि नष्ट करने के लिए कर्मों में कुछ भी परिवर्तन नहीं करना पड़ता है; मात्र अपनी अपराधी वृत्तिओं को समेटकर अपने आत्मा का आश्रय लेना होता है।

इसके अतिरिक्त विशेष बात यह है कि किसी परपदार्थ में बलात् कोई कार्य करने के लिए उसमें ज्ञान तथा इच्छा शक्ति होना अनिवार्य है। इन दोनों के अभाव में वह किसी में कुछ भी कार्य कैसे कर सकता है ? द्रव्यकर्म पुद्गल का परिणमन होने से, उसमें ज्ञान और इच्छा – इन दोनों ही शक्तिओं का अभाव होने से, उसके द्वारा आत्मा में बलात् रागादिभाव उत्पन्न करना सम्भव ही नहीं है।

प्रश्न २० : भावकर्म और द्रव्यकर्म में क्या अंतर है ?

उत्तर : भावकर्म और द्रव्यकर्म में निम्नलिखित अंतर है –

भावकर्म	द्रव्यकर्म
१. यह जीव का वैभाविक भावरूप विकृत परिणमन है।	यह पुद्गल का वैभाविक भावरूप विकृति परिणमन है।
२. यह जीव का औदयिक भाव है।	यह मात्र पुद्गलकर्म की अवस्था है।
३. यह दुःखमय तथा दुःख का कारण है।	यह परद्रव्य होने के कारण ऐसा नहीं है; परन्तु भावकर्म का निमित्त होने के कारण इसे उपचार से दुःखमय तथा दुःख का कारण कहा जाता है।
४. यह स्वयं भावास्रव, भावबंध होने के कारण स्वयं ही आस्रव और बंध तत्त्व है।	यह वास्तव में तो अजीवतत्त्व है। उपचार से द्रव्यास्रव और द्रव्यबंधरूप में आस्रव, बंधतत्त्व कहलाता है।
५. यह नवीन बंध का कारण है। इसका अभाव हुए बिना मुक्ति शक्य नहीं है।	यह नवीन बंध का औपचारिक निमित्त है, वास्तविक नहीं। भावकर्म के साथ में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से भावकर्म नष्ट होते ही इसका नाश नियम से हो जाता है।
६. जीव की विकृत दशा होने से इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ जीव को ही स्वयं करना पड़ता है; परन्तु इसे नष्ट करने का उपाय इसे देखना नहीं है, इसमें कुछ परिवर्तन करना भी नहीं है। एकमात्र अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसमें अपनत्वरूप से लीनता ही है।	यह पुद्गल का परिणमन होने से तथा पुद्गल में पूरण-गलन स्वभाव होने से और सुख-दुःख की क्षमता नहीं होने से इसे नष्ट करने के लिए न तो पुद्गल को ही कुछ पुरुषार्थ करना पड़ता है और न ही जीव को। जीव के भावकर्म नष्ट होने पर यह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।
७. भावकर्म का उपादान जीव की तत्समय की योग्यता है तथा निमित्त पूर्वबद्ध मोहनीय आदि द्रव्यकर्म का उदय।	इसका उपादान पुद्गल की कार्मण-वर्गणा है तथा निमित्त जीव के मोहादि विकारी भाव हैं।
८. भावकर्म एकबार पूर्णतया नष्ट हो जाने के बाद जीव पुनः कभी भी उस रूप परिणमित नहीं होता है।	द्रव्यकर्म एक बार कर्मरूप से नष्ट हो, अकर्मरूप हो जाने के बाद भी, किन्हीं दूसरे विकारीभावों का निमित्त पाकर पुनः द्रव्यकर्मरूप हो जाता है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में बहुत अंतर हैं। ○○○

पाठ ६

रक्षाबंधन

प्रश्न १ : रक्षाबंधन कथा अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : रक्षाबंधन पर्व अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराजों की रक्षा से संबंधित एक घटना के स्मरणरूप में प्रचलित पर्व है। वास्तव में अन्य की रक्षा का भाव भी बन्ध का कारण है; अथवा आत्मा में लीन रहनेवाले मुनिराजों की ही संसार-बंधन से रक्षा होती है; किसी भी रूप में पर की ओर दृष्टिपात करनेवाले नियम से बँधते ही हैं; उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य मुनिराजों द्वारा संकट-निवारण के लिए अपनाया गया उपाय इत्यादि अनेक तथ्यों पर यह कथा प्रकाश डालती है। सामान्यतया कथा इसप्रकार है –

अकम्पनाचार्य नामक दिगम्बर आचार्य के नेतृत्व में विहार करते हुए एक बार सात सौ मुनिराज उज्जैनी नगरी में आए। उस समय वहाँ के राजा श्रीवर्मा के दरबार में जैनधर्म के प्रति विद्वेष रखनेवाले बलि, नमुचि, बृहस्पति और प्रल्हाद नामक चार मंत्री थे।

मुनिसंघ के आगमन तथा नगर के समीप एक पवित्र स्थल पर ठहरने की वार्ता जब राजा ने सुनी तो वह राज्य, परिवार, मंत्रिओं आदि के साथ उनके दर्शन के लिए गया। जैनधर्म के प्रति राजा की आस्था तथा मंत्रिओं की अनास्था आचार्यश्री अकम्पन मुनि को विदित होने के कारण, उन्होंने पहले से ही सम्पूर्ण संघ को मौन रहकर आत्मसाधना करने का आदेश दे दिया।

आचार्य-संघ के दर्शन-हेतु राजा, मंत्री आदि के आने पर समस्त संघ आत्मध्यान में मग्न होने से प्रवचन, चर्चा आदि का कोई प्रसंग नहीं बन पाने के कारण, राजा को मुनिराजों के विरुद्ध भड़काने की दृष्टि से वे चारों मंत्री राजा को लक्ष्यकर परस्पर में कहने लगे कि "**मौनं मूर्खस्य भूषणं** – मौन मूर्ख का आभूषण है," अपनी मूर्खता छिपाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है – यह विचार कर ही सभी साधु मौन बैठे हैं।

इसीप्रकार की अन्यान्य वार्ता करते हुए जब वे सभी वहाँ से लौट रहे थे, तब आहार के बाद संघ की ओर जाते हुए एक श्रुतसागर नामक मुनिराज को

देखकर एक मंत्री बोला कि एक बैल (मूर्ख) यह भी आ रहा है। उनके समीप पहुँचकर ये सभी मंत्री उनसे वाद-विवाद करने लगे। मुनिराज ने अपनी प्रबल युक्तिओं द्वारा शीघ्र ही उनका मान खण्डित कर दिया।

राजा के समक्ष ही मान खण्डित हो जाने के कारण, विद्वेषरूपी आग भड़क उठने पर भी राजा के भय से उस समय वे कुछ प्रतिकार नहीं कर सके; अत: रात्रि में एक साथ आकर बदला लेने के भाव से वे वहाँ से चले गए।

यहाँ मुनि श्रुतसागर ने संघ में आकर यह घटना आचार्यश्री को सुनाई। जिस पर उन्होंने संघ की सुरक्षा-हेतु, उसी स्थान पर जाकर ध्यानस्थ रहने का आदेश दिया।

रात्रि में आकर, मुनिराज को मारने के लिए चारों ने एक साथ तलवार उठाई; परंतु व्यंतरदेव द्वारा तलवार सहित उन्हें वहीं कीलित कर दिया गया। प्रात:काल समाचार ज्ञात होने पर प्रजा सहित राजा ने वहाँ पहुँचकर मुनिराज की स्तुति करके, व्यंतर से उन्हें छुड़वाया तथा उन चारों को ही अत्यधिक अपमानित कर एक साथ अपने देश से बाहर निकाल दिया।

आजीविका के लिए यहाँ-वहाँ भटकते-भटकते वे चारों ही मंत्री हस्तिनागपुर आकर राजा पद्मराय के दरबार में नौकरी करने लगे। किसी प्रसंग में अपने शत्रु सिंहबल को बलि की कुशलता से अपने अधीन कर लेने के कारण, राजा पद्म ने प्रसन्न हो बलि से इच्छित वर माँगने के लिए कहा। उसने भी 'अभी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता पड़ने पर माँग लेंगे' – यह कहकर उसे उन्हीं के पास धरोहररूप में रख दिया।

अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज भी विहार करते हुए वहाँ आ हस्तिनागपुर के बाहर चार माह का वर्षायोग धारणकर विराजमान हो गए। यह देखकर प्रतिशोध की भावना से बलि ने पद्मराय से सात दिन के लिए राज्य माँगकर मुनिसंघ पर घोरतम उपसर्ग करना आरंभ कर दिया। सभी मुनिराज समताभाव पूर्वक सावधिक संन्यास धारण कर कायोत्सर्गमुद्रा में ध्यानस्थ हो गए।

मिथिलानगरी के समीप स्थित विष्णुकुमार मुनिराज के अवधिज्ञानी गुरु के मुख से अचानक दयार्द्र वचन निकले कि हाय! अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराजों पर अभूतपूर्व दारुण उपसर्ग हो रहा है। समीपस्थ क्षुल्लक पुष्पदंत द्वारा विस्तार से पूछे जाने पर उन्होंने बताया कि यह उपसर्ग हस्तिनागपुर में

बलि राजा द्वारा किया जा रहा है तथा इसे दूर करने में विक्रियाऋद्धि-सम्पन्न मुनि विष्णुकुमार समर्थ हैं। क्षुल्लक पुष्पदंत ने तत्काल जाकर सम्पूर्ण परिस्थिति सहित यह वार्ता मुनिश्री विष्णुकुमार को बताई। उन्होंने अपनी विक्रियाऋद्धि की परीक्षा कर धर्मानुरागवश, वात्सल्यभाव से उपसर्ग-निवारण के लिए अपने बड़े भाई पद्मराय के महल में जाकर उपसर्ग-निवारण पर गंभीर चर्चा की। पद्मराय की वचनबद्धता के कारण उपसर्ग-निवारण की असमर्थता समझकर वे बटु (ठिगने/बौने ब्राम्हण) का वेश बनाकर सीधे राजा बलि की यज्ञशाला में पहुँचे; तथा तीन डग (कदम) भूमि माँगने लगे। बलि की स्वीकृति मिलते ही उन्होंने विक्रिया से अपना शरीर बड़ा करके दो डग में ही सम्पूर्ण भूमि नाप ली। यह देख उन्हें अत्यधिक शक्तिसम्पन्न समझकर राजा बलि उनके चरणों में नतमस्तक हो गया। उन्होंने उस बलि को डाँटते हुए आज्ञा देकर, यज्ञ आदि बंद कराके उपसर्ग दूर किया।

इसप्रकार श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के दिन सात सौ मुनिराजों की उपसर्ग से रक्षा हुई। बलि को अपने कुकृत्य के फल में बंधन मिला। इसकी स्मृति के रूप में तब से रक्षाबंधन पर्व मनाया जाने लगा। – इसप्रकार संक्षेप में रक्षाबंधन की कथा समाप्त हुई।

प्रश्न २ : रात्रि में अकेले श्रुतसागर मुनिराज ही वाद-विवाद के स्थान पर ध्यानस्थ क्यों हुए?

उत्तर : श्रुतसागर मुनिराज ने आचार्यश्री के पास जाकर जब मंत्रिओं के साथ हुए वाद-विवाद की चर्चा की; तब आचार्यश्री अत्यंत गंभीर होकर बोले कि तीव्रकषायी, अज्ञानी जीवों के साथ तुम्हें वाद-विवाद करना उचित नहीं था; इससे उनका मान खण्डित हुआ है। वे राजा के मंत्री तथा तीव्रकषायी भी हैं; अत: अवसर पाकर इसका बदला लेने अवश्य आएंगे; जिससे सारा संघ संकट में पड़ेगा।

आचार्यश्री की गंभीर चिंतित मुद्रा देखकर तथा उपर्युक्त वाक्यों को सुनकर श्रुतसागर महाराज को अपने अपराध की प्रतीति हुई। उन्होंने विचार किया कि उन मंत्रिओं को तो मुझ पर क्रोध है; क्योंकि वे मुझसे अपमानित हुए हैं; अत: यदि मैं उन्हें बीच में ही मिल गया, तो वे यहाँ तक आएंगे ही नहीं – इसप्रकार संघ का संकट टल जाएगा। इस दृष्टि से संपूर्ण संघ की सुरक्षा के

लिए वे संघ में नहीं रहकर आचार्यश्री की आज्ञा, आर्शीवाद लेकर अकेले ही वाद-विवाद के स्थल पर जाकर ध्यानस्थ हो गए।

वास्तव में यह अपनी वचनगुप्ति, भाषासमिति खण्डितकर, तीव्र कषायी, अज्ञानी जीवों के साथ किए गए वाद-विवादरूपी अक्षम्य अपराध का प्रायश्चित्त था।

प्रश्न ३ : विष्णुकुमार मुनि ने उपसर्ग दूर करने के लिए मुनिपद क्यों छोड़ा?

उत्तर : मुनिपद में इसप्रकार के आरंभ-परिग्रह, छल-कपट युक्त कार्य करना उचित नहीं होने से तथा उनके मुनि-भूमिका के अयोग्य तीव्र कषायरूप परिणाम हो जाने के कारण, उन्होंने मुनिपद छोड़ दिया।

तात्पर्य यह है कि मुनिदशा में मात्र आत्मध्यान और ज्ञानपरक कार्य ही होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सावद्ययोग युक्त कार्य करने पर मुनिपद नष्ट हो जाता है।

प्रश्न ४ : इस कहानी में आए अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज, श्रुतसागर तथा दीक्षा छेदकर मुनिराजों की रक्षा करनेवाले विष्णुकुमार मुनिराज में से वास्तविक वन्दनीय, अनुकरणीय मुनिराज कौन से हैं?

उत्तर : विष्णुकुमार मुनिराज ने तो पूर्णतया अपनी मुनिदीक्षा का छेदकर उपसर्ग-निवारण के लिए गृहस्थदशा ही स्वीकार कर ली थी। गृहस्थदशा वन्दनीय नहीं होती है। यह उनका तीव्रतम अपराध था; इसीलिए उन्हें इसका छेद नामक सर्वाधिक विशाल प्रायश्चित्त लेना पड़ा। जो कार्य करने पर सर्वाधिक विशाल प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना पड़े, वह कार्य तथा उस कार्य को करने वाला व्यक्ति वन्दनीय कैसे हो सकता है?

श्रुतसागर मुनिराज ने अपनी विद्वता के बल पर मंत्रिओं से वाद-विवाद कर उन्हें परास्त किया। इस कार्य में उनकी वचनगुप्ति, भाषा समिति भंग हुई थी; संघ-संरक्षण का संकट खड़ा हो गया था; उन्हें भी इस कार्य का प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना पड़ा था; अत: वास्तव में यह कार्य भी करने-योग्य नहीं था।

अकम्पनाचार्य आदि शेष सात सौ मुनिराज दोनों ही प्रसंगों में पूर्णतया आत्मस्थ रहे। उन्होंने अपनी समता नष्ट नहीं होने दी। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति पूर्वक वे अपने स्वरूप में गुप्त ही रहे। उन्होंने वास्तव में सांसारिक बंधनों से अपनी रक्षा की; अत: वास्तविक वन्दनीय, अनुकरणीय मुनिराज तो अकम्पनाचार्य आदि शेष सात सौ मुनिराज ही हैं।

प्रश्न ५ : रक्षाबंधन पर्व पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर : यद्यपि दूसरों की रक्षा करना, अपने ज्ञान तथा प्रभाव से अपने धर्म की प्रभावना करना इत्यादि कार्य लोक में उत्तम माने जाते हैं; तथापि विश्व-व्यवस्था और वस्तु-व्यवस्था के आधार से विचार करने पर वास्तव में ये भी अपराधी वृत्तिआँ ही हैं। यही कारण है कि इसप्रकार के कार्य करनेवाले मुनि-राजों को प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि यदि वास्तव में सुखी होना है तो जगत के समस्त प्रपंचों से दूर रहकर, तत्त्व-निर्णय पूर्वक सहज ही आत्मस्थिर रहना श्रेयस्कर है। मारने का भाव तो बंधन का कारण है ही, रक्षा का भाव भी बंधन का ही कारण है; एकमात्र स्वरूपलीनता ही निर्बंधदशा है इत्यादि अनेकानेक तथ्यों पर यह कहानी प्रकाश डालती है।

यदि इन तथ्यों को समझकर, गुरु के वास्तविक स्वरूप का निर्णयकर, हम भी इस पथ के पथिक हुए तो नियम से पूर्ण सुखमय, अतीन्द्रिय आनन्दसम्पन्न, निराकुल, निर्बंधदशा प्राप्त कर लेंगे।

○○○

धन्य-धन्य मुनिवर का जीवन

धन्य-धन्य मुनिवर का जीवन, होय प्रचुर आतम संवेदन।
धन्य-धन्य जग में शुद्धातम, धन्य अहो आतम आराधन ॥१॥
होय विरागी सब परिग्रह तज, शुद्धोपयोग धर्म का धारन।
तीन कषाय चौकड़ी विनशी, सकल चरित्र सहज प्रगटावन ॥२॥
अप्रमत्त होवे क्षण-क्षण में परिणति निज स्वभाव में पावन।
क्षण में होय प्रमत्तदशा फिर मूल अट्ठाईस गुण का पालन ॥३॥
पञ्च महाव्रत पञ्च समिति धर, पञ्चेन्द्रिय जय जिन के पावन।
षट् आवश्यक शेष सात गुण, बाहर दीखे जिनका लक्षण ॥४॥
विषय कषायारम्भ रहित हैं, ज्ञान-ध्यान-तप लीन साधुजन।
करुणा बुद्धि होय भव्यों प्रति, करते मुक्ति मार्ग सम्बोधन ॥५॥
रचना शुभ शास्त्रों की करते, निरभिमान निस्पृह जिनका मन।
आत्मध्यान में सावधान हैं, अद्भुत समतामय है जीवन ॥६॥
घोर परीषह-उपसर्गों में, चलित न होवे जिन का आसन।
अल्पकाल में वे पावेंगे, अक्षय, अचल, सिद्ध पद पावन ॥७॥
ऐसी दशा होय कब 'आत्मन्', चरणों में हो शत-शत वंदन।
मैं भी निज में ही रम जाऊँ, गुरुवर समतामय हो जीवन ॥८॥

पाठ ७

जम्बूस्वामी

प्रश्न १ : कविवर पण्डित राजमल्लजी पाण्डे का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : कविवर पण्डित राजमल्लजी पाण्डे उन प्रसिद्धतम गृहस्थ विद्वानों में से एक हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा संस्कृत तथा हिन्दी – दोनों भाषाओं के साहित्य को समृद्ध किया है। आपका पंचाध्यायी ग्रंथ संस्कृतभाषा का सरलतम ग्रंथ होते हुए भी विश्व-व्यवस्था, तत्त्व-व्यवस्था एवं मोक्षमार्ग का विशद ज्ञान कराने में पूर्णतया सक्षम है।

आप मुख्यतया आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी तथा आत्मसाधना के अनुरूप साहित्याराधना में अपना जीवन समर्पित करनेवाले विद्वान हैं। आपने राजस्थान प्रान्त के ढूँढ़ाहढ़ प्रदेश सम्बन्धी वैराटनगर को अपने जन्म से कृतार्थ किया है। आपकी मातृभाषा ढूँढ़ारी होने पर भी आप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के अधिकारी विद्वान हैं। आप सत्रहवीं शताब्दी के प्रमुख विद्वान कविवर पं. बनारसीदासजी के पूर्वकालीन हैं। आपका सर्वप्रथम ग्रंथ 'जम्बूस्वामी चरित्र' विक्रम संवत् १६३३ (ई. सन् १५७७) में पूर्ण हुआ है। इस पर से अनुमान किया जाता है कि आपका जन्म सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ होगा।

कवि, टीकाकार, विद्वान, वक्ता इत्यादि अनेकरूप आपके व्यक्तित्व में दृष्टिगत होने से आप बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व के धनी सिद्ध होते हैं। आपकी कविता में काव्यगुणों के साथ-साथ अध्यात्म और गंभीर तत्त्व का गूढ़ विवेचन हुआ है। आपके द्वारा लिखित उपलब्ध साहित्य निम्नलिखित है – जम्बूस्वामी चरित्र, छन्दो विद्या, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थसूत्र टीका, समयसार कलश बालबोधिनी टीका तथा अपूर्ण ग्रंथ पंचाध्यायी।

इसप्रकार आपका समस्त जीवन अध्यात्म की आराधना और साहित्य की साधना में व्यतीत हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न २ : जम्बूस्वामी का संक्षिप्त चरित्र अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : जम्बूस्वामी इस युग के अनुबद्ध केवलिओं में से अन्तिम केवली हैं। आपका जन्म राजगृही नगरी के एक राजमान्य सेठ अर्हद्दास और उनकी पत्नी

जिनमती से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा के दिन हुआ था। वैराग्यरस में निमग्न आप प्रारंभ से ही अधिकाधिक अतीन्द्रिय आनन्द का पान करने के लिए प्रयासरत रहे; अत: विवाह करने का भाव आपके मन में उत्पन्न ही नहीं हो सका; परन्तु अपने माता-पिता की इकलौती संतान होने के कारण, उनके अत्यधिक आग्रह को ठुकरा देना, आपके वश की बात नहीं रही। माता-पिता ने अत्यधिक समझाते-समझाते यहाँ तक वचन दे दिया कि तुम एक बार विवाह कर लो, फिर भले ही अगले दिन ही दीक्षा ले लेना, हम नहीं रोकेंगे; क्योंकि उन्हें ऐसा लगता था कि सर्वांगसुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न कन्याओं के साथ विवाह कर देने पर वे इसके मन को जीत लेंगी, जिससे उसका वैराग्य समाप्त हो जाएगा।

इसप्रकार पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नामक चार कन्याओं के साथ जम्बूकुमार का विवाह हो गया। विवाहोपरान्त प्रथम रात्रि में ही उन्होंने अपने हाव-भाव, रूप-लावण्य, सेवा-सुश्रूषा, बुद्धि-चातुर्य आदि से जम्बूकुमार को सांसारिक विषय-वासना में उलझाना चाहा; परन्तु आत्मानंद में मग्न रहने की इच्छा रखनेवाले जम्बूकुमार के मन में वे विषय-वासनाएं उत्पन्न नहीं कर सकीं। जम्बूकुमार का वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। रागी पत्नियों का राग वैरागी जम्बूकुमार को विचलित नहीं कर सका; अपितु उनके ज्ञान और वैराग्य की किरणों से पत्नी, माता-पिता और यहाँ तक कि विद्युत्चर चोर आदि अनेकों चोरों का अज्ञान और राग नष्ट हो गया; जिससे अगले ही दिन सभी ने दीक्षा ले ली।

अपने गुरु सुधर्माचार्य के निर्वाण दिन माघ शुक्ल सप्तमी तिथि को आत्म-साधना में लीन जम्बूस्वामी केवली अरहंत भगवान बन गए। इसके बाद लगातार अठारह वर्ष पर्यन्त मगध से मथुरा के मध्य दिव्यध्वनि द्वारा आपका तत्त्वोपदेश होता रहा। अंत में चौरासी मथुरा से आपका निर्वाण हो गया। कविवर राजमल्लजी पाण्डे ने आपका निर्वाण विपुलाचल पर्वत से हुआ बताया है।

प्रश्न ३ : विद्युत्चर चोर आदि अनेकों चोरों को जम्बूस्वामी से ज्ञान-वैराग्य कैसे मिला?

उत्तर : जिस दिन जम्बूस्वामी चार कन्याओं के साथ शादी कर दहेज आदि के साथ घर वापिस आए, उस दिन विद्युत्चर आदि सात सौ चोरों को उनके घर से माल चुराने का भाव जागृत हुआ। रात्रि में जम्बूकुमार और उनकी नव-

विवाहिता पत्निओं के मध्य पारस्परिक चर्चा चलती रहने के कारण, सभी जागृत रहने से, उन्हें चोरी करने का अवसर नहीं मिल सका। अवसर की प्रतीक्षा करते हुए वे खिड़की में से उनकी चर्चाओं को सुनते रहे।

चारों पत्निआँ जम्बूकुमार को राग-रंग में रँगना चाहती थीं; परन्तु उनका वैराग्य-रंग किसी भी प्रकार से कमजोर नहीं पड़ रहा था। उसने तो और भी अधिक वृद्धिंगत होते-होते उसी रंग में पत्निओं को तथा माता-पिता को भी रँग दिया। समस्त वार्ता को सुनकर चोरों का भी मन परिवर्तित होकर ज्ञान-वैराग्य के रंग में रँग गया और वे भी जम्बूकुमार के साथ दीक्षित हो गए।

इसप्रकार विद्युत्चर आदि चोरों को ज्ञान-वैराग्य का प्रसंग बन गया।

प्रश्न ४ : पद्मश्री आदि चार कन्याओं का विवाह आपकी दृष्टि में कैसा रहा?

उत्तर : वास्तव में तो जम्बूकुमार विवाह करना ही नहीं चाहते थे। जब यह वार्ता पद्मश्री आदि चार कन्याओं के पिताओं ने सुनी, तो उन्होंने उन कन्याओं का विवाह अन्यत्र करने का निर्णय लिया; परन्तु वे कन्याएं अत्याग्रह पूर्वक कहने लगीं कि हम लोग यदि विवाह करेंगे, तो मात्र जम्बूकुमार के साथ ही; अन्यथा नहीं। उनका अत्याग्रह देखकर सभी ने जम्बूकुमार को समझा-बुझा-कर बलात् विवाह की स्वीकृति ले ली; परन्तु उनके मन में विषय-वासनाएं रंचमात्र भी नहीं थीं; अत: उनका विवाह उन कन्याओं को भी विषय-वास-नाओं में उलझा नहीं सका। वे भी ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होकर आर्यिका बन गईं।

यद्यपि लौकिक दृष्टि से संसारी जन ऐसा कह सकते हैं कि इन कन्याओं को सुख नहीं मिल पाया; परन्तु यदि पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो उनका जीवन और भी अधिक वास्तविक सुखमय हो गया। पंचेन्द्रिय विषयभोग के भाव स्वयं पापमय तथा पापबंध के कारण हैं। वे उनसे निर्वृत्त हो धर्ममय और पुण्यमय जीवन बिताने में सफल हुईं; जिससे वर्तमान जीवन तो निराकुलतामय रहा ही, आगामी जीवन भी सुखमय रहा।

इसप्रकार विचार करने पर विवाह के तत्काल बाद का उनका वैरागी जीवन इसलोक, परलोक दोनों ही दृष्टिओं से सुखमय तथा सुखदायक रहा।

ooo

पाठ ८

बारह भावना

प्रश्न १ : पं. जयचंदजी छाबड़ा का संक्षेप में व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।
उत्तर : पण्डित जयचंदजी छाबड़ा विक्रम संवत् १७९५ से १८८१ (सन् १७३९ से १८२७) के मध्यकाल में एक महान आध्यात्मिक विद्वान हुए हैं। पं. टोडरमलजी की मूल परंपरा के प्रतिभाशाली आत्मार्थी विद्वानों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म जयपुर से तीस मील दूर डिग्गी-मालपुरा रोड पर स्थित फागई (फागी) नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम मोतीरामजी छाबड़ा था। ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही आपकी रुचि तत्त्वज्ञान की ओर विशेष आकर्षित हुई। कुछ काल बाद व्यापार के लिए जयपुर आने पर आपको पण्डित टोडरमलजी आदि का सत-समागम प्राप्त हुआ। इसमें आपने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया; जिसका उल्लेख स्वयं आपने ही अपने शब्दों में निम्नलिखित प्रकार से किया है –

सैली तेरापंथ सुपंथ, तामें बड़े गुणी गुन-ग्रंथ।
तिनकी संगति में कुछ बोध, पायो मैं अध्यातम सोध॥

इसका प्रभाव उनके जीवन पर इतना अधिक पड़ा कि वे फागई छोड़कर जयपुर में ही स्थाई रूप से रहने लगे।

आपके सुपुत्र नन्दलालजी भी बहुत बड़े विद्वान थे। एक बार राजसभा में राजा के आग्रह से अजैन विद्वानों के साथ वाद-विवाद कर आपने विजय प्राप्त की थी। इस विजय से प्रसन्न हो राजा ने बहुत बड़े समारोह का आयोजन करके, उसमें उनका सम्मान किया। स्वयं पं. जयचन्दजी ने भी उनकी प्रशंसा लिखी है।

पं. जयचंदजी छाबड़ा की मुख्यतया सभी रचनाएं टीका ग्रंथ हैं; जिन्हें बचनिका कहा जाता है। कुछ मौलिक रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनका संग्रह 'पद-संग्रह' नाम से किया गया है। आपकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएं इसप्रकार हैं – तत्त्वार्थसूत्र बचनिका, सर्वार्थसिद्धि बचनिका, प्रमेयरत्नमाला बचनिका, द्रव्यसंग्रह बचनिका, धन्यकुमारचरित्र बचनिका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा बचनिका, समयसार बचनिका और पदसंग्रह।

विशेष बात यह है कि आपने ये सभी रचनाएं जीवन-पर्यंत गंभीरतम

स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, अनुभवन करने के बाद वृद्धावस्था में की हैं। आप पण्डित वृन्दावनदासजी के समकालीन विद्वान हैं। न्याय-व्याकरण के सुप्रसिद्ध विद्वानों में आपकी गिनती होती है। स्वयं पं. वृन्दावनदासजी ने आपसे न्याय-व्याकरण पढ़ने की इच्छा व्यक्त की थी।

इसप्रकार आपने आध्यात्मिक आत्मसाधना से अपने जीवन को तथा साहित्यिक साधना से जिनवाणी के कोश को समृद्ध किया है।

प्रश्न २ : अनुप्रेक्षा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेद लिखिए।

उत्तर : अनुप्रेक्षा शब्द अनु+प्र+ईक्षा–इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। अनु=बारम्बार/अनुसरण करता हुआ; प्र=प्रकृष्टरूप से/विशिष्टरूप में; ईक्षा=चिंतन करना; अर्थात् किसी भी विषय का बारम्बार विशिष्टरूप से चिन्तन-मनन करना, अनुप्रेक्षा कहलाता है।

वैसे तो विषय की अपेक्षा अनुप्रेक्षा अनेक प्रकार की हो सकती है; परन्तु आत्महित की दृष्टि से, वैराग्य बढ़ाने के लिए कुछ मुख्य बिन्दुओं की अपेक्षा वे बारह प्रकार की कही गई हैं–अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

बारम्बार भावना करने-योग्य होने से तथा संख्या में बारह होने से इन्हें बारह भावना भी कहते हैं।

प्रश्न ३: पण्डित जयचंद्रजी छाबड़ाकृत बारह भावना के आधार पर इन बारह भावनाओं का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिए।

उत्तर : पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने नयों की शैली में अध्यात्मगर्भित वस्तुव्यवस्था परक बारह भावनाओं का निरूपण किया है। वह इसप्रकार है–

१. अनित्यभावना – द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन।
द्रव्य दृष्टि आपा लखो, परजय नय करि गौन॥

वास्तव में प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा, ध्रौव्य स्वभाव से वह स्थिर है तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा, उत्पाद-व्यय स्वभाव से वह सतत परिणमनशील है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वभाव स्थिर रहकर सतत परिणमन करना है।

यदि हम सुखी होना चाहते हैं, तो सदैव परिणमनशील तत्त्वों अर्थात् पर्यायों को गौण कर, ध्रौव्यस्वभावी ज्ञानानन्दमय अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार करना चाहिए। पर्याय की अपेक्षा अनित्य होने पर

भी मैं ज्ञानानन्द स्वभाव की अपेक्षा अनादि-अनन्त नित्य हूँ – ऐसा बारम्बार विचार करना, अनित्य भावना है।

२. अशरण भावना – शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥

वास्तव में प्रत्येक वस्तु अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप स्व-चतुष्टयात्मक होने से, उसे किसी अन्य परपदार्थ की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है। मोह के उदय से मिथ्या मान्यता के कारण यद्यपि यह जीव अपने जीवन-मरण आदि प्रसंगों में अन्य की शरण खोजता फिरता है; परन्तु कोई भी इसे शरण देने में समर्थ नहीं हो पाता है।

परमार्थदृष्टि से ज्ञानानन्दस्वभावी अपना आत्मा ही अपने लिए परम शरणभूत है। अरहंत आदि पंच परमेष्ठी अपने शुद्धात्मा को बतानेवाले होने से, उन्हें भी व्यवहार से शरणभूत कहा जाता है। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई भी जगत में शरणदायी नहीं है – ऐसा बारंबार विचारना, अशरण भावना है।

३. संसारभावना – परद्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में भ्रमण कह्यो श्रुतशोध॥

संसरण, परिभ्रमण, घूमना, संसार है; अर्थात् अपने स्वभाव को छोड़कर परपदार्थों के प्रति उत्पन्न होनेवाली प्रीति, आसक्ति, आकर्षण, मोह, राग, द्वेष इत्यादि भाव, संसार हैं। ये सभी भाव अपने स्वभाव को नहीं जानने के कारण अर्थात् अज्ञान दशा में उत्पन्न होते हैं। समस्त जिनागम में इन भावों का फल चारों गतिओं में घूमना बताया गया है। इनमें रंचमात्र भी सुख नहीं होने के कारण ये सारभूत नहीं हैं। इन भावों से भिन्न मैं स्वयं अनादि-अनन्त, ज्ञानानन्द स्वभावी, परमसारभूत शुद्धात्मा हूँ–ऐसा बारम्बार विचार करना, संसार-भावना है।

४. एकत्वभावना – परमारथ तैं आत्मा, एक रूप ही जोय।
कर्म निमित विकलप घने, तिन नाशें शिव होय॥

वास्तव में प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टयात्मक अपनी सीमा में सीमित होने के कारण एकत्व-संपन्न ही है। उसे पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है, कर्मोदय से संयुक्त होने के कारण, अज्ञानतावश यह जीव अन्य परपदार्थों को अपना बनाने का अथक प्रयास करता है; परन्तु वे कभी भी इसके नहीं हो पाते हैं। अपने एकत्व स्वभाव का आश्रय लेकर, जब यह जीव इसप्रकार के निरर्थक प्रयासों

को समाप्त कर, पूर्णतया स्वरूपलीन होता है, तो एकाकी ही अतीन्द्रिय आनन्दमयी दशा, मोक्षपद प्राप्त करता है। – इसप्रकार अपने दुःख-सुख आदि का जिम्मेदार, जबाबदार मैं स्वयं ही हूँ – ऐसा बारम्बार विचार करना, एकत्व-भावना है।

५. अन्यत्वभावना – अपने अपने सत्त्वकूँ सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चितवे जीव तब, पर तैं ममत न थाय॥

वास्तव में जब सभी वस्तुएं अपनी-अपनी सीमा में ही सीमित हैं, सुशोभित हैं; तब फिर वहाँ पर के हस्तक्षेप की आवश्यकता ही कहाँ है? प्रत्येक वस्तु पर से पूर्णतया अन्य है/भिन्न है/पृथक् है।–ऐसा बारम्बार विचार करने पर, पर के प्रति ममत्व आदि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं; उन्हें अपना बनाने सम्बन्धी निरर्थक प्रयास नहीं होता है; उन्हें अपने सुख-दुःख आदि का जिम्मेदार, जबाबदार नहीं मानते हैं। – इसप्रकार मैं सदैव पर से पूर्णतया पृथक् हूँ – ऐसा बारम्बार विचार करना, अन्यत्व भावना है।

६. अशुचित्वभावना – निर्मल अपना आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह॥

अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्शमय ज्ञानानन्द स्वभावी होने के कारण मैं स्वयं परम पवित्र तत्त्व हूँ तथा यह शरीर रज-वीर्य रूप अपवित्र वस्तुओं से निर्मित होने के कारण अपवित्रता का ही घर है। इसके सभी द्वारों से अपवित्रता ही बाहर निकलती है। इस शरीर के संपर्क में आनेवाली प्रत्येक जड़ वस्तु अपवित्र ही मानी जाती है। इसे किसी भी कीमत पर पवित्र नहीं बनाया जा सकता है। – ऐसा बारम्बार विचार करने से इसके प्रति प्रीति, आसक्ति नष्ट हो जाती है।

अनादि से इस अपवित्र शरीर में रहने पर भी मैं शुद्धात्मा इससे पूर्णतया अप्रभावित, परम पवित्र, शुचिमय तत्त्व ही रहा हूँ। यह शरीर मुझे अपवित्र नहीं बना सका; अपितु मेरे कारण यह शरीर भी पूज्य, पवित्र कहलाने लगा। यह जड़, क्षणभंगुर शरीर कभी भी मेरा नहीं हो सकता है – इत्यादि प्रकार से बारम्बार विचार करना, अशुचित्वभावना है।

७. आस्रवभावना – आतम केवल ज्ञानमय निश्चयदृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार॥

वास्तव में आत्मा स्वभाव से मात्र ज्ञानमय है। यह अपने इस स्वभाव को

स्वीकार नहीं करने के कारण, परपदार्थों की ओर आकर्षित होने से पर्याय में रागादि विकारी भावरूप परिणमित होता है। यदि हम निश्चयदृष्टि से स्वयं को मात्र ज्ञानमय जानकर, मानकर, उसमें लीन होते हैं; तो दुःखमय और दुःख के कारणभूत सभी विभाव परिणाममय आस्रवभाव नष्ट हो जाते हैं। मैं इन रूप नहीं होने से, इनके नाश से मेरा नाश नहीं होता है–इसप्रकार का बारम्बार विचार करना, आस्रवभावना है।

८. संवरभावना – निजस्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम करैं पाप की हानि॥

अपने ज्ञानानंद स्वभाव में लीनता अर्थात् अपने स्वभाव को अपनत्व-रूप से जानकर, मानकर, उसमें ही स्थिरतारूप प्रगट शुद्धि, वीतरागदशा, अशुद्धि का अभाव, संवर है। समिति, गुप्ति, संयम, धर्म – ये सभी उसके ही रूप हैं। ये प्रगट होने पर पाप कर्मों का अभाव हो जाता है। यह संवर ही सुख-मय तथा सुख का कारण है। पुण्य-पापरूपी परलक्ष्यी सम्पूर्ण भावों से रहित यह ही अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा है।–ऐसा बारम्बार विचार करना, संवर-भावना है।

९. निर्जराभावना – संवरमय ह्वै आतमा, पूर्वकर्म झड़ जायँ।
निजस्वरूप को पायकर लोकशिखर जब थाय॥

जब आत्मा प्रगट पर्याय में संवरमय हो जाता है; अर्थात् स्वयं को अपन-त्व रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर हो जाता है; तो प्रगट शुद्धि के माध्यम से पूर्वबद्ध कर्मों का क्रमशः अभाव हो जाता है, शुद्धि की वृद्धि होती जाती है, अशुद्धि का नाश होता जाता है। इसके बल पर पर्याय में परि-पूर्ण शुद्धि प्रगट हो जाने से यह जीव सिद्धदशा को प्राप्तकर लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है। यही परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दमय सम्पूर्ण वैभवसम्पन्न अपने आत्मा की पूर्णतया उपलब्धि है, मोक्षदशा है। – ऐसा बारम्बार विचार करना, निर्जराभावना है।

१०. लोकभावना – लोकस्वरूप बिचारिकैं, आतमरूप निहार।
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि॥

तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण विस्तृत, कमर पर हाथ रखे पुरुषाकार के समान यह लोक ऊर्ध्व, मध्य और अधो–इसप्रकार तीनरूप है। अपने आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं करने के कारण, मिथ्याभावों में उलझकर यह

जीव इस लोक में अनादि से ही भटकता हुआ दुःख भोग रहा है। यदि यह परलक्ष्यी भावों से दृष्टि हटाकर अर्थात् व्यवहारनय के विषयभूत पर, पर्याय और भेद-भावों को गौणकर पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनादि-अनन्त, अखण्ड, ज्ञानानन्दमय अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें लीन होता है, तो इसका लोक में परिभ्रमण नष्ट हो जाता है; सभी विभाव-भाव दूर होकर सुखमय दशा प्रगट हो जाती है। – इत्यादि प्रकार से बारम्बार विचार करना, लोकभावना है।

११. बोधिदुर्लभभावना– बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥

बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा का अपना स्वभाव है; इसलिए इसे प्रगट करना कठिन नहीं है; परन्तु जीव अनादि से ही अपने इस स्वभाव को पहिचानता नहीं है, तीव्ररुचिपूर्वक उसे पहिचानने का प्रयास भी नहीं करता है; अतः इसे प्रगट करना कठिन है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

अपना ही स्वभाव होने के कारण इसे प्रगट करने के लिए अन्य किसी की भी रंचमात्र आवश्यकता नहीं होने के कारण, स्वयं स्वतंत्रता, स्वाधीनता पूर्वक जब भी यह अपने आपको अपनत्व रूप से जानकर, मानकर, उसमें लीन होता है, तो इन्हीं का नाम पर्याय में प्रगट बोधि अर्थात् सम्यक्रत्नत्रय है। यह सम्यक्रत्नत्रय ही स्वयं सुखमय तथा सुख का, मोक्ष का कारण है। – ऐसा बारम्बार विचार करना, बोधिदुर्लभभावना है।

१२. धर्मभावना – दर्शज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामैं गर्भित जानि॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मा दर्शन-ज्ञानमय चेतनास्वभावी, अनन्त वैभवसम्पन्न, एक, अनादि-अनंत वस्तु है। दर्शन-ज्ञान स्वभावरूप परिणमन करना ही आत्मा का धर्म है। यही एकमात्र स्वाभाविक, सहज सुखमय, अतीन्द्रिय आनन्दमय परिणमन है। दया, क्षमा, अहिंसा, रत्नत्रय इत्यादि धर्म के सभी रूप इसमें ही गर्भित जानना चाहिए। धर्म कभी भी दुःखमय, दुःख का कारण नहीं होता है तथा पर के आश्रय से प्रगट नहीं होता है। वह तो परिपूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीनतामय, ज्ञानानन्द सम्पन्न दशा है। – बारम्बार ऐसा विचार करना, धर्मभावना है।

○○○

पाठ १ | उपासना

प्रश्न १ : देव, शास्त्र, गुरु पूजन की विषय-वस्तु अत्यंत संक्षेप में लिखिए।
उत्तर : प्रस्तुत 'देव, शास्त्र, गुरु पूजन' कोटा निवासी, आध्यात्मिक प्रवक्ता, आत्मार्थी विद्वान पं. श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' द्वारा लिखी गई है। आपने इसमें मिथ्यात्व को नष्ट करने के उपाय से लेकर सिद्धदशा-प्राप्तिपर्यन्त का उपाय निरूपित किया है।

सर्वप्रथम स्थापना के छन्द में देव, शास्त्र, गुरु का सामान्य स्वरूप बताते हुए उन्हें शतश: वन्दन किया है। तदुपरान्त क्रमश: जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प और नैवेद्य के छन्दों में मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण होनेवाले दु:खों की चर्चा करते हुए, उनके उत्पन्न होने के और उन्हें नष्ट करने के कारणों की मीमांसा की गई है।

तत्पश्चात् उपर्युक्त विकारों की उत्पत्ति का मूलकारण श्रुतज्ञानरूपी दीप का प्रज्वलित नहीं होना बताकर, दीप के छन्द में उसे प्रज्वलित करने का संकल्प किया है। तदनन्तर धूप के छन्द में पुन: पर की ओर का आकर्षण ही एकमात्र मिथ्याभ्रांति है; उससे ही मैं अनादिकाल से अनन्त दु:ख भोग रहा हूँ – ऐसा भाव व्यक्त कर अपने स्वभाव के आश्रय से पर की ओर के आकर्षण को जलाने का/नष्ट करने का संकल्प किया है। फल के छन्द में मोह उत्पन्न होने के कारणों पर विचार करते हुए उसके नष्ट हो जाने पर ही जिनेन्द्र भगवान की पूजन की सार्थकता स्पष्ट की है।

अर्घ्य के छन्द में मिथ्यादर्शन के नाशपूर्वक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन से लेकर अरहंत अवस्थापर्यन्त दशाओं को प्रगट करने की प्रक्रिया बताते हुए स्वयं अरहंतदशा प्राप्त करने का संकल्प व्यक्त किया है।

तदनन्तर जयमाला के प्रारंभ में अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतन, वैराग्योत्पादक, तत्त्वपरक शैली में किया है। तत्पश्चात् जिनेन्द्र भग-

वान का स्वरूप बताते हुए अपनी विपरीत मान्यताओं का भी चित्रण किया है। तदुपरान्त संसारसमुद्र से पार करनेवाली नौका के रूप में जिनवाणी माता का स्मरण करते हुए; अपने पूज्य दिगम्बर मुनिराजों, गुरुओं की दिनचर्या का जीवन्त चित्रण करते हुए देव, शास्त्र, गुरु को नमस्कार कर पूजन पूर्ण की है।

प्रश्न २ : देव, शास्त्र, गुरु पूजन का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : देव, शास्त्र, गुरु पूजन का सामान्यार्थ इसप्रकार है –

केवल-रवि-किरणों से जिसका, सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर।
उस श्री जिनवाणी में होता, तत्त्वों का सुन्दरतम दर्शन॥
सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण।
उन देव परम आगम गुरु को, शत-शत वंदन शत-शत वंदन॥

स्थापना : केवलज्ञानरूपी सूर्य-किरणों से जिनका अन्तस्तल/आत्मा पूर्णतया प्रकाशित हो गया है, ऐसे देव अरहंत-सिद्ध भगवान को; तत्त्वों का सुन्दरतम विवेचन करनेवाली जिनेन्द्र भगवान की वाणी, जिनवाणी, आगम, परमागम को तथा सतत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर चलनेवाले मुनिसमूहों, गुरुओं को हमारा शत-शत वंदन है, नमस्कार है।

इन्द्रिय के भोग मधुर-विष सम, लावण्यमयी कंचन काया।
यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया॥
मैं भूल स्वयं के वैभव को, पर ममता में अटकाया हूँ।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिए, मिथ्यामल धोने आया हूँ॥

जल : पाँचों इन्द्रियों के विषय क्रमशः विविध स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द सम्पन्न पदार्थों को भोगना, मीठे जहर के समान दुःखदायक है। अत्यंत सुन्दरतायुक्त स्वर्ण के समान रंगवाला शरीर तथा सभीप्रकार के भोग्य पदार्थ पूर्णतया जड़मय, ज्ञानरहित, पुद्गल के ही परिणमन हैं; परन्तु मैं आज पर्यन्त ऐसा नहीं समझ सका। मैं अपने ज्ञानानन्द स्वभावमय वैभव को भूलकर इन पर-पदार्थों की ममता में अटक गया हूँ। शरीर आदि पर-पदार्थों के साथ एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विपरीत मान्यताएं कर रहा हूँ। हे जिनेन्द्र भगवान ! आपकी पूजा के लिए लाया गया यह पवित्र जल, मेरे अंदर प्रगट हुए सम्यग्श्रद्धान का प्रतीक है; इससे मेरा मिथ्यादर्शनरूपी मल नष्ट हो गया है अर्थात् सम्यग्दर्शनरूपी जल से मिथ्यादर्शनरूपी मल को धोने के लिए मैं आपकी शरण में आया हूँ।

जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु! अपने अपने में होती है।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूँठी मन की वृत्ती है॥
प्रतिकूल संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है।
सन्तप्त हृदय प्रभु! चन्दन सम, शीतलता पाने आया है॥

चन्दन : पुद्गल आदि जड़द्रव्यों की तथा चेतनद्रव्यों रूप सभी द्रव्यों की परिणति, पर्यायें, अपने-अपने द्रव्यों में ही निरंतर होती रहती हैं। हे भगवन! उन्हें अनुकूल या प्रतिकूल कहना – यह मेरे मन का मिथ्यात्व/ विपरीत परिणमन है। इस विपरीत परिणमन के कारण मैंने स्वयं को अच्छे नहीं लगनेवाले प्रतिकूल संयोगों के प्रति क्रोधित होकर अपने संसार को बढ़ाया है; जिससे मेरा हृदय संतप्त है, ज़ल रहा है। हे भगवान ! अब मन को शान्त करने के लिए, चन्दन के समान शीतलता प्राप्त करने के लिए, मैं आपकी शरण में आया हूँ।

उज्ज्वल हूँ कुन्द धवल हूँ प्रभु! पर से न लगा हूँ किंचित भी।
फिर भी अनुकूल लगे उन पर, करता अभिमान निरंतर ही॥
जड़ पर झुक झुक जाता चेतन, की मार्दव की खंडित काया।
निज शाश्वत अक्षयनिधि पाने, अब दास चरणरज में आया॥

अक्षत : हे भगवान ! यद्यपि मैं उज्ज्वल हूँ, पूर्णतया स्वच्छ हूँ, कुंद-पुष्प के समान धवल, श्वेत हूँ; मेरा पर से रंचमात्र भी संबंध नहीं है; तथापि अज्ञानता वश जो भी परपदार्थ मुझे अनुकूल लगते हैं, उन्हें प्राप्त कर मैं सदा घमण्ड करता रहता हूँ। इसप्रकार चेतनतत्त्व होने पर भी मैं जड़पदार्थों पर आकर्षित हूँ, लीन हूँ; जिससे मैंने पूर्णतया निरभिमानी आत्मस्वभाव को सदा खंडित किया है, अस्वीकार किया है; परन्तु अब यह आपका सेवक आपकी चरणरज में अपनी शाश्वत अक्षयनिधि को प्राप्त करने के लिए आया है।

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तन में माया कुछ शेष नहीं।
निज अंतर का प्रभु! भेद कहूँ, उसमें ऋजुता का लेश नहीं॥
चिंतन कुछ, फिर संभाषण कुछ, किरिया कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निज में प्रभु पाऊँ, अंतर का कालुष धोती है॥

पुष्प : यह शरीर कुसुम के समान अत्यंत सुकोमल होने पर भी वास्तव में विचार किया जाए तो इसमें भी कोई छल शेष नहीं है, यह छल-कपट का ही भण्डार है अर्थात् इसका परिणमन विश्वसनीय नहीं है; इसीप्रकार हे भगवान! यदि मैं अपने अंदर के परिणामों का निरीक्षण करता हूँ, तो ज्ञात होता है कि

उनमें भी वास्तविक सरलता नामकी कोई भी परिणति रंचमात्र भी नहीं रह गई है। मेरे अंदर विचार कुछ चलते हैं, मैं बोलता कुछ हूँ और क्रिया इनसे भिन्न कोई अन्य ही होती है। हे भगवान! अब मात्र यही भावना है कि मैं अपने स्व-भाव से उस स्थिरता को प्राप्त कर लूँ; जो अन्दर की सम्पूर्ण कलुषता, मलिनता, विकृति को धो डालती है।

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु! भूख न मेरी शांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
युग-युग से इच्छा सागर में, प्रभु! गोते खाता आया हूँ।
पंचेन्द्रिय मन के षट्रस तज, अनुपम रस पीने आया हूँ॥

नैवेद्य : हे भगवान! अभीतक अनगिनत जड़द्रव्यों का भक्षण कर लेने के बाद भी, मेरी भूख शांत नहीं हो सकी है। मैंने अपनी तृष्णारूपी खाई को अनेकों बार बहुत भरने का प्रयास किया है; परन्तु वह कभी भी भरी नहीं जा सकी, सदा रिक्त ही रही है। हे भगवान! मैं अति दीर्घकाल से इच्छारूपी समुद्र में गोते खाता हुआ चला आ रहा हूँ। अब आपके चरणों में यह नैवेद्य अर्पित करके, स्वाहा करके अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अनुपम रस का पान करने के लिए मैं आपकी शरण में आया हूँ।

जग के जड़ दीपक को अब तक, समझा था मैंने उजियारा।
झंझा के एक झकोरे में जो बनता घोर तिमिर कारा॥
अतएव प्रभो! यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूँ।
तेरी अंतर लौं से निज अन्तर, दीप जलाने आया हूँ॥

दीप (पुराना छन्द) : मैंने आज तक जगत के इन जड़-दीपकों को ही प्रकाश करनेवाला माना था; परन्तु तीव्र हवा का एक झोंका लगने पर क्षणभर में ही ये घोर काले अन्धकार में बदल जाते हैं – यह समझ में आ जाने के कारण हे प्रभो! मैं यह नष्ट होनेवाला दीपक आपको समर्पित करने के लिए आया हूँ और आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति से अपने अंदर का भेदज्ञानरूपी दीपक जला रहा हूँ।

मेरे चैतन्य सदन में प्रभु! चिर व्याप्त भयंकर अँधियारा।
श्रुतदीप बुझा हे करुणानिधि! बीती नहिं कष्टों की कारा॥
अतएव प्रभो! यह ज्ञान-प्रतीक, समर्पित करने आया हूँ।
तेरी अन्तर लौं से निज अन्तर, दीप जलाने आया हूँ॥

दीप (नया छन्द) : हे प्रभो ! मेरे चैतन्यरूपी घर में अनादिकाल से ही मिथ्यात्व का भयंकर अन्धकार फैला हुआ है। मेरा श्रुतज्ञानरूपी दीपक अनादि से ही बुझा हुआ है, वह कभी जल नहीं सका; अत: हे करुणासागर! मेरे कष्टों का कारागृह/जेल भी समाप्त नहीं हो सका। अब उसे नष्ट करने के लिए हे प्रभो! यह ज्ञान का प्रतीक-स्वरूप दीपक मैं समर्पित करने आया हूँ तथा आपके केवलज्ञानरूपी दीपक की ज्योति से अपने अन्त:दीप, श्रुतज्ञान या भेदज्ञानरूपी दीप को जलाने आया हूँ, प्रज्वलित करने आया हूँ।

जड़ कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रान्ति रही मेरी।
मैं राग द्वेष किया करता, जब परिणति होती है जड़ की॥
यों भाव-करम या भाव-मरण, सदियों से करता आया हूँ।
निज अनुपम गंध अनल से प्रभु! पर-गंध जलाने आया हूँ॥

धूप : मुझे अनादि से ये जड़-पुद्गल-कर्म घुमा रहे हैं, कष्ट दे रहे हैं – ऐसी मिथ्या-मान्यता आज तक चलती रही। जब इन जड़द्रव्यों की कोई भी दशाएं होती हैं; तो उन्हें देख-देखकर मैं रागी-द्वेषी होता रहता हूँ। इसप्रकार रागादि भावकर्म या भावमरण अनादि से ही करता आ रहा हूँ; परन्तु आज मैं ज्ञानानंद स्वभावमय अनुपम गंध-सुगंधमय अग्नि में हे भगवान! परगन्ध को, दूसरों के प्रति आकर्षण को, मोहादि विकारीभावों को जलाने के लिए आया हूँ।

जग में जिसको निज कहता मैं, वह छोड़ मुझे चल देता है।
मैं आकुल व्याकुल हो लेता, व्याकुल का फल व्याकुलता है॥
मैं शान्त निराकुल चेतन हूँ, है मुक्तिरमा सहचर मेरी।
यह मोह तड़क कर टूट पड़े, प्रभु सार्थक फल पूजा तेरी॥

फल : मैं जगत में जिसे भी अपना कहता हूँ, मानता हूँ, बनाना चाहता हूँ; वह मुझे छोड़कर चला जाता है, जिससे मैं आकुल-व्याकुल होता रहता हूँ। इस व्याकुलता के फल में पुन: व्याकुलता ही मिलती है। अब मुझे यह समझ में आया है कि वास्तव में तो मैं शान्त, सम्पूर्ण आकुलता से रहित, चेतनतत्त्व हूँ; मुक्तिरूपी लक्ष्मी (पत्नी) ही मेरी सहचर (जीवनसाथी) है। हे भगवन ! इस मान्यता के बल पर मेरा यह परपदार्थों को अपना बनाने संबंधी मोह शीघ्रता से पूर्णतया नष्ट हो जाए; इसे ही मैं आपकी पूजा का सार्थक फल मानता हूँ।

क्षण भर निजरस को पी चेतन, मिथ्यामल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनंद अमृत पीता है॥

अनुपम सुख तब विलसित होता, केवल-रवि जगमग करता है।
दर्शन-बल पूर्ण प्रगट होता, यह ही अरहन्त अवस्था है॥
यह अर्घ्य समर्पण करके प्रभु, निज गुण का अर्घ बनाऊँगा।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु, अर्हन्त अवस्था पाऊँगा॥

अर्घ्य : ये चेतन अर्थात् प्रगट ज्ञान-दर्शन आदि पर्यायें एक क्षण को भी अपने रस का अर्थात् त्रिकाली ध्रुवतत्त्व का पान करें अर्थात् उसे अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही लीन हो जाएं तो मिथ्यात्वरूपी मल अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र धुल जाता है, नष्ट हो जाता है और यदि विशिष्ट पुरुषार्थपूर्वक विशेषरूप से अपने आनंदरूपी अमृत का पान होता रहा, तो सभी प्रकार के कषाय संबंधी भाव भी नष्ट हो जाते हैं। काषायिक भाव नष्ट हो जाने पर अनुपम सुख प्रगट होता है, सुशोभित होता है और केवलज्ञानरूपी सूर्य भी जगमगाने लगता है, उदित हो जाता है। अनन्त-दर्शन और अनन्तवीर्य भी प्रगट हो जाता है। इस अनन्तचतुष्टयसम्पन्न अवस्था को ही अरहंत अवस्था कहते हैं। हे भगवन ! आपकी पूजा के लिए इस अर्घ्य को आपके समक्ष समर्पित कर मैं अपने गुणों का अर्घ्य बनाऊँगा अर्थात् अनंत गुणसम्पन्न अपने ज्ञानानंद स्वरूप को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही पूर्णतया लीन रहूँगा; जिससे आपके ही समान मैं भी अरहंत अवस्था प्राप्त कर लूँगा।

जयमाला : इसमें सर्वप्रथम भूमिका बनाते हुए बारह भावनाओं का चिंतन किया गया है। वह इसप्रकार –

भव वन में जी भर घूम चुका, कण-कण को जी भर भर देखा।
मृग-सम मृगतृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा॥

मैं अनादि से आज तक संसाररूपी जंगल में जी भर कर घूम चुका हूँ अर्थात् भटक-भटक कर अनंत कष्ट पा चुका हूँ। मैंने यहाँ एक-एक कण को अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को भरपूर देखा है, भोगा है; परन्तु जैसे मृगमरीचिका के पीछे भटकते हुए मृग को रंचमात्र भी जल नहीं मिलता है; उसीप्रकार मुझे भी उनमें सुख की रेखा तक दिखाई नहीं दी अर्थात् अंशमात्र भी सुख नहीं मिला।

झूँठे जग के सपने सारे, झूँठी मन की सब आशाएँ।
तन-जीवन-यौवन-अस्थिर हैं, क्षणभंगुर पल में मुरझाएँ॥

अनित्यभावना : इस जगत के सम्पूर्ण स्वप्न मिथ्या हैं अर्थात् परपदार्थों

के संबंध में उत्पन्न होनेवाले हमारे सभी संकल्प-विकल्प मिथ्या हैं। पर-पदार्थों को लेकर उत्पन्न होनेवालीं हमारे मन की सभी आशाएं, इच्छाएं, लालसाएं मिथ्या हैं। ये शरीर, जीवन, यौवन आदि सभी कुछ अस्थिर हैं, विनाशीक हैं। अस्थिर होने के कारण किसी भी क्षण मुरझा जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं; अत: ये विश्वास करने-योग्य नहीं हैं।

सम्राट महा-बल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या।
अशरण मृत काया में हर्षित, निज जीवन डाल सकेगा क्या॥

अशरण : जब उनके नष्ट होने का समय आता है; तब सम्राट, महाबल-शाली सेनापति आदि भी उसे टाल नहीं सकते, आगे-पीछे भी नहीं कर सकते। कोई भी प्रसन्न होकर इस शरणरहित मृतशरीर में कभी भी अपना जीवन नहीं डाल सकता है।

संसार महा दुख-सागर के, प्रभु दुखमय सुख आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कंचन कामिनी प्रासादों में॥

संसार : यह संसार अर्थात् सभीप्रकार के रागादि विकारीभाव महा दु:खों के समुद्र हैं। हे प्रभो! ये सभी दु:खमय, आकुलतामय होने पर भी मैंने अपनी मिथ्यामान्यता के कारण धन-धान्य आदि, पत्नी-परिवार-कुटुम्ब आदि, महल, मकान आदि पदार्थों में सुख का आभास करके रागादि करते हुए उनमें सुख की खोज की; परन्तु मुझे उनमें एक क्षण को भी रंचमात्र भी सुख नहीं मिला।

मैं एकाकी एकत्व लिए, एकत्व लिए सब ही आते।
तन-धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते॥

एकत्व : मैं वास्तव में एकाकी अर्थात् पर से भिन्न, स्वभाव से अभिन्न सदैव एकत्व, एकपने से सम्पन्न हूँ। वास्तव में तो द्रव्यमात्र ही पर से भिन्न और अपने से अभिन्न एकत्व-सम्पन्न है। यद्यपि मैंने भ्रम से शरीर, धन आदि को अपना साथी समझा था; परन्तु ये मुझे छोड़कर चले जाते हैं; मेरे साथी नहीं बन पाते हैं।

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिए, निज समरस पीने वाला हूँ॥

अन्यत्व : शरीर, धन आदि मेरे साथी कभी भी नहीं हुए; मैं भी उनका साथी कभी भी नहीं हुआ; क्योंकि में उनसे अत्यन्त भिन्न, अखण्ड, निराला तत्त्व हूँ। (मित्रता समान जातिवालों में होती है; मैं चेतन हूँ और शरीर आदि

पदार्थ अचेतन हैं – इसप्रकार भिन्न जातिवाले, विजातीय होने से, मैं भी कभी इनका नहीं हुआ और ये भी कभी मेरे नहीं हुए) मैं पर से भिन्न, स्वयं में स्वयं के समतारस का पान करनेवाला हूँ अर्थात् पर से भिन्न, अपने से अभिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचान-कर, उसमें ही स्थिर होने से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्द का पान करनेवाला हूँ।

जिसके शृंगारों में मेरा यह, महँगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥

अशुचि : जिस शरीर को सजाने में, हृष्ट-पुष्ट रखने में, यह मेरा अत्यंत अनमोल मनुष्य जीवन नष्ट हो रहा है; उस अत्यन्त अपवित्र अचेतन शरीर से मुझ चेतनतत्त्व का संबंध कैसा? क्या कभी भी विजातीय-तत्त्व के साथ संबंध संभव है ? अत: वास्तव में मेरा इस शरीर के साथ कुछ भी संबंध नहीं है।

दिन रात शुभाशुभ भावों में, मेरा व्यापार चला करता।
मानस वाणी और काया से आस्रव का द्वार खुला रहता॥

आस्रव : दिन-रात मेरे अन्दर सतत शुभ-अशुभ भाव होते रहते हैं तथा अनादि से ही मैं यही व्यापार, कार्य करता चला आ रहा हूँ; जिसके कारण मन, वचन और तन के माध्यम से आत्मप्रदेशों में कंपन होने के कारण आस्रव का द्वार खुला है अर्थात् कर्मों का आना और बँधना निरंतर चल रहा है।

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल।
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल॥

संवर : सतत चलनेवाली इन शुभ और अशुभ की ज्वालाओं से मेरा हृदय झुलस गया है, मेरी सुख-शांति नष्ट हो गई है। इस ज्वाला को समाप्त करने के लिए मैं अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ से संवरतत्त्व को प्रगट करता हूँ; जिससे अत्यंत शीतल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी किरणें प्रगट होकर मेरे हृदय को शान्ति प्रदान कर दें/पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाय।

फिर तप की शोधक वन्हि जगे, कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़ें।
सर्वांग निजात्म प्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें॥

निर्जरा : सम्यक्रत्नत्रय प्रगट होने पर सम्पूर्ण विकारीभावों को पूर्णतया नष्ट कर पूर्ण शुद्धि प्रगट करनेवाली तपरूपी अग्नि मेरे अंदर जागृत हो; जिससे कर्मों के सम्पूर्ण बंधन पूर्णतया नष्ट हो जाएं और मेरे अपने सम्पूर्ण असंख्यात प्रदेशों में अमृत के झरने फूट पड़ें अर्थात् मेरा ज्ञानानन्द स्वभावरूप परिणमन हो जाए।

हम छोड़ चले यह लोक तभी, लोकांत विराजें क्षण में जा।
निज लोक हमारा वासा हो, शोकांत बनें फिर हमको क्या॥

लोक : सम्पूर्ण विकारीभावों की पूर्ण निर्जरा हो जाने पर हम इस लोक को जिससमय छोड़ें, उसीसमय एक ही क्षण में लोक के अन्त में अर्थात् मोक्ष में विराजमान हो जाएं; इससे मात्र ज्ञानानन्द स्वभावमयी असंख्यात प्रदेशी मेरा लोक ही मेरा निवास-स्थान हो। जिससे हमारे सभी शोकों, कष्टों का अंत हो जाएगा। पर से रंचमात्र प्रभावित हुए बिना हम अनन्त, अव्याबाध आनन्द-मय रहेंगे।

जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो, दुर्नयतम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊँ, मद मत्सर मोह विनस जावे॥

बोधिदुर्लभ : हे भगवन ! मेरे अन्दर आज तक प्रगट नहीं हुई होने से दुर्लभ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सम्यक्रत्नत्रयमयी बोधि प्रगट हो जाए तथा एकान्तवाद रूप दुर्नयमयी अन्धकार शीघ्र ही नष्ट हो जाए। मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा, जानने-देखनेरूप रह जाऊँ। इसके अतिरिक्त मुझमें होनेवाले घमण्ड, ईर्ष्या, मोह, आधि आदि सभी विकारीभाव नष्ट हो जाएं।

चिररक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिरसाथी।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहे जग के साथी॥

धर्म : वस्तु के स्वभावरूप वीतरागतामय धर्म सदैव हमारा रक्षक हो। यह धर्म ही हमारा अनंत काल पर्यन्त साथी रहे। इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कोई भी न तो हमारा साथी हुआ है और न ही होगा। हम भी न तो जगत के साथी हुए हैं और न होंगे।

चरणों में आया हूँ प्रभुवर! शीतलता मुझको मिल जावे।
मुरझाई ज्ञान लता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जावे॥
सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानों पावक में घी डाला॥
तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रियसुख की ही अभिलाषा।
अब तक न समझ ही पाया प्रभु, सच्चे सुख की भी परिभाषा॥
तुम तो अविकारी हो प्रभुवर! जग में रहते जग से न्यारे।
अतएव झुके तव-चरणों में, जग के माणिक-मोती सारे॥

देवस्तवन : हे जिनेन्द्र भगवान ! मैं आपके चरणों में शीतलता प्राप्त करने

के लिए आया हूँ। आपके माध्यम से अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा मेरी मुरझाई हुई अर्थात् अप्रगट सम्यग्ज्ञानरूपी लता विकसित हो जाए। मैं आज तक यह विचार करता रहा हूँ कि मेरी इच्छारूपी ज्वालाएं पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से बुझ जाएंगी; शांत हो जाएंगी, इसकारण मैंने पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में प्रवृत्ति की; परन्तु जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि और अधिक बढ़ती है, बुझती नहीं है; उसीप्रकार पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से इच्छारूपी ज्वालाएं और अधिक बढ़ती ही गईं; शान्त नहीं हुईं अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का परिणाम इच्छाओं की वृद्धि निकला। हे भगवन्! मैंने आजतक आपके चरणकमलों की पूजन के फल में भी इन्द्रिय-सुख की ही चाह की। मैं अभी तक सच्चे सुख की परिभाषा अर्थात् सच्चा सुख किसे कहते हैं? – यह भी नहीं समझ पाया।

हे प्रभुवर! आप तो विकारों से पूर्णतया भिन्न, अप्रभावित रहते हैं; इसी-लिए आपके चरणों में जगत के सभी माणिक-मोती झुक गए हैं अर्थात् जगत का सम्पूर्ण वैभव आपके समक्ष समर्पित है अथवा वह आपके ज्ञान में प्रति-बिम्बित हो रहा है।

स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं।
उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भव-वारिधि तिरते हैं॥

जिनवाणी स्तवन : हे भगवन! आपकी वाणी स्याद्वाद अर्थात् कथंचित् किसी अपेक्षा से कथन करनेवाली शैली में वस्तु-स्वरूप का निरूपण करती है। अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप के प्रत्येक पक्ष को विशदरूप से स्पष्ट करने के लिए उसमें अनेकों नयों की व्यवस्था है। इसप्रकार उसमें शुभ नयों, सम्यक् नयों के जैसे झरने ही झर रहे हैं। आपकी वाणी इस संसार-सागर से पार होने के लिए पवित्र नाव के समान है; इसकारण लाखों प्राणी उसका आश्रय लेकर संसार-सागर से पार होते रहते हैं।

हे गुरुवर! शाश्वत सुख-दर्शक, यह नग्न-स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करने वाला है॥
जब जग विषयों में रच-पच कर गाफिल निद्रा में सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथ में विष-कंटक बोता हो॥
हो अर्ध निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।
तब शांत निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिंतन करते हो॥

करते तप शैल नदी तट पर, तरुतल वर्षा की झड़ियों में।
समता रस पान किया करते, सुख दुख दोनों की घड़ियों में॥
अन्तरज्वाला हरती वाणी, मानों झड़ती हों फुलझड़ियाँ।
भव-बन्धन तड़-तड़ टूट पड़ें, खिल जावें अंतर की कलियाँ॥
तुम-सा दानी क्या कोई हो, जग को दे दीं जग की निधियाँ।
दिन-रात लुटाया करते हो, सम-सम की अविनश्वर मणियाँ॥
हे निर्मल देव ! तुम्हें प्रणाम, हे ज्ञानदीप आगम ! प्रणाम।
हे शांति, त्याग के मूर्तिमान, शिव-पंथ-पंथी गुरुवर! प्रणाम॥

गुरुस्तवन : हे गुरुवर ! आपका यह नग्नस्वरूप, दिगम्बररूप शाश्वत अविनाशी सुख को बतानेवाला है तथा जगत के परिणमनमात्र की नश्वरता, क्षणभंगुरता को वास्तविकरूप में दिखानेवाला है। हे गुरुवर ! जब जगत में रहनेवाले रागी, द्वेषी जीव पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में रच-पचकर, अत्यधिक आसक्ति के कारण मस्त हो थककर गहरी नींद में सो जाते हैं अथवा मोक्ष के निष्कंटक/विघ्नरहित/निर्बाध मार्ग में विषकंटक/देव-शास्त्र-गुरु-विराधक/आत्मतत्त्व-विराधक विष बुझे काँटे बोते रहते हैं तथा सुनसान अर्धरात्रि में जिससमय जंगल में जंगली प्राणी विचरण करते हैं; उससमय आप अपने शांत और निराकुल मन में तत्त्वों का चिंतन करते रहते हैं।

आप (अधिकांशत: गर्मी में) पर्वतों पर, (ठण्ड में) नदिओं के किनारे तथा वर्षा की झड़िओं में वृक्ष के नीचे तपस्या करते रहते हैं/आत्मसाधना में लीन रहते हैं। लौकिकदृष्टि से अनुकूल-प्रतिकूल/सुख-दु:खरूप मानी जाने वाली सभी घड़िओं, परिस्थितिओं, प्रसंगों में आप समतारस का पान किया करते हैं/साम्यभाव धारण करते हैं।

फुलझड़िओं के झड़ने के समान आपकी वाणी हृदय की विषय-कषाय रूपी ज्वाला को हरती है, नष्ट कर देती है। आपकी वाणी के माध्यम से मेरे भी संसार के बंधन अर्थात् मोहादि विकारीभाव शीघ्रता से नष्ट हो जाएं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी अन्दर की कलिआँ खिल जाएं/विकसित हो जाएं – यही भावना है। जगत को जगत का सम्पूर्ण वैभव दे देने के कारण हे गुरुवर ! आपके समान महा दानी इस जगत में और कौन हो सकता है ? आप जगत के सहजभाव से मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, किसी भी पदार्थ को अपना

नहीं मानते हैं, अपने अनुसार परिणमित कराना नहीं चाहते हैं; जगत से पूर्णतया अप्रभावित रहते हैं।

आप दिन-रात कभी भी नष्ट नहीं होनेवाली समता और शांति की अविनश्वर मणिआँ लुटाया करते हैं अर्थात् स्वयं तो समता और शांतिमय जीवन व्यतीत करते ही हैं; अन्य को भी सतत यही मार्ग दिखा रहे हैं।

मोह, राग, द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों से रहित हे निर्मल देव ! आपको नमस्कार है। सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के लिए दीपक के समान हे आगम/शास्त्र/जिनवाणी ! आपको मेरा नमस्कार है। शांति और त्याग के मूर्तरूप, मोक्षमार्ग के पथिक हे गुरुवर ! आपको मेरा नमस्कार है, नमस्कार है...। ○○○

धन्य आज मैं हो गया

ज्ञानमात्र परमात्मा, परम प्रसिद्ध कराय।
धन्य आज मैं हो गया, निज स्वरूप को पाय॥
चैतन्य में ही मग्न हो, चैतन्य दरशाते अहो।
निर्दोष श्री सर्वज्ञ प्रभुवर, जगत्साक्षी हो विभो॥
सच्चे प्रणेता धर्म के, शिवमार्ग प्रकटाया प्रभो।
कल्याण वाँछक भविजनों, के आप ही आदर्श हो॥
शिवमार्ग पाया आप से, भवि पा रहे अरु पाएंगे।
स्वाराधना से आप सम ही, हुए हो रहे होएंगे॥
तव दिव्यध्वनि में दिव्य-आत्मिक, भाव उद्घोषित हुए।
गणधर गुरु आम्नाय में, शुभ शास्त्र तब निर्मित हुए॥
निर्ग्रन्थ गुरु के ग्रन्थ ये, नित प्रेरणाएं दे रहे।
निजभाव अरु परभाव का, शुभ भेदज्ञान जगा रहे॥
इस दुषम भीषण काल में, जिनदेव का जब हो विरह।
तब मात सम उपकार करते, शास्त्र ही आधार हैं॥
जग से उदास रहें स्वयं में, वास जो नित ही करें।
स्वानुभव मय सहज जीवन, मूल गुण परिपूर्ण हैं॥
नाम लेते ही जिन्हों का, हर्ष मय रोमाँच हो।
संसार-भोगों की व्यथा, मिटती परम आनन्द हो॥
परभाव सब निस्सार दिखते, मात्र दर्शन ही किए।
निजभाव की महिमा जगे, जिनके सहज उपदेश से॥

पाठ २

देव, शास्त्र, गुरु

प्रश्न १ : आचार्य समन्तभद्र स्वामी का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर : अन्य जैनाचार्यों के समान लोकैषणा से अत्यन्त दूर रहनेवाले स्वामी समन्तभद्राचार्य का जीवन-परिचय भी वास्तव में अज्ञात जैसा ही है। इस कलिकाल में जैन और जैनेतरों के मध्य सर्वज्ञ भगवान की सर्वज्ञता का विशद विवेचन करने के कारण कलिकाल-सर्वज्ञ नाम से सुविख्यात तथा जैनदर्शन के सभी पक्षों को अपनी लेखनी से समृद्ध करनेवाले परमपूज्य समन्तभद्र-स्वामी ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। शिलालेख या परवर्ती साहित्य में उन संबंधी जितना जो कुछ भी मिलता है, वह वास्तव में नगण्य-प्राय ही है।

आप कदम्ब वंश के क्षत्रिय राजकुमार थे। आपके बचपन का नाम शांति-वर्मा था। आपका जन्म कावेरी नदी के किनारे स्थित दक्षिण भारत के उरगपुर नामक नगर में विक्रम संवत् द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। आपने अल्पवय में ही जैन दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण कर ली। दिगम्बर जैन साधु होकर आपने घोर तपश्चरण किया तथा अगाध ज्ञान भी प्राप्त किया। आप जैनसिद्धान्त के तलस्पर्शी विद्वान होने के साथ ही तर्क, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य इत्यादि विषयों के भी अद्वितीय विद्वान हैं। आपने अपनी असामान्य वादशक्ति के कारण अनेक स्थानों पर विहारकर अज्ञानीजनों का मद नष्ट किया है। एक स्थान पर आत्म-विश्वास के साथ आप स्वयं लिखते हैं – "**वादार्थी विचराम्यहं नरपतेर्शार्दूलविक्रीडितम्** – हे राजन् ! वाद के लिए मैं शार्दूल/शेर के समान विहार करता हूँ।"

इसीप्रकार अन्यत्र भी आप लिखते हैं – "**राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी** – हे राजन ! मुझ जैन निर्ग्रन्थवादी के सामने जिसकी शक्ति है, वह बोले।"

इसप्रकार आपने अनेक स्थानों पर वाद-विवाद के माध्यम से सर्वज्ञता की पुनर्प्रतिष्ठा कर कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि को सार्थक किया है। आप जैन-

न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। आप संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम स्तुतिकार हैं। आपने स्तुति साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने के साथ ही उसे अत्यंत गंभीर न्यायों से भरा है।

आपके द्वारा लिखित साहित्य में से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत टीका उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनुपलब्ध ग्रन्थों में गंधहस्ति महाभाष्य प्रचलित है।

आपके पश्चात् हुए आचार्यों ने आपका स्मरण अत्यंत सम्मानसूचक शब्दों में किया है। वादिराजसूरि यशोधरचरित्र में आपको 'काव्यमणिकों का आरोहण' तथा वादीभसिंहसूरि गद्यचिन्तामणि में आपको 'सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि' कहते हैं – इत्यादि रूप में अनेकों आचार्यों ने आपको अनेकों विशिष्ट उपाधिओं से सम्बोधित किया है; जिनका उल्लेख कृतिओं तथा शिलालेखों में उपलब्ध है।

आपने काशी नरेश के समक्ष अपना परिचय देते हुए अपनी दश विशेषताओं का परिचय दिया है। वे इसप्रकार – **''हे राजन ! मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादिराट् (शास्त्रार्थिओं में श्रेष्ठ हूँ), पण्डित (दूसरों की रचनाओं को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने में कुशल) हूँ, दैवज्ञ (ज्योतिषी) हूँ, वैद्य हूँ, मंत्र-विशेषज्ञ हूँ, तंत्र-विशेषज्ञ हूँ, इस सम्पूर्ण समुद्रवलया भूमि पर आज्ञासिद्ध हूँ, अधिक क्या कहूँ, मैं सिद्धसारस्वत हूँ।''**

आप अपने समय के एक महान धर्म-प्रचारक रहे हैं। आपने जैन-सिद्धान्तों और जैनाचरणों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का प्रयास किया है। आपका अन्य सम्प्रदायवालों ने भी कभी विरोध नहीं किया।

आपके अविरोध प्रवर्तन का प्रधानकारण आपके अंत:करण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता और वाक्पटुता है। पक्षपात से रहित, स्याद्वाद से संयुक्त होना, आपकी वाणी की मुख्य विशेषता है। आपको पक्षाग्रह, दुराग्रह रंचमात्र स्वीकार नहीं है। आप स्वयं तो परीक्षा-प्रधानी हैं ही; अन्य को भी निष्पक्षदृष्टि से स्व-पर सिद्धान्तों के ऊपर गंभीरता से विचारकर परीक्षाप्रधानी बनने की प्रेरणा देते हैं।

इसप्रकार आपके पवित्र, बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न जीवन का तथा साहित्य-सृजन का जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महान योगदान रहा है/रहेगा।

प्रश्न २ : अष्टद्रव्य से पूजन करने के लिए मुख्यरूप से धोती-दुपट्टारूप वेशभूषा क्यों सुनिश्चित की गई है ?

उत्तर : वास्तव में धोती-दुपट्टा वेश स्वयं ही चित्त की प्रसन्नता, सात्त्विकता, विनयशीलता आदि भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है। वह इसप्रकार है –

१. प्राय: धोती-दुपट्टा कपास आदि से निर्मित होने के कारण, उनमें अन्य वस्त्रों की अपेक्षा हिंसा आदि कम हैं; अत: अहिंसामय अपने आराध्यों की आराधना के लिए यह वेश सर्वोत्कृष्ट है।

२. यह वेश पहिनने में सरल, सुगम, ढीला-ढाला होने से, इसमें शारीरिक अंगोपांगों का प्रदर्शन नहीं होता है। जो कि शील-संरक्षण के लिए परम आवश्यक है।

३. यह परिणामों की विशुद्धि का सूचक होने से जनसामान्य के लिए विश्वसनीय वेश है; अत: सर्वप्रपंचों से रहित धार्मिक कार्यों में इसे मान्यता प्राप्त है।

४. जैसे पुलिस, न्यायालय, चिकित्सालय आदि में अपनी-अपनी सुनिश्चित वेशभूषा से, बिना कहे उस व्यक्ति के कार्य की पहिचान हो जाती है; उसीप्रकार धार्मिक क्षेत्र के पूजन आदि कार्यों की वेशभूषा धोती-दुपट्टा को धारण करने पर बिना कहे ही उस कार्य की पहिचान हो जाती है।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से पूजन आदि कार्यों की वेशभूषा धोती-दुपट्टा रखी गई है।

प्रश्न ३ : जैनधर्म में अष्टमी, चतुर्दशी तिथिओं का विशेष महत्त्व क्यों है?

उत्तर : जैनधर्म में परिणामों की विशुद्धता तथा आत्मसाधना की दृष्टि से अष्टमी-चतुर्दशी को अनादि-अनन्त पर्व माना गया है।

अष्टमी तिथि को पर्व मानने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं –

१. प्रत्येक प्राणी का उद्देश्य परिपूर्ण सुखमयदशा प्राप्त करना है। परिपूर्ण सुखमय सिद्ध भगवान हैं। उनके मुख्यरूप से सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्रसिद्ध हैं। उनकी स्मृतिरूप में अष्टमी तिथि पर्व मानी गई है।

२. सिद्धदशा आठों कर्मों से रहित दशा है। उन कर्मों को नष्ट करने के प्रतीक रूप में यह पर्व प्रसिद्ध है।

३. श्रावक के आठ मूलगुण प्रसिद्ध हैं। उनके निरतिचार पालन के लिए यह तिथि प्रसिद्ध है।

४. मोक्ष का तीव्र वेगवाला पुरुषार्थ श्रेणी-आरोहण के समय से अर्थात् ८वें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। उसके प्रतीकरूप में अष्टमी तिथि प्रसिद्ध है।

५. आत्मसाधना के लिए पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप 'अष्ट प्रवचन-मातृका' का ज्ञान पर्याप्त है; अत: विशेष ज्ञान-वृद्धि की लालसा से बस हो। – इसप्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान के प्रति आकर्षण नष्ट करने के प्रतीकरूप में अष्टमी तिथि प्रसिद्ध है।

इत्यादि कारणों से अष्टमी तिथि को अनादि-अनन्त पर्व माना गया है।

चतुर्दशी तिथि को पर्व मानने के कुछ कारण निम्नलिखित हैं –

१. सिद्ध दशा चौदह गुणस्थानों से पार है। उसे प्राप्त करने के लिए अर्थात् चौदह गुणस्थानों से पार होने के लिए चतुर्दशी पर्व स्मृतिरूप में मनाया जाता है।

२. चौदह जीवसमास, चौदह मार्गणास्थान में भटकने के कारण यह जीव दु:ख भोग रहा है। इनसे पार होने के प्रतीकरूप में यह पर्व प्रसिद्ध है।

३. चार गति, चौरासी लाख योनिओं में भटकने का मुख्य कारण चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह है। उसके त्याग की स्मृतिरूप में चतुर्दशी पर्व प्रसिद्ध है।

४. जगत में चन्द्रमा की सोलह कलाएं प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रथम कला तो सदा व्यक्त ही रहती है। शेष दूसरी, तीसरी आदि क्रमश: विकसित होते-होते सोलहवीं कला अर्थात् नवीन विकसित चौदहवीं कला के बाद पन्द्रहवीं कला चंद्रमा का पूर्ण विकसितरूप है। आत्मा के विकास का भी लगभग ऐसा ही क्रम है। पर्याय नामक ज्ञान तो सदैव विकसित ही रहता है। इसके बाद अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप-स्थिरता के बल पर क्रमश: बढ़ते-बढ़ते चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति संसार दशा में आत्मविकास की चरम अवस्था है। इसके तत्काल बाद सिद्धदशा प्रगट होती है। इसके प्रतीकरूप में चतुर्दशी पर्व सर्वमान्य है।

इत्यादि अनेक कारणों से चतुर्दशी तिथि को अनादि-अनन्त पर्व माना गया है।

इसप्रकार जैनधर्म में अष्टमी और चतुर्दशी तिथिआँ अनाद्यनन्त पर्वरूप में मान्य होने के कारण इनका विशेष महत्त्व है।

प्रश्न ४ : पूजन किसकी और क्यों की जाती है?

उत्तर : पूजन आत्महित की भावना को दृष्टि में रखकर की जाती है। आत्म-

हित में मात्र सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ही निमित्त होते हैं; अत: उनकी ही पूजन की जाती है। सर्व सांसारिक प्रपंचों से पार होने के कारण वे किसी को कुछ देते-लेते नहीं हैं। वास्तव में एक-दूसरे के प्रति लेन-देन का व्यवहार वस्तु-व्यवस्था में सम्भव ही नहीं है; अत: मात्र उन जैसा परमसुखी बनने के लिए, उनके समान अपने गुणों को अपने अंदर स्वयं से ही विकसित करने के लिए, उनकी पूजन की जाती है। वे स्वयं ही समस्त सांसारिक पदार्थों के पूर्णतया त्यागी होने से, उनसे कोई भी सांसारिक पदार्थ माँगना पूर्णतया अनुचित है। उन्हें देखकर उनके गुणों का विचार करने से, उनके समान बनने की तीव्रतम भावना हमारे मन में जागृत होती है; अत: उनकी ही पूजन आदि करना चाहिए।

प्रश्न ५ : सच्चा देव किसे कहते हैं?

उत्तर : जैनधर्म में व्यक्ति की मुख्यता नहीं है, किसी विशिष्ट नाम की भी मुख्यता नहीं है। अपने गुणों के कारण ही व्यक्ति महान होता है। वीतरागता आदि ही महान गुण हैं। जिसमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता होती है, वही सच्चा देव है।

जिनमें किसी के भी प्रति रंचमात्र भी राग, द्वेष नहीं हैं। जो न तो स्वयं किसी से प्रभावित होते हैं और न ही किसी को प्रभावित करते हैं; जो जन्म, मरण आदि अठारह दोषों से पूर्णतया रहित हैं; भूख, प्यास आदि सभी शारीरिक बाधाएं जिनके पूर्णतया नष्ट हो गई हैं; जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली है, जो जितेन्द्रिय हो गए हैं;वे वीतराग हैं।

ये वीतरागी ही ज्ञान का परिपूर्ण विकास हो जाने पर तीन काल, तीन लोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को, उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित प्रतिसमय एक साथ प्रत्यक्षरूप में वर्तमानवत जानने-देखने के कारण सर्वज्ञ कहलाते हैं।

उपर्युक्त वीतरागी और सर्वज्ञ ही हितकारक उपदेश देने के कारण हितोप-देशी कहलाते हैं।

इसप्रकार वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक – इन तीन गुणों से सहित व्यक्ति ही सच्चे देव या आप्त कहलाते हैं।

प्रश्न ६ : सच्चे शास्त्र किसे कहते हैं? उनकी सच्चाई और अच्छाई/कल्याण-कारकता का आधार क्या है?

उत्तर : जो शास्त्र सच्चे देव के उपदेशानुसार होते हैं, जिनमें कहीं भी वस्तु के

स्वरूप का प्रतिपादन करने में परस्पर विरुद्धता नहीं होती है; सर्वत्र वीतरागता के पोषक होने से जिनका उल्लंघन करना, खण्डन करना असंभव है; जो वस्तु के आधार पर वस्तु के सही स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, सभी जीवों के लिए हितकर हैं, कुमार्ग से हटाकर सच्चे मार्ग पर लाने में निमित्तभूत हैं, वे शास्त्र ही सच्चे शास्त्र कहलाते हैं।

वीतरागता, सर्वज्ञतामय सच्चे देव की वाणी होने के कारण ये सच्चे और अच्छे/कल्याणकारक हैं। अज्ञानता के कारण व्यक्ति झूठ/असत्य बोलता है। सच्चे देव सब कुछ जाननेवाले सर्वज्ञ होने के कारण किसी भी पदार्थ सम्बन्धी रंचमात्र भी अज्ञान उनके नहीं है; अत: उनका उपदेश नियम से सच्चा होता है।

जीव राग, द्वेषादि के वशीभूत होकर भी अहितकारक वचन बोलता है। सच्चे देव पूर्ण वीतराग होने के कारण, किसी भी रूप में रागादि विद्यमान नहीं होने से, उनका उपदेश अच्छा/कल्याणकारक ही होता है।

इसप्रकार जिनवाणीमय सच्चे शास्त्र की सच्चाई और अच्छाई/कल्याण-कारकता का आधार सर्वज्ञता और वीतरागता है।

प्रश्न ७ : सच्चे गुरु किसे कहते हैं? उनकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए विद्यागुरु और सच्चे गुरु का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिनवाणी के सम्पूर्ण रहस्य को जानकर जो आत्मा में स्थिर रहते हैं। आत्मस्थिर नहीं रह पाने पर आत्मस्थिरता में कारणभूत स्वाध्यायादि रूप ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकार के आरंभ और परिग्रह से सर्वथा रहित होते हैं। जिनका जीवन रंचमात्र भी विषय-भोगों की लालसा के अधीन नहीं होता है; अर्थात् जो उनकी लालसा से पूर्णतया रहित हैं; जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप सम्यक्रत्नत्रय से सहित हैं; जिनका बाह्य-आचरण भी आगम के अनुकूल है। –ऐसे आत्मज्ञानी-ध्यानी नग्न दिगम्बर मुनिराज सच्चे गुरु हैं।

विद्यागुरु हमारे ज्ञान में कारण होने से, हमारे पूर्णतया व्यक्तिगत कार्य में निमित्त होने के कारण, भूमिकानुसार आदरणीय, सम्माननीय हैं; परन्तु सच्चे गुरुओं की गुरुता निरपेक्ष गुरुता है। किसी के ज्ञान में निमित्त होने या नहीं होने से उनकी पूज्यता में कोई अंतर नहीं आता है। वे वास्तव में अपनी वीतरागता के कारण पूज्य हैं।

यद्यपि सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न उपाध्याय परमेष्ठी भी अपने संघ में अन्य

मुनिराजों के विद्यागुरु होते हैं; तथापि उनकी पूज्यता मुख्यतया उनकी प्रगट वीतरागता के कारण है, मुनिराजों के विद्यागुरु होने के कारण नहीं है।

जैनधर्म में वीतराग-विज्ञानता ही पूज्य है। लौकिक विद्यागुरुओं में, शिक्षा-गुरुओं में या अध्यापकों में उसका अभाव होने से वे सच्चे गुरु के समान अष्टद्रव्य से पूजनीय, वंदनीय नहीं हैं; मात्र यथायोग्य आदर-सत्कार करने के योग्य हैं।

प्रश्न ८ : क्या आत्मज्ञान के बिना क्रियाकाण्ड अर्थात् बाह्य-आचरण या व्यवहार चारित्र व्यर्थ है?

उत्तर : वास्तव में अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें लीनता ही धर्म है, चारित्र है। स्वयं की कमजोरी के कारण आत्मस्वरूप में लीनता प्रारम्भिक भूमिका में पूर्ण नहीं हो पाती है; उस समय शेष रही कषायें व्रत, शील, संयमादि रूप में अपना कार्य करती हैं; इसे ही बाह्य-आचरण या उपचार से व्यवहार-चारित्र कह दिया जाता है। गुणस्थानानुसार यह वास्तविक धर्म के साथ सदा विद्यमान रहता ही है; अत: उपचार से धर्म भी कहलाने लगता है; परन्तु वास्तव में कषायमय होने के कारण यह कर्मबंध का ही निमित्त है, मोक्ष का कारण नहीं है; अत: मोक्ष की दृष्टि से व्यर्थ ही है। इसके साथ होनेवाली शारीरिक क्रियाएं तो पूर्णतया जड़ पुद्गलमय होने से न तो बंध की कारण हैं और न मोक्ष की ही। उनसे मात्र अन्दर के परिणामों का कदाचित् ज्ञान हो जाता है।

बाह्याचरण या व्यवहार चारित्र की मोक्षमार्ग में वास्तविक भूमिका यह ही है। इसे जिनवाणी के आलोक में हमें यथार्थरूप से समझना चाहिए।

ooo

जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे, यह तेरा कैसा जैनपना है ? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-शास्त्र-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है; वह घर धन्य है और इसके बिना तो घर श्मशान-तुल्य है।

– युगपुरुष कानजी स्वामी

पाठ ३

सातत्तत्त्वों सम्बन्धी भूल

(पं. दौलतरामजी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व प्रस्तुत पुस्तिका के पृष्ठ १ पर देखिए)

प्रश्न १ : सातत्तत्त्वों संबंधी भूल किसकी है? उसे जानना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : वास्तव में सात तत्त्वों संबंधी भूलें सात तत्त्वों की नहीं हैं; एक मात्र जीव की अर्थात् उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी प्रगट परिणमन की ये भूलें हैं। सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल जीव के अतिरिक्त अजीव आदि अन्य तत्त्व नहीं करते हैं; मात्र जीव ही करता है।

जीवादि सात तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझे बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अनादिकाल से ही जीव की इनके सम्बन्ध में भ्रांति चल रही है। उन भ्रांतिओं का स्वरूप स्पष्टतया पूर्णरूप में समझे बिना उन्हें मिटाना सम्भव नहीं है; अत: उन्हें समझना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न २ : जीव की जीव-अजीव तत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : पं. दौलतरामजी ने छहढाला की द्वितीय ढाल में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीवचाल॥
ताको न जान विपरीत मान करि करै देह में निज पिछान।
मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव॥
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान॥''

जीव को अजीव मान लेना, जीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता है तथा अजीव को जीव मानना, अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता है।

यद्यपि सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दोनों तत्त्व भी पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं; तथापि एक दूसरे रूप मान लेने के कारण इन दोनों तत्त्वों संबंधी भूल को एक साथ स्पष्ट किया जाता है। वह इसप्रकार है–

जीव ज्ञान-दर्शन स्वभावी अमूर्तिक तत्त्व है; स्पर्श, रस, गंध, वर्णयुक्त

पुद्गल से बने शरीर आदि मूर्तिक तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यरूप अमूर्तिक से भी जीव का स्वभाव, जीव का परिणमन अत्यंत भिन्न है; तथापि यह आत्मा इस भिन्नता को नहीं जानने के कारण अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर, शरीर की सुन्दरता से स्वयं को सुन्दर, शरीर की कुरूपता से स्वयं को कुरूप, शरीर के उत्पन्न होने या नष्ट होने को अपनी उत्पत्ति या विनाश मानता है। शरीर की मोटी, पतली, स्वस्थ, अस्वस्थ आदि सभी दशाओं को अपनी दशाएं मानता है। शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्रादि में भी अपनेपन की बुद्धि रखता है। शरीर के आश्रित होनेवाली उपवास आदि या उपदेश आदि क्रियाओं में भी अपनत्वबुद्धि करता है। अधिक क्या कहें? शरीर की प्रत्येक दशा को अपनी दशा मानता है। – यह जीव की जीवतत्त्व के सम्बन्ध में विपरीत मान्यता है।

इसीप्रकार अजीव को जीव मान लेने के कारण अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, दुःख आदि में निमित्त होनेवाले शरीर आदि परपदार्थरूप अपना अनुभव करता है। जैसे – मेरी आँख बहुत अच्छा देखती है, मेरे कान बहुत अच्छा सुनते हैं इत्यादि। इसमें यद्यपि जानने-देखने का काम जीव का है; तथापि यह भ्रम से पुद्गलमय इन्द्रियों को जानने-देखनेवाला मानता है। इसीप्रकार शरीर के लिए अनुकूल सुविधाएं मिल जाने पर, उनसे स्वयं को सुखी तथा शरीर के लिए प्रतिकूल परिस्थितिआँ बन जाने पर स्वयं को उनसे दुःखी मानता है। यद्यपि सुख-दुःख का वेदन पूर्णतया जीवमय है; तथापि यह उसका सम्बन्ध पुद्गल से जोड़ता है। – यह अजीव को जीव मानने संबंधी जीव की अजीव-तत्त्व के सम्बन्ध में भूल है।

इसप्रकार जीव को शरीर आदि अजीवरूप मानना तथा शरीर आदि अजीव को ज्ञान-दर्शनमय जीवरूप मानना, जीव की जीव-अजीव तत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ३ : जीव की आस्रवतत्त्व के संबंध में होनेवाली विपरीत मान्यता लिखिए।

उत्तर : इसे स्पष्ट करते हुए वहीं, वे लिखते हैं –

''रागादि प्रगट ये दुःखदेन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।''

पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभाव स्पष्टरूप में दुःखमय तथा दुःख के कारण हैं; परन्तु यह जीव भ्रम से सतत

उनमें ही लीन रहता हुआ स्वयं को सुखी मानता है। पंचेन्द्रिय विषय-भोगसंबंधी अशुभभाव अथवा घर-कुटुम्ब आदि का पालन-पोषण करने संबंधी अशुभभाव प्रतिसमय आकुलतामय तथा आकुलता के कारण प्रतीत होते हैं; परन्तु यह जीव भ्रम से उनके कारण स्वयं को सुखी मानता है। अशुभभाव के समान ही व्रत, शील, संयम, देवपूजा, गुरु-उपासना आदि शुभभाव भी प्रगट आकुलतामय तथा आकुलता के कारण हैं। इन शुभ-भावों से भी देवादि गतिओं का बंध ही होता है, अशुभभाव के समान संसार ही बढ़ता है; परन्तु यह अज्ञानी जीव उन्हें हितकर, सुखकर मानता है।

वास्तव में चारों ही गतिआँ संसारमय दु:खस्वरूप तथा कर्मबंधनमय हैं। उनमें स्वर्ग, नरक आदि के रूप में अच्छी-बुरी का भेद करना उचित नहीं है। स्वर्ग में सुख तथा नरक में दु:ख मानना अपनी भ्रमजन्य अज्ञानता है। जब सभी गतिआँ जन्म, मरण के दु:खों से परिपूर्ण हैं; अस्थिर और पराधीनतामय हैं; तब वहाँ सुख कैसे मिल सकता है? अत: इन गतिओं के कारणभूत प्रगट दु:खमय शुभाशुभभावों को सुखमय तथा सुख का कारण मानना, जीव की आस्रवतत्त्व के सम्बन्ध में विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ४ : जीव की बंधतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता लिखिए।

उत्तर : इसे स्पष्ट करते हुए वहीं, वे लिखते हैं –

''शुभ अशुभ बंध के फल मँझार, रति अरति करै निज पद विसार।।''

शुभाशुभभावों से होनेवाले शुभाशुभ कर्मबंध के उदय में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री का संयोग होता है। वास्तव में कोई भी परपदार्थ सुख-दु:ख का कारण नहीं है; तथापि यह जीव अपनी अज्ञानता के कारण शुभ-कर्मोदय के फलस्वरूप उपलब्ध अनुकूल सामग्री में सुख मानता है, उनसे ममत्व आदि करता है; तथा अशुभ कर्मोदय के फलस्वरूप उपलब्ध सामग्री को प्रतिकूल मानकर दुखी होता है, उनसे द्वेष करता है। वास्तव में किसी भी सामग्री को सुख-दु:ख का कारण मानना, उनसे राग-द्वेष करना, उन्हें मिलाने या हटाने का प्रयास करना, स्वयं ही अनंत आकुलतामय, दु:खरूप ही है। उनमें रंचमात्र भी सुख नहीं है।

सुखमय दशा तो सभीप्रकार के शुभाशुभ बंधन के पूर्णतया नष्ट होने पर प्रगट होने वाली स्वतंत्र, स्वाधीन, अतीन्द्रिय आनंदमय, निर्बन्ध मोक्षदशा

ही है। इसे नहीं पहिचानकर शुभाशुभ कर्मबंध के फल को ही सुख-दुःख का कारण मानना जीव की बंधतत्त्व के सम्बन्ध में विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ५ : आस्रव और बंधतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता में पारस्परिक अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : कर्मबंधन के कारणभूत शुभाशुभभावों को सुख-दुःखमय मानना आस्रव तत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता है तथा कर्मोदय में प्राप्त अर्थात् कर्म-फलमय सामग्री को सुख-दुःखमय मानना, बंधतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता है; अर्थात् संसार के कारणभूत मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि परलक्ष्यी भावों को सुख-दुःखमय मानना आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल है तथा कर्मोदय की फलभूत सांसारिक सामग्री को अनुकूल, प्रतिकूल, इष्ट, अनिष्ट मानना; पंचेन्द्रिय विषय-भोग की सामग्री को अच्छा-बुरा मानना, सुखमय-दुःखमय मानना बंध तत्त्व सम्बन्धी जीव की भूल है।

प्रश्न ६ : संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल लिखिए।

उत्तर : इसे स्पष्ट करते हुए वे, वहीं लिखते हैं –

''आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान।।''

आत्मज्ञान और आत्मज्ञान सहित वैराग्य अर्थात् स्व में प्रवृत्तिपूर्वक पर पदार्थों से निर्वृत्ति जीव की स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वाभाविक क्रिया होने से सुखमय है; संसार या कर्मबंधन को नष्ट करनेवाली है; तथापि यह जीव अपनी अज्ञानता से उसे दुःखमय तथा दुःखदायक मानता है।

आत्मज्ञान-वैराग्य आदि क्रियाएं आत्मा के ही लक्ष्य से उत्पन्न होने के कारण उन्हें प्रगट करना अत्यंत सरल, स्वाधीन है; पर से पूर्णतया निरपेक्ष, अतीन्द्रिय आनन्दमय है; तथापि यह जीव उन्हें दुःखमय मानता है, उन्हें प्रगट करना भी कष्टदायक मानता है। – इसप्रकार **आत्मज्ञान, वैराग्यरूप तथा कर्मबंधन को रोकनेवाली स्वतंत्र, स्वाधीन, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न वीतरागी भावों को दुःखमय मानना, संवरतत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली जीव की भूल है।**

प्रश्न ७ : निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल लिखिए।

उत्तर : इसे स्पष्ट करते हुए वे, वहीं लिखते हैं –

''रोके न चाह निज शक्ति खोय।।''

अनन्त गुणात्मक आत्म-वैभव का सम्यग्ज्ञान हो जाने से परपदार्थों संबंधी इच्छाएं, लालसाएं स्वयमेव उत्पन्न नहीं होती हैं; यही आनन्दमय दशा है; परन्तु अपने वैभव को नहीं पहिचानने के कारण आत्मशक्ति को भूलकर परपदार्थों सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति में ही यह जीव स्वयं को सुखी मानता है। इच्छा का अभाव करना अर्थात् आत्मवैभव के बल पर इच्छाएं उत्पन्न ही नहीं होना, अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा है; –यह उसे समझ में नहीं आता है; अत: अज्ञानता से सतत इच्छाओं की पूर्ति करने में आसक्त रहता है।

इसप्रकार **आत्म-वैभव को नहीं पहिचानने से स्वयं में संतुष्ट नहीं होने के कारण, परपदार्थों सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति से ही स्वयं को सुखी मानना, जीव की निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल है।**

प्रश्न ८ : मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल लिखिए।

उत्तर : इसे स्पष्ट करते हुए वे, वहीं लिखते हैं –

''शिवरूप निराकुलता न जोय॥''

परिपूर्ण निराकुलतामय, वास्तविक सुखरूप मोक्षदशा है। उसे नहीं जानने के कारण पंचेन्द्रिय विषयभोग सम्बन्धी सुख को ही सुख मानना तथा मोक्ष दशा में भी इसी जाति के अनन्त सुख की कल्पना करना, मोक्षतत्त्व के संबंध में जीव की भूल है।

यह जीव ऐसा मानता है कि सामग्रिआँ कम होने के कारण पंचेन्द्रिय विषयजन्य सुख हमें कम है। यही पंचेन्द्रिय विषयजन्य सुख जब अनन्तगुणा अधिक प्राप्त हो जाता है, तब हम परिपूर्ण सुखी हो जाते हैं। यही मोक्षदशा है; परन्तु वह यह नहीं समझ पाता है कि वास्तव में पंचेन्द्रिय विषयजन्य सुख आकुलतामय है; पराधीन, विषम, कर्मबंध का कारण तथा कर्मसापेक्ष होने से सुख नहीं, सुखाभास है; दु:ख ही है; इससे विरुद्ध अतीन्द्रिय निराकुलतामय, स्वाधीन, पूर्णतया पर से निरपेक्ष, कर्मबंधनरहित, अव्याबाध सुख ही वास्तविक सुख है।

इसप्रकार **पंचेन्द्रिय विषय-भोग-विषयक सुख से ही अनन्तगुणा सुख मोक्ष दशा में मानना, मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली जीव की विपरीत मान्यता है।**

प्रश्न ९ : 'जैसा सुख हमें है, वैसा ही; परन्तु उससे कई गुणा अधिक सुख मुक्त जीवों को है' – ऐसा मानने में क्या बाधा है?

उत्तर : 'जैसा सुख हमें है, वैसा ही; परन्तु उसकी अपेक्षा कई गुणा अधिक सुख मुक्त जीवों को है'–ऐसा मानना मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में जीव की विपरीत मान्यता है; अर्थात् यह मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल है। वह इसप्रकार है–

वर्तमान में हमें वास्तव में जो पंचेन्द्रिय विषय-जन्य, पराधीन, आकुलता मय, पर-सापेक्ष सुख है; वह सुख नहीं, सुखाभास है; वास्तव में दुःख ही है। इससे विपरीत सिद्ध भगवान का सुख अतीन्द्रिय, स्वाधीनतारूप, परिपूर्ण निराकुलतामय है। उन्हें अपने सुख के लिए किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। यह ही वास्तविक सुख है। – इसप्रकार दोनों सुख पृथक्-पृथक् जाति के हैं।

इसे नहीं पहिचानकर अपने आकुलतामय सुख (सुखाभास, दुःख) से कई गुणा सुख सिद्धों में मानना, वास्तव में सुख के स्वरूप को ही नहीं पहिचानने रूप अज्ञानता है। **जो आकुलता की थोड़ी सी कमी को ही वास्तविक सुख मानता है; वह निराकुल होने का, आकुलता को पूर्णरूप से नष्ट करने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? – इसप्रकार सिद्धों को अपने समान ही, पर अपने से कई गुणा अधिक सुखी मानना; सुख के स्वरूप को नहीं पहिचानने के कारण मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली जीव की विपरीत मान्यता है।**

प्रश्न १० : 'यदि परस्पर प्रेम (राग) करोगे, तो आनन्द में रहोगे' – क्या यह मान्यता ठीक है?

उत्तर : 'परस्पर प्रेम करेंगे अर्थात् अनुराग करेंगे, तो आनन्द से रहेंगे' – ऐसा मानना, आस्रवतत्त्व के सम्बन्ध में जीव की विपरीत मान्यता है; अर्थात् आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल है। वह इसप्रकार है –

प्रेम करना, परस्पर अनुराग रखना, स्वयं आकुलतामय तथा आकुलता का कारण है; परलक्ष्यी परिणमन होने से स्वयं आस्रवमय तथा बंध का कारण है। उसे सुखमय, आनन्दमय मानना, विपरीत मान्यता है। कभी भी पर-प्रवृत्ति, बंधनमय दशा किसी को भी, किसी भी अवस्था में, सुखमय, आनंदमय नहीं हो सकती है।

लोक में भी परस्पर का प्रेम, अनुराग ही सर्वाधिक कलह का कारण माना जाता है। कहा भी जाता है कि ''जर, जोरू अरु जमीन, झगड़े की जड़ तीन। जर/सम्पत्ति, जोरू/पत्नी और जमीन – इन तीनों के प्रति अनुराग झगड़े की जड़ माना गया है।'' – इसप्रकार जो प्रेम लोक में भी स्पष्टतया कलहकारक

देखा जाता है, वह आनन्दमय कैसे हो सकता है? अत: परस्पर प्रेम से रहने में आनंद मानना, आस्रवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता है। जब तक यह मान्यता रहेगी, तबतक सम्यक्रत्नत्रय होना, आनन्दमय जीवन होना असंभव है।

पर के प्रति राग-द्वेष से रहित साम्यभाव/माध्यस्थ्यभाव रखते हुए स्व-रूप-स्थिरता ही आनन्दमय जीवन है।

प्रश्न ११ : 'तत्त्वज्ञान प्राप्त करना कष्टकर है'—क्या यह कथन सत्य है? यदि नहीं तो क्यों?

उत्तर : 'तत्त्वज्ञान प्राप्त करना कष्टकर है'—यह कथन पूर्णतया असत्य है। तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तु के वास्तविक स्वरूप की सही जानकारी। वस्तु का वास्तविक स्वरूप अनादि-अनंत, एक समान रहने के कारण उसे समझना अत्यंत सरल है; तथा उसके सम्बन्ध में अज्ञानता रहने पर वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध प्रवृत्ति करने से अनेकानेक संकट सहन करने पड़ते हैं। उन संकटों से बचने के लिए वस्तु का वास्तविक स्वरूप ज्ञात कर लेना, समझ लेना ही एकमात्र उपाय है।

अज्ञानी जीव को अनादिकाल से ही विपरीत प्रवृत्तिओं का अभ्यास होने के कारण असंभव कार्य भी अपनी विपरीत मान्यताओं से सरलतापूर्वक सम्पन्न होते हुए प्रतीत होते हैं। परपदार्थों को अपना बना पाना असंभव है, शरीरादि परद्रव्यों की क्रियाएं जीव द्वारा हो पानी असंभव हैं; पराधीनता में सुख का वेदन असंभव है; तथापि इस अज्ञानी जीव को अनादि संस्कारवश उपर्युक्त विपरीत मान्यताएं पुष्ट करना, तदनुसार कार्य करना, भ्रम से सरल लगता है तथा वस्तु का सही स्वरूप समझना कठिन लगता है।

ऐसी स्थिति में भी यदि वह शांतचित्त से गंभीरतापूर्वक विचार करे तो स्वयं यह अनुभव करेगा कि वास्तव में आज पर्यन्त मैं एक भी परवस्तु को अपना नहीं बना सका, शरीरादि परद्रव्यों की एक छोटी सी क्रिया को भी नहीं कर सका, पराधीनता में रंचमात्र भी सुख नहीं पा सका; अत: इसमें सफल होना कठिन ही नहीं, सर्वथा असंभव है।

इसके विपरीत स्वयं को जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन, सुखमय, स्वयं का ही कार्य होने से अत्यंत सरल, सुगम तथा पूर्णतया सफलतम सम्भव कार्य है; अत: इसे करना कष्टकर मानना, सर्वथा असत्य है, तीव्र विपरीत मान्यता का ही यह परिणाम है। ○○○

पाठ ४

चार अनुयोग

प्रश्न १ : आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व लिखिए।
उत्तर : आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी राजस्थान प्रान्त के 'जैनिओं की काशी' रूप में सुप्रसिद्ध जयपुर नगर के सुप्रतिष्ठित विद्वानों में अग्रगण्य हैं। आपका अधिकांश जीवन राजस्थान की राजधानी जयपुर में ही व्यतीत हुआ था; तथापि आजीविका के लिए आपको प्रारम्भिक कुछ समय सिंघाणा में व्यतीत करना पड़ा। वहाँ आप दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

सरस्वती माँ के वरदपुत्र रूप आपका काल अठारहवीं शती माना जाता है। आपने लगभग विक्रम सम्वत् १७७६-७७ से लेकर विक्रम सम्वत् १८२३-२४ पर्यन्त इस भारतभूमि को अपनी विद्यमानता से समलंकृत किया। खण्डेलवाल जाति स्थित गोदिका गोत्र के नररत्न के रूप में आपने पिता जोगीदास तथा माता रम्भादेवी की कूख को पवित्र किया। आपके हरिश्चन्द्र और गुमानीराम नामक दो पुत्र थे।

आपका जीवनकाल भारत का संक्रान्तिकालीन युग का काल है। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता, सामाजिक जीवन में आडम्बर – ये सभी अपने चरमोत्कर्ष पर थे। इन सभी से पण्डितजी को संघर्ष करना था; जिसे उन्होंने डटकर किया; प्राणों की बाजी लगाकर भी किया।

पण्डित टोडरमलजी गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिकपुरुष हैं। आप स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययन-शील, प्रतिभासम्पन्न, बाह्याडम्बर-विरोधी, दृढ़-श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी भी नहीं झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त ग्रंथों के सफल टीकाकार, परोपकारी, प्रामाणिक महा-मानव हैं।

आपने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएं रची हैं; जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण तथा पाँच हजार पृष्ठों के आसपास हैं। उनमें से कुछ मौ-लिक और कुछ भाषा टीकाएं हैं। मौलिक रचनाओं में मोक्षमार्ग-प्रकाशक,

रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार-पूजन और समवसरण-रचना-वर्णन – ये चार सर्वमान्य कृतिआँ हैं। टीका-रचनाओं में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा-टीका, आत्मानुशासन भाषा-टीका, त्रिलोकसार भाषा-टीका तथा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका है। सम्यग्ज्ञानचंद्रिका में गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा-टीका, गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषाटीका, अर्थसंदृष्टि अधिकार, लब्धिसार भाषा-टीका और क्षपणासार भाषा-टीका का संग्रह है।

आपके द्वारा रचित मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रंथ अध्यात्मगर्भित आगमशैली की अनुपम रचना है। अनादिकालीन प्रचलित मिथ्या मान्यताओं को जड़मूल से नष्ट कर सम्यक् मोक्षमार्ग का दिशा-निर्देश करने में पूर्ण सक्षम है। यद्यपि यह रचना अपूर्ण है; तथापि आत्महित की दृष्टि से अपूर्व है। शायद इस कृति के कारण ही आपको आचार्यकल्प की उपाधि से विभूषित किया गया है।

आपका सम्पूर्ण जीवन प्राणीमात्र को धर्मानुरागमय अन्तस्प्रेरणा का प्रतीक है। आपकी अल्पकालिक जीवन में की गई गंभीरतम साहित्यिक साधना/कृतिओं से प्राणीमात्र सदैव उपकृत रहेगा।

प्रश्न २ : अनुयोग का स्वरूप लिखते हुए उसके भेद बताइए।

उत्तर : वीतरागता की पोषक जिनेन्द्र भगवान की वाणी, जिनवाणी सुखमय जीवन जीने की विधि बतलाने के कारण शास्त्र कहलाती है। इन शास्त्रों की कथन-पद्धति को, किसी भी विषय का विश्लेषण करने की शैली को, अनुयोग कहते हैं। ये चार हैं – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रश्न ३ : प्रथमानुयोग का स्वरूप बताते हुए उसकी कथन-पद्धति और विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।

उत्तर : जिन शास्त्रों में मुख्यतया महापुरुषों की कथाओं के माध्यम से, जीवनचरित्र के माध्यम से, संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल और महापुरुषों की प्रवृत्तिआँ बताकर जीवों को धर्म में लगाया जाता है, वीतरागता की ओर ले जाया जाता है; उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते हैं।

रागी, तुच्छबुद्धि जीवों का मन सीधा वस्तु के सूक्ष्म निरूपण में नहीं लगता है; अत: उन्हें कहानी के माध्यम से तत्त्व समझाया जाता है। जिसप्रकार बच्चों को बतासे के साथ औषधि दी जाती है; उसीप्रकार अल्पमती जीवों को कथा-कहानिओं के माध्यम से तत्त्व समझाया जाता है, धर्म में रुचि उत्पन्न कर वैराग्य की पुष्टि की जाती है।

तत्त्वज्ञानी जीवों को यह अनुयोग तत्त्वों के उदाहरणरूप प्रतिभासित होता है। जैसे – जीव की अनादि-अनन्तता को इस अनुयोग में जीव के भव-भवान्तरों की चर्चा करके सिद्ध किया जाता है। शुभाशुभभाव दुःखमय तथा संसारवर्धक हैं; संयोग असार तथा क्षणभंगुर हैं; एकमात्र शुद्धोपयोग ही सुखमय, सुखदायक तथा संसारनाशक है – इन सभी की सिद्धि इस अनुयोग में कहानिओं के माध्यम से की जाती है।

निष्कर्ष यह है कि इस अनुयोग में जैसे बने तैसे, प्राणीमात्र को धर्म में लगाने का प्रयास किया जाता है।

वास्तव में प्रथमानुयोग का अर्थ सर्वप्रथम पढ़ने-योग्य अनुयोग नहीं है; अपितु 'प्रथम' शब्द का अर्थ है अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि। जो जीव शुभाशुभ भावों का फल भोगते हुए, सतत चारों गतिओं में भ्रमण करते हुए भी; देव, नरक या मोक्ष आदि नहीं दिखनेवाली अवस्थाओं को अस्वीकार करते हैं; उन्हें अव्युत्पन्न अर्थात् अज्ञानी, दुराग्रही मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उन जीवों को समझाने के लिए, धर्म में लगाने के लिए मुख्यरूप से जो कथन-शैली अपनाई जाती है, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं।

प्रश्न ४ : प्रथमानुयोग की मुख्यतावाले कुछ ग्रंथों के नाम लिखिए।

उत्तर : पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, महापुराण, पाण्डवपुराण, धर्मामृत, प्रद्युम्न-चरित्र, श्रीपालचरित्र, वर्धमानचरित्र, यशोधरचरित्र आदि ग्रंथों में जीवन-चरित्र की मुख्यता होने से ये सभी ग्रंथ प्रथमानुयोग के ग्रंथ कहलाते हैं।

प्रश्न ५ : करणानुयोग का स्वरूप लिखते हुए उसकी कथन-पद्धति और विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।

उत्तर : जिन शास्त्रों में जीवों की और कर्मों की अवस्था बताने के लिए गुण-स्थान, मार्गणास्थान आदि की चर्चा मुख्य होती है; तीन लोक संबंधी भूगोल के वर्णन की मुख्यता के साथ ही, गणित की मुख्यता से गणना और माप का वर्णन होता है; उन ग्रंथों को करणानुयोग के ग्रंथ कहते हैं। जब यह जीवों के गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि विशेष; कर्मों के कारण, अवस्था, फल आदि विशेष तथा त्रिलोक में नरक, स्वर्गादि के स्थान जानकर, वहाँ उपयोग लगाता है, तो पापप्रवृत्ति छूटकर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर धर्म प्रगट कर लेता है; अन्यत्र अनुपलब्ध, यथार्थ, सूक्ष्म कथन पढ़कर जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धानी हो जाता है।

तत्त्वज्ञान हो जाने पर इन ग्रंथों का अभ्यास, उसके ज्ञान को विशेष निर्मल करता है; वह केवलज्ञान के समान ही पदार्थों को जानने लगता है; मात्र प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का अंतर रहता है। उनके चिंतन में उपयोग लग जाने पर स्वयमेव रागादि मंद हो जाते हैं। इसप्रकार यह अनुयोग वीतरागता में कारणभूत है।

करण अर्थात् गणित के कारणभूत सूत्र अथवा जीव के परिणाम; उनकी मुख्यता से जिस अनुयोग में तत्त्व का निरूपण होता है, वह करणानुयोग है।

प्रश्न ६ : करणानुयोग की मुख्यतावाले कुछ ग्रंथों के नाम लिखिए।

उत्तर : षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीव पण्णत्ति, धवल, महाबंध, जय-धवल, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड आदि करणानुयोग की मुख्यता से लिखे गए ग्रन्थ हैं।

प्रश्न ७ : चरणानुयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी कथन-पद्धति और विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।

उत्तर : गृहस्थों और मुनिओं के आचरण की मुख्यता से जिस अनुयोग में स्थूल, बुद्धिगोचर कथन होता है, उसे चरणानुयोग कहते हैं। जो जीव अपने हिताहित को नहीं जानते हुए हिंसादि कार्यों में तत्पर रहते हैं, उन्हें सुभाषित और नीति शास्त्र की पद्धति से धर्म के अनेक साधनों का निरूपण कर, पाप-कार्यों से छुड़ाकर धर्मकार्यों में लगाते हैं; इससे अज्ञानी की कषाय मंद होती है, कुगति से बचकर सुगति की प्राप्ति होती है तथा जिनमत का निमित्त बना रहता है।

तत्त्वज्ञानी होकर इनका अभ्यास करने पर ये सभी आचरण अपने वीतराग-भाव के अनुसार भासित होते हैं। वीतरागभाव और धर्म के व्रत, शील, संयम आदि व्यवहार साधनों में कदाचित् निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से, उन्हें पहिचानकर यह जीव उन कारणों में प्रवर्तन कर अपनी वीतरागता की वृद्धि करता है।

इसप्रकार जिस अनुयोग में शरीर आदि नोकर्म की मुख्यता से धर्म का निरूपण होता है, वह चरणानुयोग है।

प्रश्न ८ : चरणानुयोग की मुख्यतावाले कुछ ग्रंथों के नाम लिखिए।

उत्तर : अष्टपाहुड, नियमसार, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड - श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, संयम-प्रकाश, श्रावकधर्मप्रकाश इत्यादि चरणानुयोग की मुख्यतावाले ग्रंथ हैं।

प्रश्न ९ : द्रव्यानुयोग का स्वरूप लिखते हुए उसकी कथन-पद्धति और विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।

उत्तर : जिस अनुयोग में हेतु, दृष्टान्त, युक्ति, प्रमाण, नय आदि के माध्यम से छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि का तथा स्व-पर भेदविज्ञान इत्यादि का स्वरूप बताकर जीवों को धर्म में लगाया जाता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। इसमें आत्मा की मुख्यता से कथन होता है तथा तत्त्वनिर्णय कराने का उद्देश्य होने से न्यायशास्त्र की शैली मुख्य होती है।

द्रव्यानुयोग में मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के लिए स्व-पर भेदविज्ञान जैसे हो, उसप्रकार से जीव-अजीव का वर्णन करते हैं; वीतरागभाव जिस-प्रकार से हो, उसप्रकार से आस्रवादि का स्वरूप निरूपित करते हैं। इसमें मुख्यरूप से ज्ञान-वैराग्य के कारणभूत आत्मानुभवनादि की महिमा गाते हैं।

इस अनुयोग में भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा प्रगट होने के कारणभूत अध्यात्म की मुख्यता होती है। इसका मुख्य प्रयोजन जीवों को संसार के कारणभूत शुभाशुभ भावों से हटाकर मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग में लगाना है। यद्यपि इस अनुयोग में भी चरणानुयोग के समान ग्रहण-त्याग का प्रयोजन मुख्य होने से छद्मस्थ के बुद्धिगोचर कथन होता है; तथापि चरणा-नुयोग के समान बाह्य क्रिया की मुख्यता नहीं रखकर, आत्मपरिणामों की मुख्यता से ही उन सबका निरूपण किया जाता है। यही कारण है कि इसमें आत्मज्ञान-शून्य बाह्य आचरण का निषेध भी किया जाता है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग में सम्पूर्ण परपदार्थों से दृष्टि हटाकर आत्मस्थिरता का उपदेश मुख्य है।

प्रश्न १० : द्रव्यानुयोग की मुख्यतावाले कुछ ग्रंथों के नाम लिखिए।

उत्तर : समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह, इष्टोपदेश, समाधि-तंत्र, योगसार, परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह इत्यादि द्रव्यानुयोग के ग्रंथ हैं।

प्रश्न ११ : इन चारों अनुयोगों को स्वाध्याय में किस क्रम से लेना चाहिए ?

उत्तर : जैनधर्म में तो यह परम्परा है कि सुखी होने के इच्छुक जीव को अन्त-रोन्मुखी पुरुषार्थ करने पर सर्वप्रथम सम्यक्त्व होता है, तत्पश्चात् व्रतादि होते हैं। वह सम्यक्त्व क्रमशः स्व-पर का अपने और पराये रूप से अर्थात् त्रिकाली, ध्रुव निज ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा का अपनत्व और शेष पर का परत्व रूप से श्रद्धान होने पर होता है। ऐसा श्रद्धान मुख्यतया द्रव्या-

नुयोग का श्रद्धान करने से शीघ्र हो जाता है; अत: सर्वप्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। तत्पश्चात् विशेष स्वरूप-स्थिरता बढ़ने पर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण कर व्रती बनना चाहिए; तदुपरान्त अपने ज्ञानादि को निर्मल करने के लिए करणानुयोग, प्रथमानुयोग का भी स्वाध्याय करना चाहिए।

इसप्रकार निचली भूमिका में तो द्रव्यानुयोग का अभ्यास ही विशेष कार्यकारी है।

प्रश्न १२ : प्रथमानुयोग में 'प्रथम' शब्द पहले का सूचक है; अत: सर्वप्रथम उसका ही अभ्यास करना चाहिए।

उत्तर : वास्तव में सम्पूर्ण ही जिनवाणी पूर्णतया वीतरागता की ही पोषक होने से उसके अभ्यास का क्रम क्या हो ? इसका कोई नियम नहीं है; अत: अपने परिणामों की अवस्था देखकर समय, शक्ति और बुद्धि के अनुसार जिसके अभ्यास से धर्म में अपनी विशेष प्रवृत्ति हो, उसी का अभ्यास करना चाहिए। इसीप्रकार रुचि के अनुसार कभी किसी का, कभी किसी का – इसप्रकार बदल-बदल कर भी स्वाध्याय करते रहना चाहिए। किन्हीं-किन्हीं शास्त्रों में एक साथ दो, तीन अनुयोगों की शैली से भी वस्तुस्वरूप का निरूपण किया गया है; अत: उनका भी अभ्यास करना चाहिए।

प्रथमानुयोग में आए प्रथम शब्द का अर्थ वास्तव में पहले पढ़ने-योग्य नहीं है; अपितु अव्रती, अव्युत्पन्न, मात्र इन्द्रियगम्य पदार्थों को ही मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होनेवाले स्वर्ग-नरकादि, आत्मा-परमात्मा आदि, पुण्य-पाप-धर्म आदि को नहीं माननेवाला अव्युत्पन्न कहलाता है। ऐसे जीवों को कहानिओं आदि के माध्यम से समझाकर इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होनेवाले उन पदार्थों का विश्वास कराया जाता है; अत: इस शैली को प्रथमानुयोग तथा उसकी मुख्यतावाले ग्रंथों को प्रथमानुयोग के ग्रंथ कहते हैं। सर्वप्रथम पढ़ने की अपेक्षा इन्हें प्रथमानुयोग नहीं कहते हैं।

प्रश्न १३ : चारों अनुयोगों में परस्पर अंतर बताइए।

उत्तर : वास्तव में चारों अनुयोगों का प्रतिपाद्य एक आत्मा ही है। उस आत्मा को दु:ख नष्ट करने का और सुखमयदशा प्रगट करने का उपाय बताना ही चारों अनुयोगों का उद्देश्य होने से वे सभी समान हैं; तथापि कथन-शैली की अपेक्षा उनमें अंतर है।

प्रथमानुयोग	करणानुयोग
१. इसमें महापुरुषों के जीवनचरित्रों, कथाओं की मुख्यता होती है।	इसमें गणित तथा भूगोल की मुख्यता होती है।
२. इसमें संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महापुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि बताकर जीवों को धर्ममार्ग में लगाते हैं।	इसमें सर्वज्ञकथित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों के तथा कर्मों के विशेष और त्रिलोकादि का निरूपण कर जीवों को धर्ममार्ग में लगाते हैं।
३. यह अनुयोग तत्त्व समझने के लिए उदाहरणरूप भासित होता है। इसमें स्थूल लौकिक प्रवृत्तिरूप ही कथन होता है।	इससे तत्त्वज्ञान का विशेष स्वरूप भासित होता है। इसमें केवलज्ञान-गम्य सूक्ष्म कथन होता है। यहाँ द्रव्य-कर्म की मुख्यता से निरूपण होता है।
४. कथा आदि की मुख्यता होने से स्वर्ग, नरक आदि को नहीं माननेवाले अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टिओं, तुच्छबु-द्धिओं की भी इसे पढ़कर धर्म में रुचि हो जाती है।	केवलज्ञानगम्य, सूक्ष्म, यथार्थ कथन जानने से सर्वज्ञता तथा सर्वज्ञ-स्व-भावी आत्मा की महिमा आती है तथा जैनधर्म में श्रद्धा दृढ़ हो जाती है।
५. इसकी विषय-वस्तु जाने बिना भी आत्मानुभव हो जाता है।	इसकी विषय-वस्तु जाने बिना भी आत्मानुभव हो जाता है।
६. देशनालब्धि में इसकी गौणता है।	देशनालब्धि में इसकी गौणता है।

प्रश्न १४ : 'द्रव्यानुयोग में बाह्याचरण का निषेध किया गया होने से, उसे पढ़-कर लोग आचरण-भ्रष्ट हो जाएंगे; अत: उनका अध्ययन नहीं करना चाहिए' – इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : द्रव्यानुयोग में वास्तविक मोक्षमार्गरूप स्वरूप-स्थिरता की मुख्यता होने से आत्मज्ञान-शून्य मात्र बाह्य आचरण का निषेध किया जाता है; तथापि स्थान-स्थान पर स्वच्छन्दी होने का भी निषेध किया जाता है; इससे स्वा-ध्याय करनेवाले आत्मज्ञानी बनकर भूमिकानुसार वीतरागता प्रगट करके यथार्थ व्रती बनते हैं; अत: द्रव्यानुयोग के अध्ययन का निषेध नहीं करना चाहिए।

यदि कोई अज्ञानी तत्त्व की यथार्थ बात सुनकर, अपनी →→→→→→→

..... अंतर इसप्रकार है –

चरणानुयोग	द्रव्यानुयोग
१. इसमें बाह्याचरण, सुभाषित और नीतिशास्त्र की मुख्यता होती है।	इसमें अध्यात्म एवं न्याय शास्त्र की मुख्यता होती है।
२. इसमें धर्म के अनेक साधनों का निरूपण कर जीवों को धर्म में लगाते हैं।	इसमें द्रव्यों का या तत्त्वों का निरूपण कर जीवों को धर्ममार्ग में लगाते हैं।
३. इसका कथन तत्त्वज्ञानी को अपने वीतरागभाव के अनुसार सर्व आचरण रूप भासित होता है। इसमें शरीर आदि नोकर्म की अपेक्षा बुद्धिगम्य स्थूलकथन होता है।	इसका कथन तत्त्वज्ञानी को अपने श्रद्धान के अनुसार प्रतिभासित होता है। इसमें भी हेतु, युक्ति, प्रमाण, नय आदि द्वारा निर्णय करने-योग्य बुद्धिगम्य कथन होता है। इसमें भावकर्म की मुख्यता से निरूपण होता है।
४. शारीरिक क्रियाओं और जीव के भावों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ पहिचान होती है; जो सम्यग्दर्शन की प्राथमिक शर्त है।	तत्त्व अभ्यास से स्व-पर भेदविज्ञान प्रगट होकर आत्मानुभव होता है। यही अतींद्रिय, आनंदमय, निराकुल, स्वाधीन दशा है।
५. इसकी विषय-वस्तु जाने बिना भी आत्मानुभव हो जाता है।	इसकी मूल विषयवस्तु जाने बिना कभी भी किसी को भी आत्मानुभव नहीं होता है।
६. देशनालब्धि में इसकी गौणता है।	देशनालब्धि में इसकी मुख्यता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन चारों में अन्तर है।

←←← अज्ञानतावश उसके रहस्य को नहीं समझकर भ्रष्ट हो भी गया, तो भी ज्ञानी तो तत्त्व का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे; क्योंकि द्रव्यानुयोग में मूलतया मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है, यह मूल उपदेश नहीं मिलने पर मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जाएगा; जिससे अनेक जीवों का बहुत बुरा होगा।

जो अज्ञानी इसे सुनकर भ्रष्ट हुआ है, वह तो पहले भी भ्रष्ट ही था, मिथ्यादृष्टि ही था। अन्तर मात्र इतना पड़ा कि पहले व्रतादिरूप आचरण से उसके देवादि गति को प्राप्त करने की सम्भावना थी और अब वह सम्भावना नहीं रही; परिणामानुसार अन्य गतिओं में जाएगा; परन्तु रहेगा तो संसार का

संसार में ही; अत: किसी को अपनी अज्ञानतावश आचरण से भ्रष्ट होता हुआ देखकर, कभी भी अध्यात्म का पठन-पाठन बंद नहीं करना चाहिए।

प्रश्न १५ : जिस अनुयोग में बाह्य आचरण का निषेध किया गया हो, उसे कम से कम गृहस्थों को तो कभी भी नहीं पढ़ना चाहिए अर्थात् समयसार आदि अध्यात्मग्रंथ, गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए – इस बात का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर : वास्तव में यह कथन जिनवाणी के अभिप्राय को नहीं समझकर अज्ञानता या दुराग्रहवश किया जानेवाला कथन है। यदि वास्तव में गृहस्थ इसे पढ़ने के अधिकारी नहीं होते, तो पाण्डे राजमल्लजी, पं. बनारसीदासजी, पं. जयचंदजी छाबड़ा, शतावधानी रायचंद्रजी, न्यायाचार्य गणेशप्रसादजी वर्णी, पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य आदि गृहस्थ विद्वानों ने समयसार आदि ग्रंथों की टीकाएं कैसे कीं ? अपनी अन्यान्य कृतिओं में उनके उद्धरण कैसे दिए ? क्या यह सब बिना स्वाध्याय किए सम्भव है ? यदि नहीं; तो इससे ही यह सिद्ध है कि समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़ने के अधिकारी गृहस्थ हैं।

वास्तव में द्रव्यानुयोग के आध्यात्मिक ग्रंथों में सम्यग्दर्शन प्रगट करने की मुख्यता से तत्त्वार्थों का विशेषरूप में निरूपण किया गया है। तत्त्वार्थों के ज्ञान, श्रद्धान की मुख्यता गृहस्थों में होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए यह सब अत्यंत आवश्यक है। मिथ्यादृष्टि तो गृहस्थ होते ही हैं; सम्यग्दृष्टि भी गृहस्थ हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ही अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ के बल पर आत्म-ज्ञान-वैराग्य बढ़ाते हुए मुनि बनते हैं। मिथ्यादृष्टि ही सम्यग्दृष्टि बनते हैं। तत्त्वार्थों का निर्णय करके आत्मानुभवपूर्वक ही सम्यग्दर्शन होता है। तत्त्वार्थों का निरूपण मुख्यतया द्रव्यानुयोग में तथा समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथों में है; अत: तत्त्वार्थों का निर्णय करने के लिए इनका स्वाध्याय परमावश्यक है।

वास्तव में इन ग्रंथों में मुख्यतया वैराग्योत्पादक, वैराग्यवर्धक बारह भाव-नाओं का; उनमें से भी प्रधानतया एकत्व, विभक्त/अन्यत्व भावना का निरूपण होता है। इन्हें समझे बिना इनका चिंतन, मनन संभव नहीं है; जिसके अभाव में भेदविज्ञान भी सम्भव नहीं है। भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय मोक्षमार्ग का मूल है; अत: मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए इन ग्रंथों का स्वाध्याय परमावश्यक है।

सम्यग्दर्शन चारों गतिओं में प्रगट हो जाता है। तिर्यंच आदि जीव विशेष ज्ञान-सम्पन्न नहीं होने से यद्यपि वे कर्म आदि की चर्चा को नहीं समझ सकते; तथापि सम्यग्दृष्टि होने के लिए उन्हें भी शुद्धात्मा और सात तत्त्वों का भावात्मक ज्ञान तो करना ही होता है। इनका ज्ञान करने की क्षमता प्रत्येक पर्याप्तक, सैनी पंचेन्द्रिय जीव के योग्यतानुसार होती ही है। अध्यात्मशास्त्रों का मूल प्रतिपाद्य-विषय भी यही है; अत: उन्हें पढ़ना, सुनना, उनका स्वाध्याय करना प्रत्येक मोक्षार्थी जीव का प्रथम कर्तव्य है।

इत्यादि अनेक तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि द्रव्यानुयोग के अध्यात्मग्रंथों का स्वाध्याय, उन्हें पढ़ना-सुनना मिथ्यादृष्टि जीवों के लिए तो मुख्यरूप से परमावश्यक है। सम्यक्रत्नत्रय प्रगट होने के बाद तो इन ग्रंथों का स्वाध्याय मात्र तत्त्वज्ञान की विशेष दृढ़ता के लिए किया जाता है; अत: इन ग्रंथों के स्वाध्याय का गृहस्थों के लिए निषेध करना, वास्तव में तीव्र दुराग्रह, पूर्वाग्रह, द्वेष, आत्मवंचना अथवा तीव्र मिथ्यात्व का पोषण करने का ही प्रतीक है।

○○○

नित पीज्यो धी धारी...

नित पीज्यो धी धारी, जिनवाणी सुधा-सम जानिके॥टेक॥
वीर मुखारविंदतैं प्रकटी, जन्म-जरा भयटारी।
गौतमादि गुरु-उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी॥१॥
सलिल समान कलिलमलगंजन, बुधमनरंजन हारी।
भंजन विभ्रम धूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी॥२॥
कल्याणकतरु उपवनधरिनी, तरनि भवजलतारी।
बंधविदारन पैनी छैनी, मुक्ति-नसैनी सारी॥३॥
स्व-परस्वरूप प्रकाशन को यह, भानुकला अविकारी।
मुनिमनकुमुदिनि-मोदनशशिभा, शमसुखसुमन सुवारी॥४॥
जाके सेवत बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग-हितकारी॥५॥
कोटि जीभ सों महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी॥६॥

पाठ ५

तीन लोक

आ. उमास्वामीदेव का व्यक्तित्व-कर्तृत्व प्रस्तुत पुस्तिका के पृष्ठ २५ पर देखिए।

प्रश्न १ : तीनों लोकों के नाम लिखते हुए अधोलोक का वर्णन कीजिए।

उत्तर : जाति-अपेक्षा षड्द्रव्यात्मक तथा संख्या-अपेक्षा अनंतानंत द्रव्यात्मक यह सम्पूर्ण विश्व अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक – इसप्रकार तीन भेदों में विभक्त है। अभी हम जहाँ रह रहे हैं, वह मध्यलोक है। इस मध्यलोक के नीचे अधोलोक है। जिसमें क्रमश: एक के नीचे एक सात पृथ्विआँ हैं। उनके नाम इसप्रकार हैं – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमोप्रभा, महातमोप्रभा। इनके रौढ़िक नाम क्रमश: इसप्रकार हैं – धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी।

इन सात पृथ्विओं में अपने किए हुए पापों की सजा भोगने के लिए अत्यंत दुखद बिलरूप चौरासी लाख स्थान हैं, जिन्हें नरक कहते हैं तथा उनमें रहनेवाले नारकी कहलाते हैं। वहाँ की जलवायु अत्यंत दूषित, दुर्गन्धित है। भोजन, पानी, वस्त्रादि का वहाँ सर्वथा अभाव है। पहली पृथ्वी से लेकर पाँचवीं पृथ्वी के तीन चौथाई भाग में स्थित ब्यासी लाख, पच्चीस हजार बिलों में अत्यधिक गर्मी है तथा पाँचवीं पृथ्वी के शेष चतुर्थ भाग और छठवीं-सातवीं पृथ्वी में स्थित एक लाख पचहत्तर हजार बिलों में अत्यधिक ठंड है। यह गर्मी और ठंड मेरु पर्वत जैसे लोह-पिण्ड को भी पिघला देने और छार-छार कर देने में समर्थ है।

वहाँ की भूमि भी अत्यंत कष्टदायी है। बाह्य वातावरण तो वहाँ प्रतिकूल है ही, इसके साथ ही कषायों की अत्यधिक तीव्रता के कारण वे जीव परस्पर में भी सदैव लड़ते-झगड़ते रहते हैं। अनन्त दु:ख भोगते हुए इन जीवों को एक क्षण भी शांति से बैठने या नींद लेने का अवसर नहीं मिल पाता है। एक-दूसरे के साथ परस्पर में प्रेमभाव रखना तो यहाँ असम्भव ही है। अभावग्रस्त ये सभी सदा कलह, मार-पीट, बैरभाव में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहरूप तीव्रकषायभाव के कारण जीव को

तीन-लोक (रेखा-चित्र)

तीन लोक का क्षेत्रफल - ३४३ घन राजू

ऊर्ध्वलोक - १ लाख ४० योजन कम ७ राजू ऊँचा

मध्यलोक - १ लाख ४० योजन ऊँचा

अधोलोक - ७ राजू ऊँचा (तीन लोक की कुल ऊँचाई १४ राजू)

त्रसनाड़ी = १ राजू×१ राजू×कुछ कम १३ राजू

एक राजू * (३,२१,६२,२४१$\frac{२}{३}$ धनुष कम)

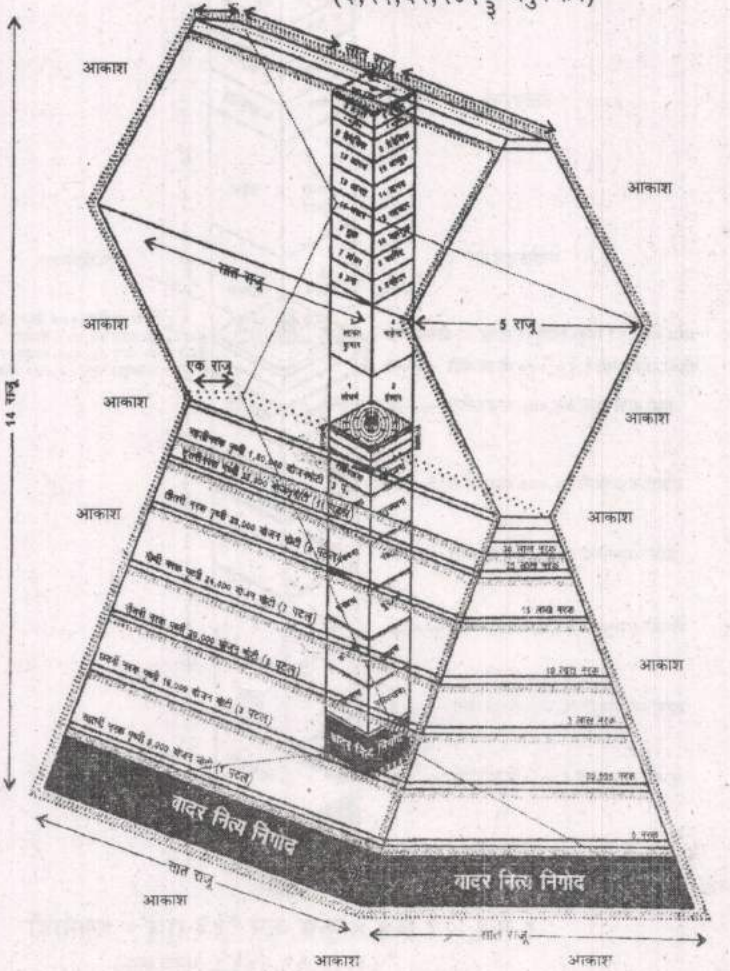

तीन लोक सम्बन्धी त्रसनाड़ी रेखाचित्र

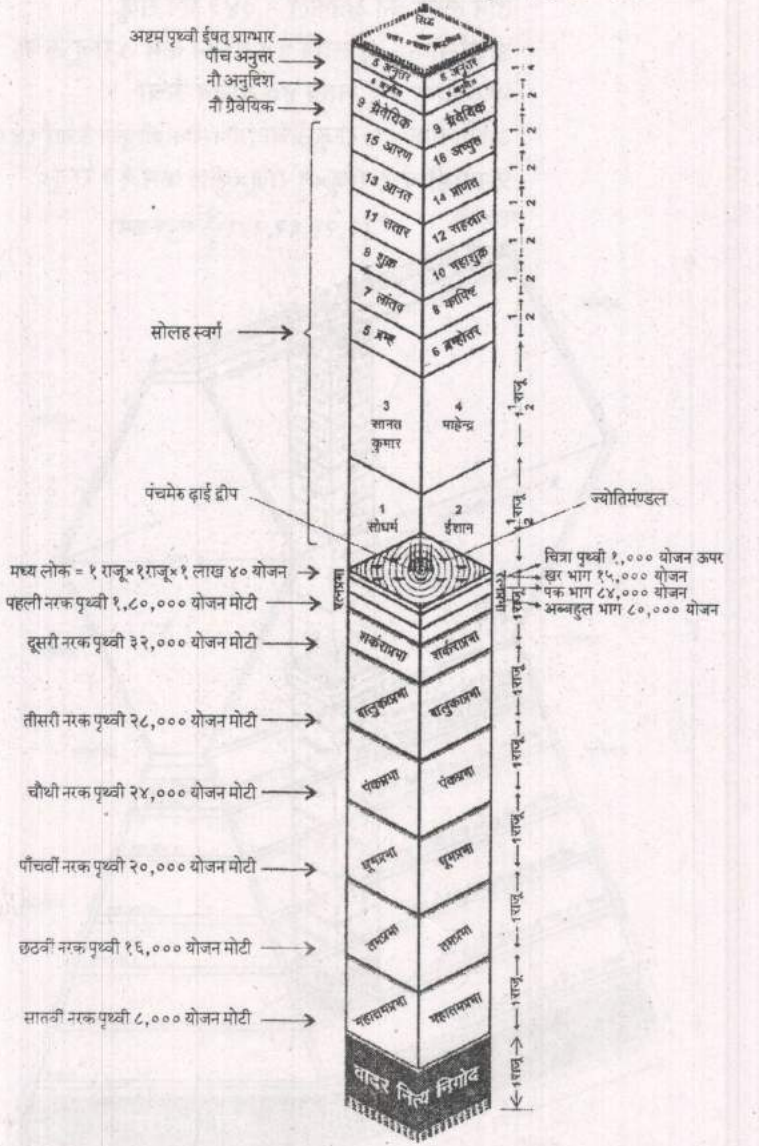

१ राजू × १ राजू × कुछ कम *१३ राजू = त्रसनाड़ी

* (३,२१,६२,२४१$\frac{२}{३}$ धनुष कम)

वहाँ जाकर ये दुःख भोगने पड़ते हैं। वहाँ से निकलकर जीव मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं। इसप्रकार पापों के फल भोगने की स्थान ये पृथ्विआँ हैं।

इतने प्रतिकूल वातावरण में भी यदि यह जीव अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को समझने का पुरुषार्थ करे तो अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा सभी से भेदविज्ञान कर स्वरूप की प्रतीतिपूर्वक अतीन्द्रिय आनंद का पान कर लेता है। सम्यग्दर्शन प्रगट कर मोक्षमार्गी हो जाता है; दृष्टिमुक्त अन्तरात्मा हो जाता है।

प्रश्न २ : मध्यलोक का वर्णन करते हुए जम्बूद्वीप संबंधी क्षेत्र, पर्वत, तालाब और नदिओं के नाम लिखिए।

उत्तर : अधोलोक से ऊपर अर्थात् पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी पृष्ठभाग पर मध्यलोक स्थित है। यह समान धरातल पर फैला हुआ होने से इसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं। इसमें एक दूसरे को घेरे हुए असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। जैसे मध्य-

लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुना अर्थात् सभी ओर दो-दो लाख योजन विस्तारवाला लवणसमुद्र है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला धातकी खण्ड है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला कालोदधि समुद्र है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला पुष्करवर द्वीप है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला पुष्करवर समुद्र है। इसप्रकार एक दूसरे को घेरे हुए एक द्वीप, एक समुद्र के क्रम से इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। अंतिम द्वीप स्वम्भूरमण द्वीप तथा अंतिम समुद्र स्वम्भूरमण समुद्र है।

इनमें से जम्बूद्वीप इस मध्यलोक का प्रथम द्वीप है। थाली के आकार में एक लाख योजन विस्तृत इसके ठीक मध्य में नाभि के समान सुदर्शनमेरु नामक विशाल पर्वत है। इसे संक्षेप में सुमेरु भी कहते हैं।

इस द्वीप को विभक्त करनेवाले, पूर्व-पश्चिम विस्तृत हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन नामक छह पर्वत हैं। क्षेत्रों को विभक्त करने के कारण इन्हें वर्षधर या कुलाचल भी कहते हैं।

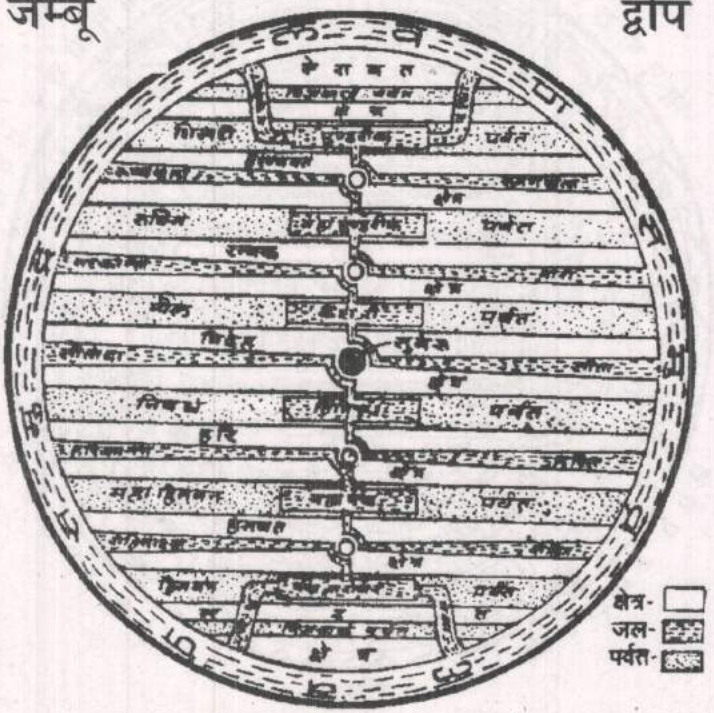

इन छह पर्वतों के कारण यह द्वीप भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत – इन सात क्षेत्रों में विभक्त हो गया है। पूर्वोक्त छह पर्वतों पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक विशाल ह्रद (तालाब) हैं। इनसे गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा – ये चौदह नदिआँ निकलकर पूर्वोक्त सात क्षेत्रों में बहती हैं। पहले पद्म नामक तालाब से तथा अंतिम पुण्डरीक नामक तालाब से तीन तीन तथा शेष चार तालाबों से दो-दो नदिआँ निकलती हैं। इन नदिओं में से पहली पूर्व समुद्र में तथा दूसरी पश्चिम समुद्र में मिलती है अर्थात् गंगा, रोहित आदि सात नदिआँ पूर्व समुद्र में तथा सिन्धु, रोहितास्या आदि सात नदिआँ पश्चिम समुद्र में मिलती हैं।

इन सात क्षेत्रों में से हम अभी दक्षिण में स्थित भरतक्षेत्र में रह रहे हैं। यही क्षेत्र आचार्य कुन्दकुन्ददेव के जन्म से भी पावन हुआ है। इन्हीं में से चतुर्थ क्षेत्र विदेह की पूर्व दिशावर्ती नगरी में जीवन्त तीर्थनाथ सीमन्धर भगवान विराजमान हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने प्रबल पुण्य-प्रताप से इस शरीरसहित ही सीमंधर भगवान के दर्शन-वन्दन आदि के लिए वहाँ विदेहक्षेत्र में गए थे। सशरीर वहाँ जा पाना प्रत्येक की सामर्थ्य के बाहर है; अतः इस घटना के कारण आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस युग में विख्यात हो गए। वास्तव में यह एक अद्वितीय पुण्य और पवित्रता की सूचक घटना है।

दूसरे धातकी खण्ड तथा मध्य में स्थित सर्वत्र गोलाकारमय मानुषोत्तर पर्वत के कारण दो भागों में विभक्त इस ओरवर्ती तीसरे पुष्करार्ध द्वीप में पर्वतक्षेत्रादि की सम्पूर्ण रचना जम्बूद्वीप की पर्वत-क्षेत्रादि रचना से दुगुनी-दुगुनी है। मानुषोत्तर पर्वत के उस ओर मनुष्यों का निवास नहीं होने के कारण इन ढ़ाई द्वीपों को मनुष्यलोक भी कहते हैं। यहाँ वर्तमान में ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह क्षेत्र संबंधी १५ कर्मभूमिआँ तथा हैमवत आदि शेष क्षेत्रों संबंधी ३० भोगभूमिआँ हैं। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र और पुष्करार्धरूप इस मनुष्यलोक का विस्तार सिद्ध लोक के समान ४५ लाख योजन है।

मध्य में स्थित सर्वत्र गोलाकारमय नागेन्द्र पर्वत के कारण दो भागों में

विभक्त अंतिम स्वयम्भूरमण द्वीप के उस ओर तथा स्वयम्भूरमण समुद्र में भी कर्मभूमि है। वहाँ पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंच भी होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत से लेकर नागेन्द्र पर्वत पर्यन्त के मध्यवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्रों में जघन्यभूमि है। यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं। इस १ राजू विस्तृत तिर्यग्लोकरूप मध्यलोक में सर्वत्र व्यन्तर देवों का भी निवास है। इस धरातल से ७९० योजन ऊँचाई से ९०० योजन पर्यन्त के मध्यवर्ती ११० योजन क्षेत्र में सूर्यादि ज्योतिष्क देवों का निवास है।

इसप्रकार इस मध्यलोक में अपने-अपने परिणामों का फल भोगते हुए मनुष्य, तिर्यंच तथा व्यन्तर और ज्योतिष्क देव रहते हैं।

प्रश्न ३ : ऊर्ध्वलोक का वर्णन कीजिए।

उत्तर : तीन लोक में से एक लाख योजन ऊँचे मध्यलोक के सुमेरु पर्वत से ठीक ऊपर ऊर्ध्वलोक है। जिसमें एक-एक युगल सहित एक के ऊपर एक स्थित क्रम से सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर क्रमशः नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। पाँच अनुत्तर विमानों में से पाँचवें सर्वार्थसिद्धि विमान के ठीक ऊपर सिद्धशिला है; जिसके ऊपर अनन्तानन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

सोलह स्वर्गों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं – सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत।

मनुष्य अथवा तिर्यंचगति में स्थित जो जीव व्रत, शील, संयमादि मन्द-कषायमय शुभभाव करते हैं अथवा सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न होने पर भी पूर्ण स्वरूप-स्थिर नहीं रह पाते हैं अथवा बाल तप आदि रूप प्रवर्तन करते हैं; वे कषाय की मन्दता के कारण मरणकर इन स्वर्गों में जन्म लेते हैं। यहाँ पुण्योदय की; लौकिक, शारीरिक विषय-भोगों की मुख्यता होती है। ये भी मरकर मात्र मनुष्य या तिर्यंच ही होते हैं।

ऊर्ध्वलोक उत्तर-दक्षिण सात राजू लंबा और सात राजू ऊँचा तथा पूर्व-पश्चिम नीचे एक राजू चौड़ा, क्रमशः बढ़ते-बढ़ते साढ़े तीन राजू ऊँचाई पर पाँच राजू चौड़ा तथा बाद में क्रमशः कम होते-होते अंत में एक राजू चौड़ा है।

ooo

पाठ ६

सप्त व्यसन

प्रश्न १ : कविवर पं. बनारसीदासजी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।
उत्तर : कविवर पण्डित बनारसीदासजी अध्यात्म और काव्य – दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठा-प्राप्त रससिद्ध कवि और आध्यात्मिक विद्वान हैं। आप १७वीं शती के प्रसिद्धतम विद्वानों में से एक हैं। आप महाकवि तुलसीदासजी के समकालीन रहे हैं।

आपका जन्म श्रीमालवंश में लाला खरगसेन के घर वि.संवत् १६४३ की माघ शुक्ल एकादशी रविवार ई. सन् १५८७ को जौनपुर में हुआ था। जन्म के समय आपका नाम विक्रमजीत रखा गया था; परन्तु बनारस यात्रा के समय पार्श्वनाथ भगवान की जन्मभूमि वाराणसी के नाम पर आपका नाम बनारसी-दास हो गया। आप अपने माता-पिता की इकलौती संतान थे। आपने अपने जीवन में अत्यधिक उतार-चढ़ाव देखे हैं।

आपका जीवन आर्थिक विषमताओं के साथ-साथ कौटुम्बिक विषम-ताओं से भी परिपूर्ण है। आपकी तीन शादिआँ हुईं; सात लड़के और दो लड़किआँ – इसप्रकार नौ संतानें हुईं; तथापि आपके सामने ही एक भी जीवित नहीं रहीं। ऐसी विषम परिस्थिति में भी आत्मानुभव के बल पर आप कभी विचलित नहीं हुए।

आप अपने प्रारंभिक जीवन में अनेक बार अनेकानेक अंध-विश्वासों के शिकार हुए हैं तथा आध्यात्मिक रुचि जागृत होने के बाद आपने पूर्ण दृढ़ता से अपने साहित्य में उन अंध-विश्वासों का तीव्रतम खण्डन भी किया है।

काव्यप्रतिभा आपको जन्म से ही प्राप्त थी। चौदह वर्ष की उम्र में ही आप उच्चकोटि की कविता करने लगे थे; परन्तु प्रारंभ में आप शृंगारिक कवित्व में मग्न रहे। चौदह वर्ष की उम्र में आपकी सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ शृंगारिक कृति नवरस तैयार हो गई थी; जिसे आत्मज्ञान होने के बाद स्वयं आपने गोमती नदी के प्रवाह में प्रवाहित कर दिया। तत्पश्चात् आपने पूर्णतया आध्यात्मिक साहित्य की ही रचना की। नाटक समयसार, बनारसी विलास, नाममाला और अर्ध-कथानक आपकी वर्तमान में उपलब्ध कृतिआँ हैं।

नाटक समयसार : यह एकप्रकार से आचार्य अमृतचंद्रस्वामी के समयसार कलशों का पद्यानुवाद है; परन्तु कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण इस ग्रंथ के अध्ययन में स्वतंत्र ग्रंथ के समान ही आनन्द प्राप्त होता है। यह अध्यात्मरस से परिपूर्ण होने के साथ ही चौदह गुणस्थानों का और ग्यारह प्रतिमाओं का मार्मिक विवेचन करनेवाला ग्रंथ है।

बनारसी विलास : यह ग्रंथ कवि की गद्य-पद्य आदि विविध रचनाओं का संग्रह ग्रंथ है।

नाममाला : यह कृति हिन्दी का शब्दकोश है।

अर्ध-कथानक : यह हिन्दी भाषा का सर्वप्रथम आत्मचरित्र है। यह वर्तमान तत्कालीन ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनैतिक, परिस्थितिओं को बताते हुए आपके पचपन वर्षीय जीवन को दर्पण के समान चित्रित करनेवाली प्रौढ़तम कृति है। इस कृति का नामोल्लेख 'विश्व गिनीज बुक' में भी है।

जैन आध्यात्मिक क्षेत्र में तो पण्डित बनारसीदासजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है ही; हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उनका योगदान असन्दिग्ध है। मात्र आवश्यकता इस बात की है कि धार्मिक पक्षपात से रहित होकर विचार, भाव, भाषा, साहित्यिक उपादान आदि दृष्टिओं से उनके साहित्य का गंभीर अध्ययन किया जाए।

इसप्रकार पण्डित बनारसीदासजी अपनी आत्मसाधना और काव्यसाधना – दोनों ही क्षेत्रों में एक अनुपम व्यक्ति रहे हैं।

प्रश्न २ : व्यसन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, भेद सहित उनके नाम लिखिए।

उत्तर : किसी भी विषय में लीन होने, आसक्त होने, अभ्यस्त होने को व्यसन कहते हैं। सदाचार के क्षेत्र में बुरी प्रवृत्तिओं संबंधी लीनता, आसक्ति, अभ्यस्तता व्यसन कहलाती है। ये व्यसन जीव को विशेषरूप से आकुलित करते हैं, दुराचारी बनाते हैं; राग, द्वेष उत्पन्न कर तीव्र दुःख देने में कारणभूत हैं। आत्मस्वरूप के विस्मरण में निमित्तभूत होने से ये व्यसन कहलाते हैं। वास्तव में तो मिथ्यात्व सहित राग, द्वेष परिणाम ही व्यसन है।

बाह्य विषयों की अपेक्षा मुख्यरूप से ये व्यसन सात हैं – जुआ खेलना, माँस खाना, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन। इस संबंध में पं. बनारसीदासजी का निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है–

"जुआ आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी।
ए ही सात व्यसन दुखदाई, दुरित मूल दुर्गति के भाई॥
दर्वित ये सातों व्यसन दुराचार दुखधाम।
भावित अन्तर कल्पना, मृषा मोह परिणाम॥"

मिथ्यात्वसहित राग, द्वेष परिणामों को अथवा जो परिणाम आत्म-स्वरूप का विस्मरण कराने में निपुण होते हैं, उन्हें निश्चयव्यसन या भाव-व्यसन कहते हैं तथा जुआ आदि बुरे विषयों में प्रवृत्ति, आसक्ति को व्यवहार व्यसन या द्रव्यव्यसन कहते हैं।

प्रश्न ३ : जुआ व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : हार-जीत को दृष्टि में रखकर रुपये-पैसे अथवा और भी किसी प्रकार के धन की सहायता से कोई भी खेल खेलना, शर्त लगाकर कोई भी कार्य करना अथवा दाव-पेंच के माध्यम से अधिक लाभ की आशा रखना या हानि के भय से आतंकित होना द्रव्य या व्यवहार जुआ है। लॉटरी टिकिट आदि में रुपया लगाना, ड्रा पद्धति से किसी बात का निर्णय करना, सट्टाबाजी, शेयर आदि में रुपया लगाना भी जुआ व्यसन है। ताश-पत्ते, गोटी, चौपड़ आदि खेल भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

इस जुआ में प्रवृत्ति करने से धन, इज्जत आदि की हानि तो होती ही है; इसके साथ ही मन भी सतत आकुलित, बेचैन रहता है; कभी भी एकाग्रता, स्थिरता नहीं रह पाती है। अस्थिर मन से धार्मिक कार्य तो क्या; लौकिक कार्य भी व्यवस्थित रूप से सम्पन्न नहीं हो पाते हैं। इस व्यसन में प्रवृत्ति हो जाने पर हिंसादि पापों में भी प्रवृत्ति सहज ही होने लगती है; अतः इसे पापों का मूल माना गया है।

शुभ अर्थात् पुण्य के उदय में हर्षित होना और अशुभ अर्थात् पाप के उदय में खेद-खिन्न होना, कर्म के विशिष्ट उदय से अपने को हार-जीतवाला मानना, भाव या निश्चय जुआ व्यसन है। वास्तव में कर्म के उदय का फल, मात्र संयोग मिलना है; आत्मा को सुखी-दुखी करना नहीं है। यह आत्मा स्वयं अपनी ही विपरीत मान्यता के कारण संयोगों को अनुकूल-प्रतिकूल मानकर सुख-दुःख की कल्पना करता रहता है। इस मान्यता के कारण यह निरंतर खेद-खिन्न, भयाक्रान्त रहता है। इसका मन अस्थिर बना रहता है। अस्थिर

मन से कोई भी काम सम्पन्न नहीं हो पाते हैं। वास्तविक जुआ नामक व्यसन तो यह विपरीत मान्यता ही है। इसके कारण ही यह जीव अपने ज्ञानानंदमय अनन्त वैभव को प्रगट नहीं करता हुआ दर-दर का भिखारी बनकर संसार में भटक रहा है; अत: ऐसी मान्यता का त्याग करना ही वास्तव में जुआ व्यसन का त्याग है।

पण्डित बनारसीदासजी ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है –

''अशुभ में हार शुभ में जीत, यही है द्यूतकर्म।''

प्रश्न ४ : माँसभक्षण व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : किन्हीं भी मरे हुए या मारे हुए त्रसजीवों के शरीरों को खाने में आसक्त रहना, द्रव्य या व्यवहार माँसभक्षण व्यसन है। होटल आदि का भोजन, रात्रि में बनाया गया भोजन, सभी प्रकार का अमर्यादित भोजन, चमड़ा, माँस आदि से संस्पर्शित भोजन, उनसे बने थैले आदि में रखा हुआ भोजन इत्यादि प्रकार के भोजन का भक्षण भी माँसभक्षण के समान ही है।

इस व्यसन में आसक्त जीव के परिणाम अत्यंत क्रूर हो जाते हैं। उसके मन से धार्मिक भावनाएँ नष्टप्राय हो जाती हैं। प्राणिओं के प्रति दया का परिणाम नष्ट हो जाने से वह स्वयं के प्रति भी दया नहीं कर पाता है। ऐसा क्रूर-मनवाला व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन मरे हुए या मारे गए त्रस जीवों के शरीर में भी सतत उसी जाति की अनगिनत जीव-राशि उत्पन्न होती रहती है। उस शरीर को खाने से उन सभी जीवों की हिंसा तो होती ही है; साथ ही खानेवाले का शरीर भी अनेकानेक बीमारिओं का घर हो जाता है; अत: आत्मार्थी को इसका पूर्णतया त्याग करना चाहिए।

शरीर में मग्न रहना अर्थात् शरीर की पुष्टि से अपने को पुष्ट मानना, अपना हित मानना, शरीर की दुर्बलता से स्वयं को दुर्बल मानना, स्वयं का अहित मानना इत्यादि अनेकप्रकार से शरीररूप ही स्वयं को मानना, भाव माँस-भक्षण या निश्चय माँसभक्षण व्यसन है। स्वयं को शरीर के कारण काला, गोरा, मोटा, पतला, कुरूप, सुरूप, रोगी, निरोग आदि रूप मानना; शरीर के जन्म, मरण से अपना जन्म-मरण मानना, किन्हीं विशिष्ट शारीरिक क्रियाओं से स्वयं को पापी, पुण्यात्मा या धर्मात्मा मानना इत्यादि मान्यताएं इसी का विस्तार हैं।

जबतक यह जीव शरीर से अपनी पहिचान करता रहेगा; तबतक इसकी पापों में अनर्गल प्रवृत्ति नष्ट नहीं होगी; यह सुखी नहीं हो पाएगा। वास्तव में शरीररूप स्वयं को मानना ही तो अनन्त दु:खों का घर है; अत: सुखी होने के लिए इस माँसभक्षण व्यसन का पूर्णतया त्याग करना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी ने माँसभक्षण व्यसन को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''देह की मगनताई, यहै माँस भखिवौ।''

प्रश्न ५ : मदिरापान व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : शराब, भाँग, चरस, गाँजा, बीड़ी, सिगरेट इत्यादि नशाकारक वस्तुओं का सेवन करना, उनमें आसक्त होना, द्रव्य या व्यवहार मदिरापान व्यसन है। चाय, कॉफी, ड्रिंग्स आदि पेयों की आदत भी इसी व्यसन के अंतर्गत आ जाती है। इसीप्रकार पान-मसाला, गुटखा आदि खाने की आदतें भी इसी में गर्भित हो जाती हैं। इस व्यसन से व्यक्ति धन, मन, तन, इज्जत आदि सभी कुछ नष्ट कर बैठता है; इससे वह सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक, कौटुम्बिक आदि सभी क्षेत्रों में विपन्न, असहाय, दरिद्र हो जाता है। बुद्धि भ्रष्ट होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाती है। इन सभी समस्याओं से बचने के लिए मदिरापान व्यसन का त्याग अवश्यमेव करना चाहिए।

मोह के वश होकर आत्म-स्वरूप के विषय में अज्ञानी रहना, अपने आत्मा को नहीं जानना, नहीं पहिचानना, भाव या निश्चय मदिरापान व्यसन है। अपने स्वरूप को पहिचाने बिना कभी भी कोई सुखी नहीं हो सकता; अत: सुखार्थी जीव को आत्मस्वरूप की अज्ञानतारूप भाव-मदिरापान व्यसन का त्याग कर अपने स्वरूप को पहिचान कर, उसमें ही स्थिर रहना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी ने मदिरापान व्यसन को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''मोह की गहल सों अजान यहै सुरापान''

प्रश्न ६ : वेश्यागमन व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वेश्या के साथ रमण करना, उसके घर आना-जाना, उसमें आसक्त रहना, द्रव्य या व्यवहार वेश्यागमन व्यसन है। इस व्यसन से शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी परिस्थितिआँ बिगड़ जाती हैं। तीव्र आकुलतामय परिणामों के कारण परलोक में भी अधोगति होती है। 'वेश्या विष बुझी कटारी – वेश्या जहर में तीक्ष्ण की

गई तलवार के समान है; अत: वर्तमानभव और परभव – दोनों ही सुखमय बनाने के लिए इस व्यसन से सदा ही दूर रहना चाहिए।

खोटी बुद्धि में रमने का भाव अर्थात् अपने आत्म-स्वभाव को छोड़कर, बुद्धि का विषय-कषायों में रमना, भाव या निश्चय वेश्यागमन व्यसन है। वेश्या नारी तो मात्र धन, स्वास्थ्य, इज्जत आदि का ही विनाश करती है; परन्तु यह मिथ्याबुद्धि, कुबुद्धि तो आत्मा की प्रतिष्ठा का अपहरण कर, उसे अनन्तकाल के लिए निगोद के दु:खों में धकेल देती है। इसप्रकार यह कुबुद्धिरूपी भाव-वेश्यागमन सब ओर से पूर्णतया अहितकर ही है। सुबुद्धि के माध्यम से इस भाव-वेश्यागमन का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी ने भाव-वेश्यागमन को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''कुमति की रीति, गणिका को रस चखिबौ।''

प्रश्न ७ : शिकार खेलना व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जंगल में स्वतंत्ररूप से घूमने-फिरनेवाले शेर, बाघ, हिरण, रीछ, सुअर आदि प्राणिओं को अथवा और भी अन्यान्य छोटे-बड़े पशु-पक्षिओं को निर्दय होकर बंदूक आदि किन्हीं भी अस्त्र-शस्त्रों से मारना, मारकर आनन्द मनाना, उसमें आसक्त होना द्रव्य या व्यवहार शिकार खेलना व्यसन है। इस व्यसन में उलझे हुए जीव के परिणाम अत्यंत क्रूर होने के कारण वह स्व-पर दयारूप कोमल परिणामों से वंचित रहता है। दया से रहित निर्दयचित्त आत्महित करने में समर्थ नहीं हो पाता है। इसके साथ ही स्वतंत्र विचरण करनेवाले निरपराध-निरीह पशुओं-पक्षिओं की व्यर्थ में ही हिंसा करने से पाप का भी बंध होता है तथा प्रकृति का पर्यावरण-संतुलन भी बिगड़ता है; जिससे वर्तमान जीवन में भी अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं; अत: इस व्यसन का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए।

तीव्र राग के वशीभूत होकर शिकार आदि करने के परिणामों से अपने चैतन्यप्राणों का घात करना, आत्मशान्ति नष्ट करना, खेद-खिन्न होना, भावरूप या निश्चय शिकार खेलना व्यसन है। 'आत्मघाती महापापी' – इस उक्ति के अनुसार अपने प्राणों का घात करनेवाला महापापी होता है; अत: महापापमय भाव शिकार खेलना व्यसन पूर्णतया छोड़ देना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी ने शिकार खेलना व्यसन को इसप्रकार स्पष्ट किया है–

"निर्दय ह्वै प्राणघात, करबो यहै शिकार।"

प्रश्न ८ : परस्त्री-रमण व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अपनी धर्मानुकूल विवाहिता पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रिओं के साथ रमण करना, संबंध रखना द्रव्य या व्यवहार परस्त्री-रमण व्यसन है। इस व्यसन में उलझी हुई बुद्धि पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक व्यवस्थाओं को नष्ट करनेवाली होने से अत्यंत आकुलित, अस्थिर रहने के कारण धर्मादि में प्रवर्तन नहीं कर पाती है। मन सदा भयाक्रान्त रहने से तनावग्रस्त रहता है। परस्त्री के साथ रमण न्याय-नीति के विरुद्ध होने के कारण, पापबंध का निमित्त होने से, आगामी काल में भी दुःखमय और दुःख का कारण बनता है। इस लोक में भी अविश्वासपूर्ण दृष्टि से देखा जाता है; अतः इस व्यसन में प्रवृत्त होना उचित नहीं है। धार्मिक-आत्मिक साधना के लिए न्याय-नीति परक जीवन जीने के लिए द्रव्य या व्यवहार परस्त्री-रमण व्यसन का त्याग आवश्यक है।

वस्तु के स्वरूप को समझने का प्रयास न कर, मात्र दूसरों की बुद्धि को परखने में ही ज्ञान का सदुपयोग मानना भाव या निश्चय परस्त्री-रमण व्यसन है। वास्तव में स्वयं को अपने ही ज्ञान का लाभ मिलता है; अन्य का ज्ञान अपने लिए किंचित् भी कार्यकारी नहीं होता है। इतना अवश्य है कि यदि अन्य कोई किसी विषय का विशेष ज्ञाता है, तो हम उससे उस विषय को समझ सकते हैं; परन्तु समझने का भाव नहीं रखते हुए मात्र अन्य की बुद्धि की परीक्षा ही करते रहना; अपने ज्ञान, समय, शक्ति आदि के अपव्यय के साथ ही बुरा भाव होने से पापबंध का भी कारण होता है; अतः इस व्यसन से सदैव दूर रहना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी ने इस व्यसन को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

"परनारी संग पर-बुद्धि कौ परखिवौ।"

प्रश्न ९ : चोरी व्यसन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : बिना दिए किसी अन्य की वस्तु को प्रमाद से स्वयं ग्रहण कर लेना, ले लेना, उसमें आसक्त होना द्रव्य या व्यवहार चोरी व्यसन है। इस व्यसन में उलझा हुआ व्यक्ति किसी का भी विश्वासपात्र नहीं रह जाता है; अन्य की वस्तु के प्रति आसक्ति रूप पापभाव होने के कारण वह पाप बंध भी करता है। चोरी करने की अपनी आदत किसी को ज्ञात नहीं हो जाए – इस भावना

से सतत भयाक्रान्त, तनावग्रस्त, अस्थिरचित्त रहता है; पकड़े जाने पर राजदण्ड-समाजदण्ड भी भोगता है। अन्य की वस्तु चुरा लेने से, उसे दुःख देने में निमित्त होने के कारण भी पापबंध करता है। चोरी से प्राप्त सामग्री अधिक समय तक स्थायी भी नहीं रह पाती तथा उसे निर्भय होकर भोगना भी सम्भव नहीं हो पाने के कारण, वह निरंतर व्यग्र बना रहता है। बिक्रीकर-चोरी, आयकर-चोरी तथा इनके ही समान अन्यान्य कार्य भी व्यग्रता-वर्धक, निराकुलता-नाशक होने से इसी व्यसन में गर्भित हो जाते हैं। आत्मार्थी जीवों को इस आकुलता-मय तथा आकुलता के कारणभूत द्रव्य या व्यवहार चोरी व्यसन को सदा-सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

लोभ के वशीभूत होकर परवस्तुओं के प्रति भागीदारी की चाह करना, उसे अपना बनाने का प्रयास करना, उसे अपने स्वामित्व में लेने का प्रयत्न करना भाव या निश्चय चोरी व्यसन है। इस व्यसन में उलझी हुई बुद्धि कभी भी सफल नहीं हो पाती है; क्योंकि कोई एक वस्तु, किसी दूसरी वस्तु के स्वामित्व में आ जाए, अन्य की हो जाए; ऐसा अनाद्यनन्त अकृत्रिम वस्तु-व्यवस्था में कदापि सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने वैभव की स्वामी होने से उसे अन्य का स्वामी बनने की आवश्यकता भी तो नहीं है; अतः अनंत कष्टकारक निरर्थक प्रयासवाले इस व्यसन को आत्म-हित की भावना से पूर्णतया छोड़ देना चाहिए।

पं. बनारसीदासजी इस भाव चोरी व्यसन को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्यार सौं पराई सौंज, गहिबे की चाह चोरी।''

प्रश्न १० : उपर्युक्त सातों व्यसनों के त्याग की आवश्यकता बताते हुए, उन्हें छोड़ने का उपाय बताकर, द्रव्य और भाव व्यसन के संबंध में अपने विचार स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : व्यसन-सेवन में आसक्त व्यक्ति व्यसनी और दुराचारी कहलाता है। उसे धर्म-श्रवण करने का भी अवकाश नहीं रहता है। वास्तव में तो उसे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का समागम प्राप्त कर पाना भी दुर्लभ हो जाता है। इस दुर्लभता में वह संसार-दुःखों से मुक्त कैसे हो सकता है ? सच्चा सुख कैसे प्राप्त कर सकता है ? द्रव्यरूप या व्यवहाररूप सातों व्यसनों में से किसी एक व्यसन में भी जब तक इस जीव की प्रवृत्ति रहेगी; तबतक वह सम्यक्-

रत्नत्रयात्मक अतीन्द्रिय, निराकुल आनन्दमय दशा प्रगट करने का पात्र भी नहीं हो सकेगा; अत: जो संसार से मुक्त होना चाहता है, अतीन्द्रिय आनन्दरूप निराकुल दशा, वास्तविक सुख प्रगट करना चाहता है; उसे सम्यक्-रत्नत्रय प्राप्त करने का उपाय समझने के लिए, सम्यक्-रत्नत्रय प्रगट करने के लिए द्रव्य या व्यवहाररूप सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा पूर्ण एकाग्रतापूर्वक आत्मस्वरूप को समझने का, समझकर उसे पर्याय में व्यक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

आत्मरुचिपूर्वक किए जानेवाले अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ से आत्मस्वभाव की प्रगटता होने, उसमें वृद्धि होने तथा परिपूर्ण प्रगट होने की स्थिति में तदनुसार भावरूप व्यसन भी सहज छूट जाते हैं। अपने ज्ञानानंदमयी आत्म-स्वभाव की रुचि, प्रतीति; उसमें ही तृप्ति, संतुष्टि, तन्मयता, लीनता, स्थिरता, रमणतारूपी अतीन्द्रिय आनंदमय दशा का वेदन, रसास्वादन ही समस्त व्यसनों की त्यागमय दशा है।

द्रव्य और भाव व्यसन के संबंध में वास्तविक तथ्य तो यह है कि द्रव्य व्यसन मुख्यरूप से मनुष्यगति में ही होते हैं। यहाँ भी सामाजिक-व्यवस्था और सरकार के भय से भयभीत होकर अधिकांश व्यक्ति तत्काल प्रत्यक्ष दु:खदायक, जगत-निन्द्य इन द्रव्यरूप जुआ आदि सात व्यसनों को छोड़ देते हैं; परन्तु आत्मस्वभाव प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं करने के कारण भावरूप सात व्यसन उनके जीवन में चलते रहते हैं; जिनसे वे सतत दु:ख भोगते हैं।

इसके साथ ही दूसरा तथ्य यह भी है कि यदि किसी ने इस मनुष्य पर्याय में द्रव्यरूप सात व्यसन नहीं भी छोड़े तो भी इस पर्याय के विनाश के साथ ही वे स्वत: छूट जाते हैं; परन्तु भावरूप सात व्यसन तो व्यक्ताव्यक्त रूप में चारों ही गतिओं में चलते रहते हैं; अत: उन्हें नष्ट करने के लिए बुद्धिपूर्वक, आत्मो-न्मुखी, तीव्र पुरुषार्थ करना चाहिए। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के समागम से आत्मस्वरूप को समझकर, उसमें लीन होने, रमने, स्थिर होने से ही इन भाव व्यसनों का त्याग होता है। सुखी होने के इच्छुक, अतीन्द्रिय आनंदमय जीवन जीने के इच्छुक जीवों को भाव-व्यसन छोड़ने की ओर तीव्र रुचि, पुरुषार्थपूर्वक विशेष ध्यान देना चाहिए। ○○○

पाठ ७

अहिंसा : एक विवेचन

प्रश्न १ : आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।

उत्तर : लौकिक नि:स्पृहता और मोक्षमार्गारूढ़ अलौकिक जीवन-सम्पन्न आचार्य अमृतचंद्रसूरी के लौकिक जीवन के संबंध में उनकी आध्यात्मिक, भक्तिपरक, अनुपम साहित्यिक कृतिओं के अतिरिक्त हमें कुछ भी विदित नहीं है। मात्र पण्डित आशाधरजी द्वारा आपको 'ठक्कुर' शब्द से सम्बोधित किए जाने के कारण आपका क्षत्रिय घराने से संबंधित रहना परिलक्षित होता है। यद्यपि आपने अपनी चिरजीवी कृतिओं में अपने लौकिक जीवन के संबंध में कुछ भी लिखने की आवश्यकता अनुभव नहीं की; तथापि अपने अलौकिक आध्यात्मिक जीवन का परिचय प्रत्येक अमर कृति में दिया है। आप इनमें स्वयं को दर्शन-ज्ञानमयी अनंत चैतन्यस्वरूपी; समस्त परद्रव्यों से, उनके भावों से, उन संबंधी अपने भावों से, उन संबंधी कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण विकल्पों से पूर्णतया भिन्न; त्रिकाल शुद्ध, एक, परिपूर्ण, स्वसम्वेदन-मयी प्रत्यक्षगोचर भगवान आत्मा कहते हैं। इसीप्रकार के अन्यान्य अनेकानेक विशेषणों द्वारा आपने अपना बृहद् परिचय अपनी समग्र उपलब्ध कृतिओं में दिया है।

परिचय में नाम, काम और धाम की मुख्यता होती है। लोक में व्यक्ति जिससे जाना जाता है, वह 'नाम' है। वह जिसे सदैव करता है, वह 'काम' है तथा उसका स्थायी निवास 'धाम' कहलाता है। प्रस्तुत आचार्य अमृतचंद्रसूरी नाम से सुविख्यात हैं; आत्मा का ज्ञान ही उनका काम है तथा आत्मा ही उनका स्थायी निवास/धाम है। विक्रम की दशवीं शती के उत्तरार्ध में भारतभू को अलंकृत करनेवाले, आचार्य कुन्दकुन्द की तीन कृतिओं के अद्वितीय टीकाकार, अनेक मौलिक कृतिओं के सर्जक, गहन तात्त्विक चिन्तक, निरभिमानी, अनुभूतिमूलक आचार्य अमृतचन्द्र अपने अकर्तृत्व/सहज ज्ञातृत्व-स्वभाव को इसप्रकार से समयसार कलश २७८ में शब्दांकित करते हैं –

''स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै: व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दै:।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरे:॥

अपनी शक्ति से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले शब्दों द्वारा यह समय (समयसार) की व्याख्या की गई है। स्वरूपगुप्त मुझ अमृतचन्द्र सूरी का इसमें कुछ भी कर्तव्य/कर्तापना नहीं है।''

लगभग इसीप्रकार के भाव आपने अपनी प्रत्येक कृति के अंत में व्यक्त किए हैं।

आप नंदिसंघ के आचार्य हैं। अनेकानेक प्रमाणों से यह तथ्य प्रमाणित हो गया है कि नन्दिसंघ के आचार्यों के नाम के अंत में नन्दि, चंद्र, कीर्ति या भूषण जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। एक स्थल पर आपको अमृतनन्दि नाम से भी उल्लिखित किया गया है। यद्यपि कुछ लोग आपको काष्ठासंघ का आचार्य मानते हैं; परन्तु काष्ठासंघ की किसी भी मान्यता का किंचित् भी पोषण आपकी कृतिओं में नहीं किया गया है। आपकी कृतिओं में सर्वत्र स्त्री-मुक्ति आदि का तथा मुनिराजों को परिग्रहरूप में कुछ भी रखने का सर्वथा निषेध किया गया है। आप आचार्य कुन्दकुन्द के निजामृतरस के रसिक, अनुगामी शिष्य, परमभक्त तथा गंभीरतम विषय को स्पष्ट करनेवाले प्रामाणिक अद्वितीय टीकाकार हैं। आचार्य उमास्वामी की कृति 'तत्त्वार्थसूत्र' के भी आप सफलतम प्रामाणिक टीकाकार हैं – इन सभी तथ्यों से यह तथ्य निश्शंकतया स्पष्ट है कि आप मूलसंघ नन्दिसंघ के एक आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, पंचपरमेष्ठी भगवान के प्रति भक्तिरस में रँगे हुए महान आचार्य हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृतभाषा के असाधारण अधिकारी हैं। भाषा अनुचरी के समान आपका अनुचरण करती है। आपकी गद्य-पद्य – दोनों ही प्रकार की कृतिआँ भावानुसारी भाषासम्पन्न, सहज बोधगम्य, माधुर्य गुण से सहित हैं। टीका और मौलिक रचनाओं के रूप में उपलब्ध आपकी कृतिआँ निम्नलिखित हैं –

१. आत्मख्याति टीका : प्रस्तुत रचना आचार्य कुन्दकुन्ददेव के परम आध्यात्मिक ग्रंथ समयपाहुड़ (समयसार) के अद्भुत रहस्य को उद्घाटित करनेवाली, अध्यात्म जगत की सर्वोत्कृष्ट टीका है।

२. तत्त्वप्रदीपिका टीका : प्रस्तुत टीका आचार्य कुन्दकुन्ददेव के पवयणसार पाहुड/प्रवचनसार ग्रंथ पर वस्तु-व्यवस्था का गूढ़तम स्वरूप, अत्यंत विशदशैली में स्पष्ट करती है।

३. समयव्याख्या : प्रस्तुत टीका प्राथमिक शिष्यों के लिए वस्तुव्यवस्था

को संक्षेप में समझाकर, नौ पदार्थ और मोक्षमार्ग का विवेचन करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव के पंचास्तिकाय संग्रह नामक ग्रंथ पर लिखी गई है।

४. **तत्त्वार्थसार :** प्रस्तुत टीका आचार्य उमास्वामीदेव की उपलब्ध एक-मात्र कृति तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र पर सैद्धान्तिक दृष्टि से मीमांसा, विश्लेषण करते हुए लिखी गई है।

ये चारों रचनाएं टीका ग्रंथ हैं। इनमें से आत्मख्याति टीका तो गद्य-पद्य-मय चम्पूकाव्य है। तत्त्वार्थसार पूर्णतया पद्यमय है। तत्त्वप्रदीपिका और समय-व्याख्या में कुछ पद्यों का प्रयोग कर मुख्यरूप से गद्यशैली अपनाई गई है।

इनके अतिरिक्त पद्यशैली में निबद्ध पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और लघुतत्त्वस्फोट – ये दो आपकी मौलिक रचनाएं हैं।

५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय –** दो सौ छब्बीस आर्याछन्दों में लिखी गई प्रस्तुत रचना आचार्य समन्तभद्रस्वामी का अनुसरण करनेवाली, मुख्यतया श्रावकाचारपरक एक अनुपम कृति है। हिंसा-अहिंसा का सूक्ष्मदृष्टि से विवेचन करनेवाली इस कृति का अपर नाम 'जिन प्रवचन रहस्यकोश' भी है। इस पर अनेकानेक भाषाओं में टीकाएं भी प्रकाशित हुई हैं। इसकी विषय-वस्तु से प्रभावित होकर कई अजैन विद्वान भी अपने विचारों में परिवर्तन कर जैनदर्शन की ओर आकृष्ट हुए हैं/अहिंसक धर्म के उपासक हुए हैं।

६. **लघुतत्त्वस्फोट :** प्रस्तुत कृति भी आचार्य समन्तभद्रस्वामी के स्तुति साहित्य का अनुसरण करते हुए लिखी गई सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करनेवाली चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिपरक अनुपम रचना है। इसका दूसरा नाम 'शक्तिमणित-कोश' या 'शक्तिभणित-कोश' भी है। यह आचार्य अमृतचन्द्र की सर्वाधिक क्लिष्ट, प्रौढ़, गहन-गंभीर दार्शनिक कृति है।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्माराधना के साथ-साथ यद्यपि अपनी साहित्यिक साधना से जिनवाणी माँ के कोश को भरपूर समृद्ध किया है; तथापि अकर्तृत्व स्वभावमय ज्ञानानन्दसम्पन्न जीवन व्यतीत करनेवाले परमपूज्य आचार्य ने कहीं भी इनके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया है। लोकैषणा से दूर रहनेवाले तथा लोक-व्यवहार को मोह में नाचना माननेवाले आचार्यदेव ने प्राय: अपनी प्रत्येक कृति में ये भाव व्यक्त किए हैं कि "विविध

वर्णों से पदों की रचना हो जाती है; पदों से वाक्य और वाक्यों से पवित्र शास्त्र बन जाते हैं; स्वरूपगुप्त मुझ अमृतचन्द्र का इसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।''

हम भी आचार्य अमृतचंद्र के समान अध्यात्मरस के रसिक होकर, समस्त कर्तृत्व से दूर हो आत्मनिमग्न रहें – यही पावन भावना है।

प्रश्न २ : अहिंसा के संबंध में प्रचलित समस्त विपरीत मान्यताओं का निराकरण कर, इनका सम्यक् विवेचन करते हुए 'अहिंसा' – इस विषय पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

उत्तर : हिंसा और अहिंसा क्रमशः अधर्म व धर्म के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान रखते हैं। हिंसा सबसे बड़ा पाप, दुःखमय तथा दुःख का कारणभूत अधर्मभाव है। अहिंसा सर्वोत्कृष्ट पवित्रतम परिणाम, सुखमय तथा सुख का कारणभूत धर्मभाव है। जिसप्रकार हिंसा में असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इत्यादि सभी विकारीभाव गर्भित हैं; उसीप्रकार अहिंसा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उत्तम क्षमादि दशधर्म इत्यादि समस्त वीतरागभाव गर्भित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा और अहिंसा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं –

''अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

आत्मा में मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति होना हिंसा है; यह जिनागम का संक्षिप्तसार है।''

हिंसा शब्द 'हिंस्र' धातु से बना है। जिसका अर्थ है – मारना, घात करना, सताना, कष्ट देना आदि। हिंसा का निषेधात्मकरूप अहिंसा है अर्थात् मारने आदि भावों का नहीं होना, अहिंसा है। इसप्रकार हिंसा और अहिंसा का सीधा संबंध वास्तव में आत्मा से ही है। **आत्मा में दूसरों के प्रति मारने या बचाने का भाव उत्पन्न होना ही आत्मा की हिंसा है। यह अज्ञानी जगत मारने के भाव को तो हिंसा स्वीकार कर लेता है; परन्तु बचाने का भाव भी हिंसा है – यह उसे स्वीकृत नहीं हो पाता है; तथापि वास्तविकता यह है कि इन दोनों ही भावों में आत्मा का उपयोग परलक्ष्यी ही होता है; जिससे आत्मा की शान्ति नष्ट हो जाती है।**

वस्तु-व्यवस्था के अंतर्गत किसी अन्य को मारना या बचाना किसी अन्य के हाथ में नहीं होने के कारण यह वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध प्रवृत्ति होने से

आत्मा को बंधनकारक है; अत: हिंसा है तथा किसी भी परद्रव्य की ओर उपयोग न जाकर, उपयोग का एकमात्र स्वरूपलीन रहना, मोह-राग-द्वेष से रहित एक वीतरागभाव रूप रहना, वस्तु-व्यवस्था के अनुकूल प्रवृत्ति होने से बंधकारक न होकर, आत्मा को सुख-शांतिमय तथा सुख-शान्ति-दायक होने के कारण अहिंसा है।

जनसामान्य प्राय: हिंसा-अहिंसा का संबंध अन्य जीवों से ही जोड़ते हैं। वे मानते हैं कि अन्य जीवों को मारना या सताना हिंसा है तथा उनकी रक्षा करना अहिंसा है। इस मान्यता के समय वे यह विचार नहीं करते हैं कि कभी-कभी प्राकृतिक घटनाओं से अनेकानेक जीव मारे या सताये जाते हैं तथा अनुकूल वातावरण से अनेकानेक जीवों का संरक्षण आदि भी होता है; तब फिर इस हिंसा-अहिंसा का फल किसे भोगना पड़ेगा ? क्या इन प्राकृतिक घटनाओं को उनका फल मिलता है ? यदि नहीं; तो वास्तव में ये हिंसा या अहिंसा निष्फल ही हुए।

यदि कभी ये लोग हिंसा-अहिंसा का संबंध स्वयं से जोड़ते भी हैं तो मात्र इतना ही कि आत्महत्या, आत्मघात अर्थात् विष-भक्षण आदि से अपने वर्तमान शरीर को नष्ट कर देना हिंसा है तथा ऐसा नहीं करना अहिंसा है। इसमें यह विचार नहीं कर पाते हैं कि जिसे अपना कहा जा रहा है, वह मूर्तिक जड़ शरीर अपना है कहाँ ? आजतक अनंत प्रयास करने के बाद भी उसे अपना बनाना सम्भव कहाँ हो पाया है? यही कारण है कि इस हिंसा-अहिंसा का फल अपना कहे जानेवाले शरीर को नहीं भोगना पड़ता है।

वास्तविकता तो यह है कि शरीरादि परपदार्थों का नष्ट होना या रहना हिंसा-अहिंसा नहीं है। ये सभी तो मात्र हिंसा-अहिंसा के बाह्य निमित्त-कारण, आयतन या आश्रयभूत हैं। इनसे जीव के आन्तरिक परिणामों का ज्ञान तो होता है; परन्तु कर्म का बंध आदि नहीं होता है। परिणामों की विकृति के बाह्य निमित्त होने मात्र से ही जैनधर्म में इनका त्याग कराया जाता है। इस संबंध में आचार्य अमृतचंद्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं कि –

"सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस:।
हिंसायतननिर्वृत्ति: परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥

यद्यपि आत्मा को परवस्तुओं के कारण रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती है;

तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के आयतनों/निमित्तों का त्याग कर देना चाहिए।''

अन्य को मारने, दुःख देने आदि को जिनागम में उपचार से हिंसा, द्रव्य-हिंसा या व्यवहार से हिंसा कहा जाता है। वास्तविक हिंसा, भावहिंसा या निश्चय से हिंसा तो प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव ही हैं। दूसरों को मारने, सताने, कष्ट देने आदि रूप परिणाम तो द्वेषवश उत्पन्न होने से हिंसा हैं ही; बंध के कारण, दुःखमय तथा दुःख के कारण हैं ही; इसके साथ ही दूसरों को बचाने के भाव, रक्षा करने के भाव, पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में प्रवर्तन के भाव आदि शुभाशुभभाव भी उनके प्रति रागवश उत्पन्न होने से हिंसा ही हैं; बंध के कारण, दुःखमय तथा दुःख के कारण ही हैं। एकमात्र राग-द्वेषादि समस्त विकारों से रहित वीतराग-भाव ही अहिंसा है।

इस संदर्भ में जनसामान्य भले ही रागभाव को हिंसा स्वीकार नहीं कर सके; तथापि वास्तविक स्थिति यह है कि जितनी हिंसा द्वेषभाव से होती है, उससे कई गुनी अधिक हिंसा रागभाव से होती है। शारीरिक-पुष्टि के बहाने अभक्ष्य-भक्षण आदि करना, माँस-मदिरा का सेवन करना; शरीर-सुन्दरता के बहाने रेशमी वस्त्र, चमड़े आदि के वस्त्र इत्यादि किसी भी प्रकार की सामग्री के रूप में होनेवाली हिंसा, राग के कारण हुई हिंसा ही तो है। धन, सम्पत्ति का संग्रह करने में होनेवाली हिंसा भी रागात्मक ही है, द्वेषात्मक नहीं; पाँचों पापों में प्रवर्तन भी, सातों व्यसनों में लीनता भी द्वेष की अपेक्षा राग के वशीभूत होकर ही बहुलता से होती है। इतिहास भी इसका साक्षी है कि द्वेष-भाववश की जानेवाली हिंसा से कई गुनी अधिक हिंसा रागभाव से ही हुई है। धार्मिक सुरक्षा के नाम पर धार्मिक उन्मादवश की जानेवाली हिंसा भी पूर्णतया रागात्मक ही होती है। निष्कर्ष यह है कि द्वेष के समान राग भाव भी परलक्ष्यीभाव होने से बंध का कारण है; स्वयं बंधमय, आकुलतामय होने से हिंसा ही है; अहिंसा नहीं है।

इसप्रकार आत्मा में मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है। रागादि भावों को धर्म मानना, मिथ्यात्व होने के कारण महाहिंसा है तथा उन्हें धर्म

नहीं मानना, अहिंसा के संबंध में सम्यक् मान्यता है। रागादि विकारीभावों में तीव्र, मन्द आदि सभी प्रकार के रागादिभाव समाहित हैं।

यद्यपि गृहस्थदशा में इसप्रकार के सम्पूर्ण रागादि विकारीभावों का पूर्णतया त्याग हो पाना शक्य नहीं है; यही कारण है कि आचार्यों ने भूमिकानुसार ही इनके त्याग को अनेक स्तरों में विभक्त किया है; तथापि होते हुए रागादि भावों को अच्छा मानने की, उनसे अपनी उन्नति-विकास मानने की मान्यता छोड़ना पूर्णतया संभव है, यह विपरीत मान्यता छोड़ देना ही तत्संबंधी मिथ्यात्व का त्याग है।

साधु और श्रावक की दृष्टि से हिंसा, अहिंसा के स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता है; मात्र उन्हें जीवन में छोड़ने और ग्रहण करने के स्तर की अपेक्षा ही साधु और श्रावक का भेद बनता है; अतः गृहस्थ भूमिका में पूर्णतया हिंसा नहीं छूट पाने पर भी, हिंसा को धर्म मानना तो छोड़ ही देना चाहिए तथा शक्ति के अनुसार स्वरूप-लीनता के बल पर मोह, राग, द्वेष के अभावरूप परमधर्ममय अहिंसा को प्रगट करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

इसीप्रकार चित्तशुद्धि के लिए बाह्य स्थूल हिंसा का भी त्याग करना चाहिए। जिस जीव के बाह्य स्थूलहिंसा का भी त्याग नहीं होगा, वह तो इस अन्दर की हिंसा को समझ भी नहीं सकता है; अतः परिणामों में क्रूरता उत्पन्न करनेवाले, असंख्य त्रस जीवों का घात करनेवाले मद्य, माँस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग; अभक्ष्य-भक्षणादि तथा रात्रि भोजनादि हिंसककार्यों का त्याग अवश्यमेव कर देना चाहिए। अहिंसक वृत्तिवाले मंदकषायी जीव की इसप्रकार की अनर्गल प्रवृत्ति नहीं पाई जा सकती है।

असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप भी मोह, राग, द्वेषरूप परिणतिमय होने से हिंसा में ही गर्भित हैं। इस संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं –

"आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥

आत्मा के शुद्ध परिणामों का घात करने में कारण होने से असत्य वचन आदि सभी पाप हिंसा ही हैं; मात्र शिष्यों को समझाने के लिए ये भेद किए जाते हैं।"

इसप्रकार मोह, राग, द्वेष, पाँच पाप, सात व्यसन आदि समस्त विकारी

भाव, परलक्ष्यी परिणाम हिंसा हैं तथा इन सब भावों का उत्पन्न नहीं होना, आत्मस्वरूप में ही स्थिरता होना, एकमात्र वीतरागीपरिणाम ही अहिंसा है।

प्रश्न ३ : रागादिभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है और रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है – इस तथ्य का तर्कसंगत विवेचन कीजिए।

उत्तर : प्रत्येक वस्तु अपने ही परिणमन की कर्ता-भोक्ता होने से, अन्य किसी वस्तु के परिणमन का अन्य किसी दूसरी वस्तु को फल मिलना तो वस्तु-व्यवस्था में पूर्णतया असम्भव ही है; अत: दूसरों को मारने या बचानेरूप से उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव वास्तव में निरर्थक बालचेष्टावत ही हैं। पर की स्वाधीन सत्ता में हस्तक्षेप करने की बुद्धि उत्पन्न होने के कारण ये रागादिभाव आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव के घातक, बंधनमय तथा बंधनकारक अपराधी-भाव हैं। – इसप्रकार ये आत्मघाती परिणाम हैं। इनका उत्पन्न होना, आत्मा की हिंसा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी दूसरे को मारने या बचाने का भाव करने पर भी वह मरता या बचता नहीं है; तथापि आत्मा की शांति, निराकुलता तो नष्ट हो ही जाती है; अत: यह भाव हिंसा है।

जब आत्मा वस्तु के स्वरूप को जानकर, पहिचानकर; अपने स्वभाव को भी जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होता है; तो अज्ञानता नष्ट हो जाने के कारण पर में हस्तक्षेप करनेरूप रागादि विकृतिओंमय निरर्थक चेष्टाएं उत्पन्न ही नहीं होती हैं। आत्मा की सुख, शांति, निराकुलता का घात नहीं होता है; यही आत्मा की अहिंसा या वीतरागदशा है।

जब वास्तव में परपदार्थों में हमारा कुछ वश चलता ही नहीं है; तब फिर उन संबंधी कोई भी भाव नियम से कष्टदायक ही होंगे – यह समझ में आ जाने पर, वस्तु-व्यवस्थापरक स्वतंत्रता-स्वाधीनता का दृढ़ विश्वास हो जाने पर भूमिकानुसार स्वरूप-स्थिरता के बल पर क्रमश: जितने-जितने पूर्व संस्कार भी नष्ट होते जाते हैं; उतना-उतना ही आत्मा अपनी हिंसा से बचकर, अहिंसक होता जाता है अर्थात् वह अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का घात नहीं करता है। सम्पूर्ण पदार्थों का सहजभाव से मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है; उनकी स्वतंत्रता-स्वाधीनता खण्डित करने का निरर्थक प्रयास नहीं करता है। सभी को अपनी-अपनी सीमा में रहकर अपना-अपना काम करते रहने देना ही आत्मा की परम अहिंसा है।

प्रश्न ४ : मंदराग या शुभभाव को अहिंसा कहने में क्या आपत्ति है ? स्पष्ट करें।

उत्तर : मन्दराग, राग का ही एक रूप है। राग-द्वेषादि सभी भाव कषायमय हैं।

राग में हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तथा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी माया-लोभ – यह आठ भेद समाहित करने पर तेरह कषायें आ जाती हैं। शेष बारह कषायें द्वेष में गर्भित होती हैं।

मन्दराग को अहिंसा कहने का तात्पर्य माया, लोभ, हास्य, रति और तीनों वेदों संबंधी विकारीभावों को अहिंसा कहना हुआ। जबकि इन विकारीभावों को लोक में भी अच्छा नहीं माना जाता है, तब फिर धार्मिक क्षेत्र में ये भाव परमधर्ममय अहिंसारूप कैसे हो सकते हैं ? लोभ को तो सभी पापों को उत्पन्न करनेवाला बाप कहा जाता है; 'लोभ पाप कौ बाप बखानों'। जो कषाय सभी पापों को उत्पन्न करने में सक्षम है वह अथवा उसकी मन्दता अहिंसा कैसे हो सकती है ?

वास्तविक वस्तु-स्थिति तो यह है कि मंदराग में आकुलता की कमी होने के कारण यह उसे सुख-शांतिमय दशा मान लेता है। **रागादि विकारी भावों की मन्दता या तीव्रता कभी भी एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिकती है। वास्तव में तो इस मन्दराग में इसे उस राग को पूर्णतया नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए था; परन्तु यह तो उसे ही सुख-शांतिमय मानकर, उसमें ही संतुष्ट होकर अटक जाता है; जिससे मिथ्यात्वमय तीव्र कर्मबंधन तो होता ही है, साथ ही अन्तर्मुहूर्त बाद ही पुनः तीव्र राग हो जाने से इसे तीव्र आकुलता भोगनी पड़ती है।**

इसप्रकार आत्मा की सुख-शांति का सतत घात करनेवाला परिणाम अहिंसा कैसे हो सकता है ? लोक में भी मंदघातक या कमघातक को भी मित्र नहीं, वरन् शत्रु मानकर, उसे जड़मूल से नष्ट करने का ही प्रयास पुरुषार्थी, विवेकी, बुद्धिमान जीव किया करते हैं; तब फिर धर्म में मंदघातक रूप मंदराग को अहिंसा अर्थात् सुख-शांतिमय परम धर्म कैसे माना जा सकता है ?

वास्तव में तो मंदराग को अहिंसा या धर्म मानना, जीव का तीव्रतम विपरीत बुद्धिमय परिणाम होने से महाहिंसा अर्थात् सप्त व्यसनों से भी बड़ा मिथ्यात्व नामक महापाप है। मंदराग से पुण्य का बंध होने के कारण तथा उसके उदय में पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की अनुकूल सामग्री मिलने से मंदराग में धर्मबुद्धि या रुचि; परोक्षरूप में पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में धर्मबुद्धि या रुचि रखने जैसा महापाप है।

व्यवहार में या जिनागम में भी व्यवहारनय से भले ही मंदराग को अहिंसा

कह दिया जाता है; तथापि यह सब औपचारिक है, वास्तविक नहीं। इसे वास्तविक अहिंसा मानना, आत्मघातयुक्त महापाप, महाहिंसा, मिथ्यात्व है।

इसप्रकार परम सुखी होने के लिए हमें सर्वप्रथम मंद या तीव्र सभी प्रकार के रागादि विकारीभाव को हिंसामय मानकर, उनसे भिन्न अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही अहिंसा परमधर्म है।

प्रश्न ५ : भावहिंसा और द्रव्यहिंसा में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : भावहिंसा और द्रव्यहिंसा में अंतर निम्नलिखितरूप से स्पष्ट किया जा सकता है –

भावहिंसा	द्रव्यहिंसा
१. आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव, भावहिंसा है।	अन्य जीवों को सताना, कष्ट देना, मारना आदि द्रव्यहिंसा है।
२. भावहिंसा ही कर्मबंध का मूलकारण है।	द्रव्यहिंसा से कर्मबंध नहीं होता है, मात्र उससे अपने विकारीभावों का ज्ञान हो जाता है।
३. भावहिंसा सात तत्त्वों में से आस्रव, बंध तत्त्वरूप होने के कारण दु:खमय और दु:ख की कारण है।	द्रव्यहिंसा अजीवतत्त्व होने के कारण वास्तव में न तो दु:खमय है और न दु:ख की कारण है; तथापि लौकिक, सामाजिक आदि दृष्टिकोणों से लोक में इसे बुरा कहा जाता है।
४. द्रव्यहिंसा के बिना भी भावहिंसा मात्र से ही जीव को कर्मों का बंध हो जाता है एवं उसका फल उसे भोगना पड़ता है।	भावहिंसा के बिना होनेवाली द्रव्यहिंसा मात्र से जीवों को कर्मबन्धन नहीं होता है और उस हिंसा का फल भी उन्हें नहीं भोगना पड़ता है।
५. भावहिंसा से द्रव्यहिंसारूप प्रतिक्रिया देखी जाती है; अत: पूर्ण पुरुषार्थपूर्वक भावहिंसा नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।	द्रव्यहिंसा तो भूकंप, बाढ़ आदि प्राकृतिक कारणों से भी हो जाती है; जिनमें हमारा कुछ भी वश नहीं चलता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से भावहिंसा और द्रव्यहिंसा में अन्तर है। ○○○

पाठ ८

आष्टान्हिका महापर्व

प्रश्न १ : पर्व किसे कहते हैं ? वे कितने और कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : संबंध स्थापित करनेवाले या नवीन उत्पादन करनेवाले भाव जिन विशिष्ट अवसरों में होते हैं, उन्हें पर्व कहते हैं। धार्मिक पर्वों में हमारा संबंध देव, शास्त्र, गुरु के साथ अति निकटता से होता है। विषय-भोगों से निर्वृत्त होकर, उनके सान्निध्य में तत्त्व-चिंतन आदि के माध्यम से हमारे अंदर सम्य-ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सम्यक्रत्नत्रय का उत्पादन होता है; अत: ऐसे अवसर पर्व कहलाते हैं।

सामान्यतया पर्व दो प्रकार के होते हैं – धार्मिक पर्व और लौकिक पर्व। धार्मिक पर्व भी मुख्यरूप से दो प्रकार के होते हैं – तात्कालिक/क्षणिक/सादि-सान्त पर्व तथा त्रैकालिक/शाश्वत/अनाद्यनन्त पर्व। किसी कारण से जो धार्मिक अवसर नये बनते हैं, वे तात्कालिक पर्व हैं तथा जो धार्मिक अवसर सदा से ही विद्यमान हैं, उन्हें त्रैकालिक पर्व कहते हैं। अष्टमी, चतु-र्दशी, दशलक्षण पर्व, आष्टान्हिका पर्व इत्यादि त्रैकालिक पर्व हैं।

तात्कालिक धार्मिक पर्व भी दो प्रकार के हैं – घटनात्मक पर्व तथा वैय-क्तिक पर्व। किसी समय कोई विशिष्ट घटना घटित हो जाने के कारण उसके स्मरण के लिए प्रारंभ हुए पर्व घटनात्मक पर्व कहलाते हैं। जैसे श्रुत-पंचमी, अक्षय-तृतीया, रक्षा-बंधन पर्व इत्यादि। किन्हीं विशिष्ट व्यक्तिओं से संबं-धित पर्व वैयक्तिक पर्व हैं। जैसे वृषभ जयंती, महावीर जयंती, वृषभ निर्वाण महोत्सव, वीर निर्वाण महोत्सव/दीपावली इत्यादि।

जो पर्व मात्र लोक-प्रचलित होते हैं, जिनका धर्म या धार्मिक जीवन से कोई संबंध नहीं होता है, उन्हें लौकिक पर्व कहते हैं। जैसे – स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस आदि।

इन भेद-प्रभेदों को हम अग्रलिखित चार्ट द्वारा स्पष्टतया इसप्रकार समझ सकते हैं –

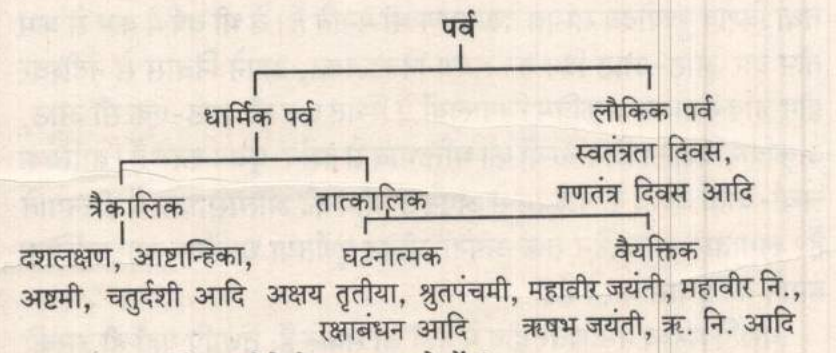

प्रश्न २ : धार्मिक पर्व कैसे मनाए जाते हैं ?

उत्तर : धार्मिक पर्व धर्म और धार्मिक जीवन से संबंधित होने के कारण धार्मिक पद्धति से मनाए जाते हैं। इनमें लोग संयम से रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, तात्त्विक चर्चा-वार्ता करते हैं, आत्मसाधना में तत्पर रहते हैं, अपने में वीतराग-भाव की वृद्धि करने का सतत प्रयास करते हैं; लौकिक विषय-वासनाओं से दूर रहते हुए पूर्णतया धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन जीने का प्रयत्न करते हैं। इन पर्वों का मूल प्रयोजन जीवों को सभी प्रकार की आकुलताओं से मुक्तकर पूर्णतया निराकुल सुखी बनाना है।

प्रश्न ३ : आष्टान्हिका महापर्व किसे कहते हैं ? वह कब मनाया जाता है? इसे महापर्व कहने का कारण बताते हुए, इस संबंधी अपने विचार व्यक्त कीजिए ?

उत्तर : 'आष्टान्हिका' शब्द अष्ट और अन्हि = इन दो शब्दों को मिलाकर, उसमें ठक् और टाप् प्रत्यय लगाने से निर्मित हुआ है। अष्ट=आठ, अन्हि= दिन, ठक्/इक/सम्बन्धवाचक, टाप्/आ अर्थात् आठ दिन संबंधी या आठ दिन पर्यंत चलनेवाले पर्व को आष्टान्हिका पर्व कहते हैं।

यह पर्व वर्ष में तीन बार मनाया जाता है – कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त तथा आषाढ़ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त। नंदीश्वर द्वीप-पूजन की जयमाला में भी सर्वप्रथम ऐसा ही कहा गया है –

''कार्तिक फागुन षाढ़ के, अंत आठ दिन माँहि।
नंदीश्वर सुर जात हैं, हम पूजें इह ठाँहि॥''

अष्टमी, चतुर्दशी आदि धार्मिक पर्व तो मात्र मनुष्य ही मनाते हैं; परंतु आष्टान्हिका महापर्व तो पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धिवाले

तथा विशेष पुण्योदय सम्पन्न देवतागण भी मनाते हैं। वे भी वर्ष में कम से कम तीन बार आठ-आठ दिन का समय निकालकर, अपने निवास से नंदीश्वर द्वीप जाकर बावन अकृत्रिम जिनालयों में स्थित एक सौ आठ-एक सौ आठ, अकृत्रिम विशाल जिनबिम्बों का भक्तिभाव से दर्शन-पूजन करते हैं। तात्त्विक चर्चा-वार्ता आदि के माध्यम से अपने उपयोग को आत्मसाधना में ही लगाते हैं। लगातार आठ दिन तक अपना जीवन पूर्णतया धार्मिक-आध्यात्मिक बनाने का प्रयास करते हैं।

यद्यपि मनुष्य नन्दीश्वर द्वीप में नहीं जा सकते हैं; तथापि यहाँ ही उसकी स्थापना करके उन आठ दिनों में लगातार उपर्युक्त सभी कामों को कर सकते हैं। इसप्रकार मनुष्य और देव दोनों ही गति के जीव इस पर्व पर अपने वीतराग भाव की पुष्टि और वृद्धि करते हैं, आत्मसाधना करते हैं; अत: यह महापर्व कहलाता है।

वास्तव में जिस पर्व को लौकिकदृष्टि से सर्व सुख-सुविधाओं वाले देवता भी अति उत्साह से मनाते हों; उस पर्व को अनेकानेक आकुलताओं, संकटों में उलझे हुए मनुष्य को तो और भी अधिक उत्साह से मनाना चाहिए। आकुलता से बचने का एकमात्र उपाय अपना जीवन धर्ममय बनाना ही है। अपने जीवन को धार्मिक बनाने में ये पर्व विशिष्ट निमित्तभूत हैं; अत: प्रमाद छोड़कर इन पर्व के दिनों में देवताओं के समान हमें भी धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन जीने का अधिकाधिक प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न ४ : नन्दीश्वर द्वीप कहाँ है ? देवगण वहाँ क्यों जाते हैं ?

उत्तर : यह लोक ऊर्ध्व, मध्य और अधो – इसप्रकार तीन भागों में विभक्त है। उसमें से मध्यलोक में जम्बू द्वीप आदि असंख्य द्वीप तथा लवण समुद्र आदि असंख्य समुद्र हैं। जम्बू द्वीप से क्रमश: आगे बढ़ने पर आठवाँ द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। चारों दिशाओं में वलयाकार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन प्रमाण विस्तारवाले इस द्वीप में चारों ओर बीचों-बीच चौरासी हजार योजन ऊँचा कृष्णवर्णी अंजनगिरी नामक एक-एक पर्वत है।

प्रत्येक अंजनगिरी के चारों ओर निर्मलजल से परिपूर्ण एक-एक लाख योजन विस्तारवाली, एक-एक दिशा में एक-एक – इसप्रकार ४-४ बावड़िआँ हैं। इन सोलह बावड़िओं में से प्रत्येक के मध्य में दश हजार योजन विस्तारवाला दधिवर्णी, एक-एक दधिमुख नामक पर्वत है। बावड़िओं के

दोनों कोनों पर एक हजार योजन विस्तारवाला, रक्तवर्णी, एक-एक रतिकर नामक पर्वत है। इसप्रकार ४ अंजनगिरी, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर – कुल ५२ पर्वत हैं। ये सभी ५२ पर्वत ढोल के समान गोल (न कि ढोलक के समान) नीचे से ऊपर तक समान व्यासवाले हैं। प्रत्येक पर एक-एक अकृत्रिम जिनालय विद्यमान है। इसप्रकार कुल ५२ जिनमंदिर हैं। इनमें से प्रत्येक मंदिर में ५०० धनुष अर्थात् २००० हाथ ऊँची पद्मासन अरहंतदशा की रत्नमयी, अष्टमंगल द्रव्य एवं अष्टप्रातिहार्य सहित अत्यंत उपशम (शांत) रस से परिपूर्ण, वीतरागता को व्यक्त करती हुई १०८ अकृत्रिम जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। इन्हें देखने से महा वैराग्य परिणाम प्रगट होता है तथा आत्मानुभव की प्रेरणा मिलती है।

कितने ही देवगण इनके दर्शन-पूजन के बाद वस्तु-स्वरूप समझकर अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होकर सम्यक् रत्नत्रय प्रगट कर लेते हैं। जिनबिम्बों की इस सातिशयता के कारण देवगण वर्ष में पूर्वोक्त तीन बार वहाँ जाकर दर्शन-पूजन करते हैं। वे वहाँ लगातार आठ दिन पर्यन्त धार्मिक साधना, आत्माराधना किया करते हैं।

जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध क्षेत्ररूप मनुष्य-लोक के बाहर मनुष्य का जाना सम्भव नहीं होने से, मनुष्य अपने मनुष्य लोक में ही यथाशक्ति नंदीश्वर द्वीप की कृत्रिम रचनाकर, उनमें स्थित जिनबिम्बों के माध्यम से अपनी धार्मिक-साधना, आत्माराधना इन दिनों में किया करते हैं।

प्रश्न ५ : सिद्धचक्र किसे कहते हैं ? सिद्धों की आराधना का फल क्या है ?

उत्तर : द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर, अपने अनन्तानन्त गुणों की परिपूर्ण प्रगटता के साथ निकल परमात्मा बनकर, लोकाग्र में विराजमान हो, अव्याबाधरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय कृतकृत्य दशा से सम्पन्न, सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में ही अनन्तानन्त कालपर्यन्त संतुष्ट रहनेवाले जीव सिद्ध भगवान कहलाते हैं। उनका समूह सिद्धचक्र है।

इन सर्वबंधनों से मुक्त, परम वीतरागी, सर्वज्ञतासम्पन्न सिद्ध भगवान की आराधना का वास्तविक फल तो एकमात्र उन जैसे अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर हो वीतरागभाव प्रगट कर, उसकी वृद्धि कर, उसकी पूर्णता करना ही है। जन्म-मरण का अंत होकर अजर-अमर हो जाना ही उनकी आराधना का फल है। लौकिक लाभ की

इच्छा से उनकी आराधना करना, वास्तव में मिथ्यात्वमय होने से, पाप-बंध-कारक ही है।

यद्यपि जब आराधक जीव उन जैसे अपने स्वरूप में पूर्ण लीन नहीं रह पाता है, तब उनके प्रति भक्ति-भावरूप शुभपरिणामों से पुण्यबंध हो जाता है; उसके उदय में उसे लौकिक अनुकूलताएं भी सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं; तथापि वास्तविक आराधक की दृष्टि में उनका कुछ भी महत्त्व नहीं होता है। यह तो उन्हें भी अपने से पूर्णतया भिन्न मानता हुआ, उनसे विरक्त रहकर, आत्मा में ही स्थिर रहने का सतत पुरुषार्थ करता रहता है। यह आत्म-स्थिरता ही सिद्ध भगवान की आराधना का वास्तविक फल है।

प्रश्न ६ : क्या आपने सिद्धचक्र विधान-पूजा देखी है ? यदि हाँ तो उसमें क्या होता है ? समझाइए।

उत्तर : सिद्धचक्र विधान-पूजन के शुभावसर पर हमने भी उसमें यथाशक्ति सम्मिलित होकर लाभ लेने का प्रयास किया है। उससे मुझे जो समझ में आया, वह इसप्रकार है –

महाकवि सन्तलालजी द्वारा रचित सिद्धचक्र विधान-पूजन आठ दिवस-पर्यन्त चलनेवाला सिद्धभक्ति का विशाल कार्यक्रम है। इसमें क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आठ, सोलह, बत्तीस, चौंसठ, एक सौ अट्ठाईस, दो सौ छप्पन, पाँच सौ बारह और एक हजार चौबीस अर्घ्यों के माध्यम से सिद्ध भगवान की उपासना की जाती है। इन सभी अर्घ्यों तथा इन पूजनों की जयमालाओं में अनेकानेक आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक तथ्यों का निरूपण होता है। पहले दिन की पूजन में समकित आदि आठ गुणों के माध्यम से सिद्ध भगवान को अर्घ्य समर्पित किया गया है। इसकी जयमाला में मिथ्यात्व को नष्ट करने से लेकर सिद्धदशा की प्राप्ति-पर्यन्त होनेवाले पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है।

दूसरे दिन की पूजन में सोलह गुणों के माध्यम से सिद्ध भगवान की पूजन करके जयमाला में सिद्धदशा का वर्णन किया गया है। तीसरे दिन की पूजन में परिपूर्ण शुद्ध बत्तीस गुणों के माध्यम से सिद्धों की पूजनकर जयमाला में सिद्धों की महिमा गाई गई है। चौथे दिन की पूजन में चौंसठ ऋद्धिओं के माध्यम से सिद्ध भगवान की पूजन करके जयमाला में वचन-अगोचर सिद्धों की स्तुति की गई है।

पाँचवें दिन की पूजन में विशिष्ट बाईस गुणों से युक्त, एक सौ आठ प्रकार के सावद्य के त्याग-सम्पन्न सिद्ध भगवान की पूजन करके जयमाला में उनके माहात्म्य का वर्णन किया गया है। छठवें दिन की पूजन में एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतिओं के नाशक तथा अनंत गुणों के धारक सिद्ध भगवान को अर्घ्य समर्पित करके जयमाला में उनकी महिमा का वर्णन है।

सातवें दिन की पूजन में मंगल, उत्तम और शरणभूत पंच परमेष्ठिओं की पूजन करके जयमाला में सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। आठवें दिन की पूजन में एक हजार आठ नाम सहित अन्य नामों से सम्पन्न पंच परमेष्ठिओं को अर्घ्य समर्पितकर जयमाला में सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है।

इसप्रकार क्रमशः दुगुने-दुगुने अर्घ्यों के माध्यम से इस विधान में सिद्ध भगवान की पूजन, स्तुति, भक्ति, आराधना की गई है। वास्तव में गहराई से विचार करने पर इसमें पाँच विधान गर्भित हैं – सिद्धचक्र विधान, चौंसठ ऋद्धि विधान, पंच परमेष्ठी विधान, कर्म दहन विधान और सहस्रनाम विधान।

इसप्रकार सिद्धचक्र विधान-पूजन में भाग लेने का अवसर वास्तव में भक्ति, सिद्धान्त और अध्यात्म की त्रिवेणी में मंगल स्नान करने के समान आल्हादकारक है।

प्रश्न ७ : सिद्धचक्र विधान से कुष्ट रोग नष्ट हो जाता है। इस लोकप्रचलित मान्यता का सतर्क स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर : राजकुमारी मैनासुन्दरी का विवाह क्रोध के वशीभूत हो उसके पिता ने कुष्टरोग से ग्रसित श्रीपाल के साथ कर दिया। श्रीपाल के साथ ही उसके सौ मित्र भी कुष्ट रोग से ग्रसित थे। जैनधर्म की अगाध श्रद्धानी, सम्यग्दृष्टि, मैना-सुंदरी तत्संबंधी आकुलता से बचने के लिए सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा-उपासना में अपना समय व्यतीत किया करती थी। व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों से बचने के लिए एक बार उसने सिद्धचक्र विधान-पूजन प्रारंभ की। श्रीपाल और उसके समस्त साथी भी उसमें सम्मिलित हुए। मन एकाग्र करके पूर्ण निष्कामभाव से सभी सिद्ध भगवान की साधना तथा सिद्ध भगवान के समान अपने आत्मा की आराधना करते हुए भक्ति में लीन रहते थे। लगातार आठ दिवस पर्यन्त यह कार्यक्रम चलता रहा। इससे उनकी आत्माराधना तो निर्विघ्न हुई ही; इसके साथ ही तीव्रतम पुण्यबंध कारक तीव्र शुभभाव होने के कारण

पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का भी संक्रमण हो गया; जिससे उन सभी का कुष्टरोग भी पूर्णतया नष्ट हो गया, वे पूर्ण स्वस्थ और सुन्दर हो गए।

यह एक घटित घटना है। इसे लेकर अज्ञानिओं ने सिद्धचक्र विधान-पूजन का संबंध शारीरिक कुष्ट रोग को नष्ट करने से जोड़ लिया है। वास्तव में यदि यह विधान-पूजन शारीरिक कुष्ट रोग को नष्ट करता होता, तो आज विश्व में कोई भी कुष्ट रोग से पीड़ित रोगी शेष नहीं रहता तथा सर्वत्र ही जैनधर्म का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार हो जाता। इतनी सरल, सुगम, सस्ती, सहज उपलब्ध औषधि से इतने भयंकर रोग को मिटाने का प्रयास कौन नहीं करेगा ? दूसरी बात यह है कि मनुष्य पहले से ही इस विधान-पूजन का आयोजन करते रहते; जिससे उन्हें कभी भी यह रोग हो ही नहीं पाता।

इस संबंध में सत्य तथ्य तो यह है कि सिद्धचक्र विधान-पूजन को शारीरिक कुष्टरोग मिटाने की औषधिरूप में स्वीकार करना, सिद्धचक्र विधान-पूजन की महिमा नष्ट करना है। जो रोग इस भवसंबंधी आयु नष्ट हो जाने पर, शरीर छूट जाने से अपने आप ही नष्ट हो जाता है; उसे नष्ट करने के लिए इतने विशाल विधान-पूजन की क्या आवश्यकता है ? क्या यह सर्वशक्ति-सम्पन्न, असीम वैभववान एक चक्रवर्ती सम्राट से पाँच पैसे माँगने जैसा अज्ञानतामय, अविवेकपूर्ण कार्य नहीं है ?

वीतरागी भगवान की आराधना तो अपने अंदर वीतरागी भावों की वृद्धि करने के लिए ही की जाती है। वास्तव में आत्मा का कुष्ट रोग तो आत्मा के अंदर उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभाव ही हैं; ये इस शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होते हैं। सिद्ध भगवान इस कुष्ट रोग से पूर्णतया मुक्त हो गए हैं; अत: जो जीव उन सिद्ध भगवान का वास्तविक स्वरूप समझकर, उनके समान ही अपने स्वरूप को समझकर, पहिचानकर, उसमें ही पूर्णतया लीन हो जाते हैं; उनका मोह, राग, द्वेषरूप वास्तविक कुष्ट रोग; जन्म, जरा, मरणरूप महारोग पूर्णतया नष्ट हो जाता है। वे अनंत काल के लिए स्वस्थ, सुन्दर, अव्याबाधमय अतीन्द्रिय आनन्द-सम्पन्न निरोगदशा प्राप्त कर लेते हैं।

जब यह जीव सिद्ध भगवान के समान अपने आत्मा में पूर्ण लीन नहीं रह पाता, तब अशुभभावमय तीव्र रागादि से बचने के लिए वह सिद्ध भगवान की आराधना आदिरूप शुभभाव में प्रवृत्ति करता है। जिससे उसे सातिशय

पुण्य का बंध होता है। जिसका उदय आने पर उसे लौकिक अनुकूलताएँ भी मिल जाती हैं। योग्यतानुसार शारीरिक रोग भी नष्ट हो सकते हैं; परन्तु ज्ञानी भक्त की दृष्टि में लौकिक अनुकूलताओं के संयोग का तथा शारीरिक रोगों के नष्ट हो जाने का कोई महत्त्व नहीं रहता है। वह तो वीतरागी भगवान की आराधना एकमात्र अपने विकारों को नष्ट कर, उन जैसा पूर्ण वीतरागी बनने के लिए ही किया करता है।

मैनासुन्दरी, श्रीपाल आदि ने श्री सिद्धचक्र विधान-पूजन अपने शारीरिक कुष्ट रोग को मिटाने के लिए नहीं की थी; वरन् उस कुष्ट रोग के लक्ष्य से होनेवाली आकुलता से बचने के लिए तथा सिद्ध भगवान जैसा पूर्ण वीतरागी बनने के लिए की थी। यही कारण है कि श्रीपाल तो उसी भव में जन्म, मरण का नाशकर, मोह, राग, द्वेषरूपी कुष्ट रोग को पूर्णतया मिटाकर इस संसार से मुक्त हो गए, सिद्ध बन गए। उनके कितने ही साथी मित्र भी सिद्ध बन गए; परन्तु मैनासुन्दरी अपनी कमजोरी के कारण उतना पुरुषार्थ नहीं कर सकीं; अत: स्त्रीपर्याय का छेदकर स्वर्ग में देव हुईं। बाद में वे भी वहाँ से आकर पुरुषपर्याय में स्वरूपस्थिरता का पुरुषार्थ पूर्ण करके, संसार से पार होकर सिद्ध हो जाएंगीं।

पुण्य का उदय आ जाने से श्रीपाल आदि का शारीरिक कुष्ट रोग भी नष्ट हो गया; तथापि उनकी दृष्टि में इसका कुछ भी महत्त्व नहीं था। इसीप्रकार से हमें भी भगवान की आराधना जैसे महान कार्य को ऐसे तुच्छ फल की कामना से कभी भी नहीं करना चाहिए। इस कामना से भगवान की आराधना करनेवाले जीव को तो मिथ्यात्वरूपी महा कुष्ट रोग सतत विद्यमान रहता है, जिसके समक्ष शारीरिक कुष्ट रोग का नष्ट हो जाना कोई मूल्य नहीं रखता है।

इसप्रकार एकमात्र वीतरागी भगवान जैसा बनने के लिए ही भगवान की आराधना आदि करना चाहिए। ○○○

सुद्ध स्वरूप कौं वंदना हमारी...

एक रूप वसुरूप विराजै, सुगुन अनन्त रूप अविकारी ॥शुद्ध. ॥१॥
अमल अचल अविकलप अजलपी, परमानंद चेतनाधारी ॥शुद्ध.॥२॥
'द्यानत' द्वैतभाव तज हूवै, भाव अद्वैत सदा सुखकारी ॥शुद्ध. ॥३॥

पाठ ९

भगवान पार्श्वनाथ

प्रश्न १ : कविवर पण्डित भूधरदासजी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।
उत्तर : कविवर पण्डित भूधरदासजी अठारहवीं शती के आध्यात्मिक रस में रँगे हुए रस-सिद्ध कविओं में से एक सुप्रसिद्ध कवि हैं। आप आगरा के निवासी थे। आपका जन्म खण्डेलवाल दिगम्बर जैन जाति में हुआ था। इस मनुष्य भव का आपका जीवनकाल विक्रम सम्वत् १७५० से १८०६ (सन् १६९४ से १७५०) पर्यन्त रहा है।

आप हिन्दी और संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ विद्वान हैं। आप अपनी गृह-स्थी चलाते हुए, आजीविका की साधनभूत दुकान चलाते हुए भी स्वाध्या-यादि में सतत निमग्न रहा करते थे। समय का मूल्य आपको विधिवत विदित था; अत: आप प्रत्येक क्षण जिनवाणी-आराधना और आत्म-साधना में व्यतीत किया करते थे।

आपकी मुख्यतया चार रचनाएं उपलब्ध हैं – जैनशतक, पार्श्वपुराण, चर्चासमाधान और पदसंग्रह।

१. **जैनशतक :** इस कृति में विविधप्रकार के लगभग सौ छंद संग्रहीत हैं। जिनके माध्यम से आपने अध्यात्म, वैराग्य और नीति परक ज्ञान की मानो गंगा ही प्रवाहित की है। कोमलकान्त पदावली सम्पन्न आपकी प्रस्तुत कृति सरलभाषा में संसार की विचित्रता और वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने में पूर्णतया सक्षम होने से अत्यधिक लोकप्रिय है।

२. **पार्श्वपुराण :** यह हिन्दी भाषा का एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र वर्णित है। उत्कृष्ट कोटि की काव्य प्रतिभा से परिपूर्ण यह महाकाव्य अनेक सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक विषयों से सम्पन्न, वैराग्यरस से ओतप्रोत है। इसमें कवि ने मानो अपनी सम्पूर्ण शक्ति संग्रहीत कर भगवान पार्श्वनाथ के जीवन-दर्शन के माध्यम से हमारे अंदर तीव्र वैराग्यरस उत्पन्न कर आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा दी है।

३. **चर्चा समाधान :** इसमें चारों अनुयोगों संबंधी १३९ चर्चाओं का

आगम प्रमाण पूर्वक मार्मिक समाधान किया गया है। जिन्हें पढ़ने से अनेक शंकाओं का निराकरण हो जाता है।

४. पद संग्रह : इसमें आध्यात्मिक, वैराग्योत्पादक, संसार की विचित्रता का स्पष्ट स्वरूप व्यक्त करनेवाले अनेक पदों का संग्रह है। ये पद अभी भी सम्पूर्ण धार्मिक समाज में अत्यंत आदरभाव से गाए जाते हैं।

आप गृहस्थ होने पर भी गृहस्थी के प्रति अत्यंत विरक्त थे। धन्धा-व्यापार करते हुए भी आपको धन के प्रति तीव्र तृष्णा नहीं थी। यही कारण है कि आप जिनवाणी की आराधना और आत्मसाधना में सफल हो सके।

प्रश्न २ : पार्श्वनाथ हिल के बारे में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर : बिहार प्रांत के हजारी बाग जिले में ईसरी के पास एक अति विशाल सम्मेदशिखर नामक पर्वत है। जैन भूगोल के अनुसार यह अनादि-अनंत शाश्वत सिद्धक्षेत्र है। भरतक्षेत्र के चौबीसों तीर्थंकर इस पर्वत से ही आत्मस्थ होकर, मोक्ष जाते हैं; इसकारण इस पर्वत को शाश्वत सिद्धसदन भी कहते हैं। इस युग में इस पर्वत से अनेकों मुनिओं सहित बीस तीर्थंकर मुक्त हुए हैं। पार्श्वनाथ भगवान का निर्वाण भी इसी पर्वत की सुवर्णभद्रकूट नामक एक चोटी पर से हुआ। इस पर्वत से मोक्ष जानेवाले इस युग के वे अंतिम तीर्थंकर हैं; अत: उनके ही नाम पर इस पर्वत का एक नाम पार्श्वनाथ हिल पड़ गया।

इस पर्वत के समीप ही पार्श्वनाथ स्टेशन नाम से एक रेलवे स्टेशन भी है। धार्मिक जैन बंधुओं का तो यह अतिप्रिय, परमपूज्य, आकर्षक सिद्धक्षेत्र है ही; इसके साथ ही प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से भी यह अपने आपमें एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। प्रतिवर्ष लाखों श्रद्धालु इसकी यात्रा के लिए जाते हैं।

प्रश्न ३ : भगवान पार्श्वनाथ का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए।

उत्तर : भगवान पार्श्वनाथ इस युग के तेईसवें तीर्थंकर हैं। वास्तव में कोई जन्म से ही भगवान नहीं होता है, बाद में आत्मपुरुषार्थ से ही सभी भगवान बनते हैं। बालक पार्श्वनाथ का जन्म वर्तमान में वाराणसी (बनारस) नाम से प्रसिद्ध काशी नगरी में आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व इक्ष्वाकुवंश के काश्यप-गोत्रीय राजा अश्वसेन के घर उनकी विदुषी रानी वामादेवी से पौष कृष्ण एकादशी के दिन हुआ था। अन्य तीर्थंकरों के समान इनका जन्मोत्सव भी माता-पिता और नगरवासी जनता के साथ इन्द्रों ने भी आकर जन्मकल्याणक

के रूप में बड़े उत्साह से मनाया था। पार्श्वकुमार जन्म से ही प्रतिभाशाली, सातिशय बुद्धि के धनी; मति, श्रुत, अवधि – तीन ज्ञानसम्पन्न, अनेक सुलक्षणों से और अतुल्यबल से सुशोभित, आकर्षक व्यक्तित्वयुक्त बालक थे।

यद्यपि राजकुमार होने के साथ ही आगे इसी भव में तीर्थंकर बनने के कारण अतिशय पुण्यशाली होने से, देवगण भी उनकी सेवा में सदा उपस्थित रहते थे, उन्हें किसी भी लौकिक बाह्य सामग्री की कुछ भी कमी नहीं थी; तथापि जन्म से ही अन्तरोन्मुखी वृत्तिवाले वैरागी पार्श्वकुमार के मन में राज्य-वैभव और पुण्यसामग्री को कुछ भी स्थान प्राप्त नहीं था। भोगों की इच्छा भी उन्हें रंचमात्र नहीं थी। वे वैभव के बीच रहते हुए भी, जल में रहनेवाले कमल के समान, उससे अत्यन्त निर्लिप्त थे। युवक होने पर माता-पिता ने उनके विवाह करने का अथक प्रयास किया, पर वे पार्श्वकुमार से विवाह की स्वीकृति नहीं ले सके; पार्श्वकुमार बालब्रम्हचारी ही रहे।

एक दिन सुबह अपने मित्रों के साथ घूमने जाते समय मार्ग में पार्श्वकुमार ने अपने नानाजी (माँ के पिताजी) को साधुवेश में पंचाग्नितप तपते हुए देखा। उन्होंने अपने दिव्यज्ञान से उस पंचाग्नि में एक ओर जलती हुई लकड़ी में नाग-नागिन का जोड़ा जलता हुआ देखकर नानाजी को ऐसा करने के लिए मना किया; परन्तु लकड़ी को चीरकर देखे बिना उन्होंने पार्श्वकुमार के कथन पर विश्वास नहीं किया। लकड़ी चीरते ही उसमें से अधजले तड़फते हुए नाग-नागिन बाहर निकल पड़े। पार्श्वकुमार ने उन्हें संबोधित करते हुए धर्मोपदेश दिया, जिससे वे मंदकषायपूर्वक मरणकर धरणेन्द्र-पद्मावती नामक व्यन्तर देव हुए। इस हृदय-विदारक घटना से पार्श्वकुमार का कोमल मन और भी अधिक वैराग्यमय हो गया और वे पौष कृष्ण एकादशी के दिन दिगम्बर मुनि हो गए।

इसके बाद अखण्ड मौनव्रत धारण कर वे आत्मसाधना करने लगे। एक बार आकाश मार्ग से जाते हुए संवर नामक व्यन्तर देव (दशभव पूर्व के सगे बड़े भाई कमठ के जीव) ने अहिक्षेत्र वन में ध्यानस्थ मुनि पार्श्वकुमार को देखकर, पूर्वभव के बैर का संस्कार जागृत कर, उन पर घोर उपसर्ग किया। भयंकर मूसलाधार वर्षा द्वारा, ओले बरसाकर, घनघोर बादलों की गड़गड़ाहट से उन्हें भयभीत करने का; पत्थरों आदि की वर्षा द्वारा ध्यान से विचलित करने का प्रयास किया; परन्तु मुनि पार्श्वनाथ उसी समय आत्मध्यान की

विशिष्ट एकाग्रता के बल पर चैत्र कृष्ण चतुर्थी के दिन समस्त मोह, राग, द्वेष का पूर्णतया अभावकर, केवलज्ञान प्रगट कर, वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान बन गए। यह सब देखकर अत्यधिक पश्चात्ताप करता हुआ वह संवर देव उनकी चरण-शरण में झुक गया।

इसके बाद करीब सत्तर वर्ष पर्यन्त सम्पूर्ण भारत में समवसरण सहित उनका विहार होता रहा, जिसमें उनकी दिव्य-ध्वनि के माध्यम से भव्य जीवों को वस्तु-तत्त्व का हितकारी उपदेश मिलता रहा। उनके उपदेश में सदैव आत्म-साधना की मुख्यता रहती थी। उनकी दिव्यध्वनि में आता था कि स्वयं अनन्त शक्ति-सम्पन्न, वैभववान, स्वभावों का सागर यह आत्मा ही अनंत ज्ञानानंद का भण्डार है। इसे अपनत्वरूप से जाने-पहिचाने बिना कोई भी वास्तविक सुख प्राप्त नहीं कर सकता है।

उनका उपदेश सुनकर कितने ही पुरुष सर्व आरंभ-परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर मुनि हो गए। कितनों ने ही श्रावकव्रत धारण किए। कितनी ही महिलाएँ भी आर्यिका के व्रत धारण कर, आत्मसाधना करने के लिए वन में चली गईं। अनेकानेक पशुओं ने भी अणुव्रत धारण किए। अनेकों मनुष्यों, पशुओं, पक्षिओं, देवी-देवताओं ने सम्यग्दर्शन प्रगट किया – इसप्रकार मनुष्य, तिर्यंच और देवगति के जीवों ने उनके उपदेश का भरपूर लाभ लिया।

इसप्रकार उपदेश देते हुए अन्त में सौ वर्ष की आयु पूर्णकर श्रावण शुक्ल सप्तमी के दिन योगनिरोधपूर्वक परिपूर्ण आत्मस्थिरता की अवस्था में सम्मेद शिखर पर्वत के सुवर्णभद्रकूट से आपका निर्वाण हो गया। सिद्ध होकर सम-श्रेणी से सिद्धालय में जाकर आप अनन्तकाल के लिए शाश्वत सुखमय अशरीरीदशा में विराजमान हो गए।

इस सम्पूर्ण जीवन-परिचय को अति संक्षेप में इसप्रकार याद रख सकते हैं–

नाम तीर्थंकर – पार्श्वनाथ	तीर्थंकर क्रम – तेईसवें
जन्मस्थल – काशी/वाराणसी	गर्भ तिथि – वैशाखकृष्ण द्वितीया
पिता नाम – अश्वसेन	जन्मतिथि – पौषकृष्ण एकादशी
माता नाम – वामा देवी	दीक्षातिथि – पौषकृष्ण एकादशी
वंक्ष – इक्ष्वाकु	केवलज्ञानतिथि – चैत्रकृष्ण चतुर्थी
गोत्र – काश्यप	मोक्षतिथि – श्रावण शुक्ल सप्तमी
आयु – सौ वर्ष	निर्वाण स्थल – सम्मेदशिखर सुवर्णभद्रकूट

प्रश्न ४ : धरणेन्द्र-पद्मावती ने पार्श्वनाथ की रक्षा की थी – इस संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर : तीर्थंकर का जीव जन्म से ही वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी होने से शारीरिक बल की अपेक्षा भी मुनि पार्श्वनाथ अतुल्यबल-सम्पन्न थे तथा मिथ्यात्व के अभावपूर्वक तीन चौकड़ी कषाय का अभाव हो जाने के कारण विशेष वीतरागतामय उत्कृष्ट आत्मिकबल से भी समृद्ध थे। उसी भव में आगे तीन लोक के नाथ, अनंत बल के धनी तीर्थंकर भी बननेवाले थे। वे अपनी आत्माराधना में पूर्ण सुरक्षित थे। धरणेन्द्र-पद्मावती जैसे साधारण देव-देवी तीन लोक के नाथ की क्या रक्षा करेंगे ? वास्तव में तो हुआ यह कि जिससमय संवर नामक देव मुनि पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग कर रहा था, उस समय पूर्व भव में किए गए उपकार का स्मरण कर धरणेन्द्र-पद्मावती को उनका उपसर्ग दूर करने का विकल्प आया था। उन्होंने अपने विकल्प को पूरा करने के लिए यथाशक्ति तत्संबंधी कार्य भी किया था; अत: लोक में यह प्रसिद्ध हो गया कि धरणेन्द्र-पद्मावती ने पार्श्वनाथ की रक्षा की।

यदि कदाचित् उन्हें यह विकल्प नहीं भी आता और वे रक्षासंबंधी यह कार्य नहीं भी करते तो भी मुनि पार्श्वकुमार पूर्णतया स्वयं-रक्षित थे ही। उसी दिन उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न अनन्त बल से समृद्ध हो गए; इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें उपसर्गसंबंधी कुछ भी विकल्प नहीं था; खेद-खिन्नता या आकुलता नहीं थी। वे तो अपने स्वरूप में पूर्ण लीन थे। वास्तव में तो यदि वे चाहते तो एक संवर तो क्या ? अनेकों देवों को भी क्षण भर में मसल सकते थे; परन्तु उन्हें किसी के प्रति किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं था। उन्हें कोई भी शत्रु या मित्र, बुरा या भला करनेवाला दिखाई ही नहीं देता था; वे सभी के प्रति समभावी थे। तत्काल वीतरागी, सर्वज्ञ हो जाने का भी यही कारण रहा है।

इसप्रकार धरणेन्द्र-पद्मावती को उनकी रक्षा करनेवाला कहना अतिस्थूल कथन है; अत: 'ये भगवान के रक्षक हैं' – इस भावना से उनकी भक्ति, पूजा, उपासना आदि करना तीव्र मिथ्यात्व का पोषक है। अपना संसार नष्ट करने के लिए, अतीन्द्रिय आनंदमय जीवन जीने के लिए, हमें इस पर गहराई से विचार करना चाहिए। ○○○

पाठ १०

देव-शास्त्र-गुरु स्तुति

प्रश्न : देव-शास्त्र-गुरु स्तुति का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : प्रस्तुत स्तुति अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि-प्राप्त आध्यात्मिक प्रवक्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित है। इसमें आपने सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु का स्वरूप स्पष्ट कर, उनके संबंध में चलनेवाली विपरीत मान्यताओं का निषेध करते हुए, उन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति भावना समर्पित की है।

सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित प्राभृतत्रय का देव-शास्त्र-गुरु के साथ संबंध स्थापित करते हुए वे लिखते हैं कि –

समयसार जिनदेव हैं, जिन प्रवचन जिनवाणि।
नियमसार निर्ग्रन्थ गुरु, करें कर्म की हानि॥

जिनेन्द्र भगवान साक्षात् समयसार अर्थात् समयसार नामक ग्रंथ में वर्णित शुद्धात्मा हैं। जिनवाणी जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन हैं तथा समस्त आरंभ-परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरु नियमसार ग्रंथ में वर्णित साक्षात् शुद्ध चारित्ररूप नियमसार हैं। ये तीनों ही मेरे कर्मों की हानि करें अर्थात् इन तीनों द्वारा बताए गए मार्ग को अपनाकर, उस पर चलकर, हम द्रव्य-कर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप सभी कर्मों से रहित हो जाएं।

इसके बाद इस स्तुति में क्रमशः देव-शास्त्र और गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पृथक्-पृथक् स्तवन किया गया है। वह इसप्रकार है –

हे वीतराग सर्वज्ञ प्रभो, तुमको न अब तक पहिचाना।
अतएव पड़ रहे हैं प्रभुवर, चौरासी के चक्कर खाना॥
करुणानिधि तुमको समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा॥
तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना।
तुम हो निरीह जग से कृतकृत, इतना ना मैंने पहिचाना॥
प्रभु वीतराग की वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है।
यह जगत स्वयं परिणमनशील, केवलज्ञानी ने गाया है॥

उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया।
बनकर पर का कर्ता अबतक, सत् का न प्रभो सम्मान किया।।

देवस्तवन : वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि हे प्रभो ! आज तक मैंने आपका स्वरूप नहीं पहिचाना, इसलिए मुझे चौरासी लाख योनिओं में भटकना पड़ा है। हे भगवान ! मैंने आपको करुणा-सागर माना था अर्थात् मेरे ऊपर दया करेंगे – ऐसे माना था; इसलिए मैं आपके ही भरोसे बैठा रहा; परन्तु आज तक मैं यह नहीं जान सका कि आप तो राग-द्वेष से रहित पूर्ण वीतरागी हैं, अपने में ही लीन हैं अर्थात् आप किसी भी रूप में दूसरों की ओर देखते ही नहीं हैं; आप सभीप्रकार की इच्छाओं से रहित निरीह हैं; जग से कृतकृत्य हैं अर्थात् अब आपका कोई भी कार्य शेष नहीं रह गया है, आपके सभी कार्य पूर्ण हो गए हैं। यह सब मैंने कभी भी पहि-चानने का प्रयास नहीं किया।

हे प्रभो ! वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही आप जैसे वीतरागी भगवान की वाणी में बताया गया है। यह विश्व स्वयं सतत परिणमनशील है – ऐसा आप केवलज्ञानी ने बताया है; परन्तु मैं इस कथन की श्रद्धा नहीं कर सका और स्व-परपदार्थों में परिवर्तन करने का अभिमान करता रहा। हे भगवन ! मैं आज तक स्वयं को दूसरों के कार्य का कर्ता मान-मानकर वस्तु के स्वभाव का भी सम्मान नहीं कर सका अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु के सत् स्वरूप को स्वीकार कर अपना जीवन निराकुल नहीं बना सका।

भगवान तुम्हारी वाणी में, जैसा जो तत्त्व दिखाया है।
स्याद्वाद नय अनेकान्त मय, समयसार समझाया है।।
उस पर तो ध्यान दिया न प्रभो, विकथा में समय गमाया है।
शुद्धात्म रुचि न हुई मन में, ना मन को उधर लगाया है।।
मैं समझ न पाया था अब तक, जिनवाणी किसको कहते हैं।
प्रभु वीतराग की वाणी में, कैसे क्या तत्त्व निकलते हैं।।
राग धर्ममय धर्म रागमय, अब तक ऐसा जाना था।
शुभ कर्म कमाते सुख होगा, बस अब तक ऐसा माना था।।
पर आज समझ में आया है कि वीतरागता धर्म अहा।
राग भाव में धर्म मानना, जिनमत में मिथ्यात्व कहा।।
वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरंतर, हमको जो दिखलाती है।।

शास्त्र स्तवन : हे भगवान ! आपकी वाणी में वस्तु का जैसा पूर्ण निरपेक्ष स्वरूप बताया गया है, स्याद्वादशैली द्वारा अनेकान्तात्मक समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को समझाया गया है, उस पर मैंने ध्यान नहीं दिया और विकथाओं में समय गवाँ दिया अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप की मात्र चर्चा-वार्ता में ही अपना जीवन व्यतीत कर दिया। मेरे मन में शुद्धात्मा के प्रति रुचि जागृत नहीं हुई। मैंने अपने मन को उस ओर लगाने का प्रयास भी नहीं किया। जिनेन्द्र प्रभु की वाणी किसे कहते हैं ? यह भी मैं आज तक नहीं समझ पाया। वीतराग की वाणी में वस्तु का स्वरूप कैसा कहा गया है ? मैं उसे भी नहीं समझ पाया।

मैंने राग को धर्ममय और धर्म को रागमय जानकर ऐसा मान लिया था कि यदि दया, दान आदि शुभकर्मरूप पुण्यकार्य करूँगा तो सुखी हो जाऊँगा; परन्तु मुझे आज यह समझ में आ गया है कि वीतरागता ही धर्म है। इस बात की मुझे अत्यधिक प्रसन्नता भी है। रागभाव में अर्थात् परलक्ष्यी शुभभावों में धर्म मानना तो जिनेन्द्र भगवान के मत में मिथ्यात्व बताया गया है। जिनवाणी तो एकमात्र वीतरागता की ही पोषक होती हैं। मोक्ष का मार्ग यह है अर्थात् अपने शुद्धात्मा को जानकर, पहिचानकर, उसमें स्थिर रहना ही मोक्ष का मार्ग है – ऐसा जिनवाणी माता हमें सतत बता रही हैं।

उस वाणी के अन्तर्तम को, जिन गुरुओं ने पहिचाना है।
उन गुरुवर्यों के चरणों में, मस्तक बस हमें झुकाना है॥
दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदु सम्भाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन॥
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वातम में सदा विचरते जो।
ज्ञानी ध्यानी समरससानी, द्वादश विधि तप नित करते जो॥
चलते फिरते सिद्धों से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं॥
हो नमस्कार शुद्धातम को, हो नमस्कार जिनवर वाणी।
हो नमस्कार उन गुरुओं को, जिनकी चर्या समरससानी॥
दर्शन दाता देव हैं, आगम सम्यग्ज्ञान।
गुरु चारित्र की खानि है, मैं वंदों धरि ध्यान॥

गुरुस्तवन : जिनेन्द्र भगवान की उस वीतरागमयी वाणी के अंतरंग रहस्य को जिन वीतरागी दिगम्बर गुरुओं ने पहिचान लिया है, उन गुरुवर्यों के चरणों

में हमें तो मात्र मस्तक झुकाना है अर्थात् हमारे लिए तो एकमात्र ऐसे ही गुरु शरणदायी हैं। वे गुरु सतत दिन-रात आत्मा का चिंतन-मनन करते रहते हैं। यदि कभी उन्हें बोलने का भाव आता है तो अत्यंत मृदु, मधुर शब्दों में उस शुद्धात्मा का ही सम्भाषण/कथन करते हैं। उनकी वस्त्र से रहित दिगम्बर काया से भी उनके मन की पवित्रता/वीतरागता प्रगट होती है। ये निर्ग्रंथ अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित मुनिराज दिगम्बर अर्थात् सभीप्रकार के वस्त्रादि से रहित हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं, अपने आत्मा में ही सदा लीन रहते हैं। ये ज्ञानी, ध्यानी, समतारस में निमग्न मुनिराज हमेशा बारह प्रकार के तप तपते रहते हैं। चलते-फिरते सिद्ध भगवान के समान परमपवित्र गुरुओं के चरणों में हम सतत शीश/शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं और आपके ही पदचिन्हों पर हम सतत चलते रहें अर्थात् आपके समान ही अपने शुद्धात्मा का स्वरूप जानकर, पहिचान-कर, उसमें ही लीन रहें – यही भावना निरंतर भाते हैं।

अंत में भक्त कवि शुद्धात्मा को, जिनेन्द्र भगवान की वाणी को और समतारस में निमग्न चर्या/परिणति/अवस्था सम्पन्न गुरुओं को नमस्कार करते हैं। हम भी उन्हीं की भक्ति में अपनी भक्ति समर्पित करते हुए इन तीनों को नमस्कार करते हैं।

जिनेन्द्र भगवान अथवा सच्चे देव, दर्शनदाता अर्थात् सम्यग्दर्शन के प्रमुख निमित्त हैं; आगम अर्थात् जिनवाणी, सम्यग्ज्ञान की प्रमुख निमित्त हैं; गुरु अर्थात् वीतरागी दिगम्बर सन्त, सम्यक्चारित्र की खान अर्थात् भण्डार हैं। इन तीनों को मैं ध्यान धरकर अर्थात् मन, वचन, काय की एकाग्रतापूर्वक नमस्कार करता हूँ।

○○○

प्रभो आपने एक ज्ञायक बताया...

प्रभो आपने एक ज्ञायक बताया। तिहुँ लोक में नाथ अनुपम जताया ॥टेक॥
यही रूप मेरा मुझे आज भाया। महानन्द मैंने स्वयं में ही पाया॥
भव-भव भटकते बहुत काल बीता। रहा आज तक मोहमदिरा ही पीता॥
फिरा ढूँढता सुक्ख विषयों के माहीं। मिली किन्तु उनमें असह्य वेदना ही॥
महाभाग्य से आपको देव पाया। तिहूँ लोक में नाथ अनुपम जताया ॥१॥
कहाँ तक कहूँ नाथ महिमा तुम्हारी। निधि आत्मा की सु दिखलाई भारी॥
निधि प्राप्ति की प्रभु सहज विधि बताई। अनादि की पामरता बुद्धि पलाई॥
परमभाव मुझको सहज ही दिखाया। तिहूँ लोक में नाथ अनुपम जताया ॥२॥

पाठ १ | सिद्धपूजन

प्रश्न : प्रस्तुत सिद्धपूजन का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तर : वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि-प्राप्त, आध्यात्मिक प्रवक्ता, जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार करने में संलग्न डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल जयपुर द्वारा प्रस्तुत पूजन लिखी गई है। इसमें उन्होंने सिद्ध भगवान का वास्तविक स्वरूप बताते हुए पूजन के लिए ग्रहण की गई अष्टद्रव्यमय सामग्री की आत्मिक सुख के लिए अनुपयोगिता सिद्ध कर भगवान की साक्षी में उसे समर्पित कर/छोड़कर, सम्पूर्ण जगत से पूर्णतया उदास होकर, सिद्ध भगवान की शरण में आनेरूप अपने भाव व्यक्त किए हैं।

जयमाला के प्रारंभिक छन्दों में सिद्ध भगवान का स्वरूप बताते हुए, मध्य में उनको नहीं पहिचानने के कारण, तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाने के कारण, उत्पन्न हुई तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताओं का निरूपण करते हुए, अन्त में पुन: सिद्ध भगवान के माध्यम से तत्त्व की सम्यग् जानकारी हो जाने तथा भेद ज्ञान प्रगट हो जाने का निरूपण करते हुए सिद्ध भगवान जैसा अपना पद प्राप्त करने की भावना भाई गई है। यह सभी क्रमश: इसप्रकार है –

चिदानन्द स्वातमरसी, सत् शिव सुन्दर जान।
ज्ञाता दृष्टा लोक के, परम सिद्ध भगवान॥

स्थापना : ज्ञानानन्द स्वभावी, अनादि-अनन्त सत्तास्वरूप, कल्याण-मय, आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न, त्रैकालिक शुद्ध स्वभावरूप, स्व-आत्मा के रस में लीन रहनेवाले, समस्त लोकालोक को जानने-देखनेवाले, परमात्म-दशा को प्राप्त जीव सिद्ध भगवान कहलाते हैं।

ज्यों ज्यों प्रभुवर जल पान किया, त्यों-त्यों तृष्णा की आग जली।
थी आश कि प्यास बुझेगी अब, पर यह सब मृगतृष्णा निकली॥
आशा-तृष्णा से जला हृदय, जल लेकर चरणों में आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

जल : हे सिद्ध भगवान ! जितना-जितना मैंने जल का पान किया है, पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का सेवन किया, उतनी-उतनी ही तृष्णा और अधिक/आकांक्षारूपी अग्नि विशेष-विशेष जलने लगी। मैं समझता था कि इन पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से मेरी तृष्णारूपी प्यास बुझ जाएगी/शान्त हो जाएगी; परन्तु यह सब मेरी समझ मृग-तृष्णा के समान निरर्थक सिद्ध हुई अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय-भोगों से उन्हें भोगने की इच्छा समाप्त तो नहीं हुई; अपितु और अधिक बढ़ती ही गई। इसप्रकार मेरा हृदय आशारूपी तृष्णा से जल रहा है। इस जलन को नष्ट करने के लिए मैं जल लेकर आपके चरणों में आया हूँ। जगत के किसी भी परपदार्थ से मेरे अन्दर जलनेवाली तृष्णारूपी आग शान्त नहीं हुई, मुझे सुख-शांति नहीं मिली; अत: सम्पूर्ण जगत से उदास होकर हे सिद्ध भगवान! अब मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : प्रस्तुत छन्द में पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में सुख-बुद्धिरूप अनादिकालीन विपरीत मान्यता का निरूपण करते हुए; यह मान्यता मृग-तृष्णा के समान मात्र दु:ख को ही बढ़ाती है; हमें सुख-शांति नहीं देती है, अपने ज्ञानानन्द स्वभावरूपी जल-पान से ही विषय-तृष्णा की आग बुझती है अर्थात् सुखी होने का एकमात्र उपाय सिद्ध भगवान जैसे अपने स्वरूप में लीनता है – इसका निरूपण होने से मुझे यह छन्द अच्छा लगा।

तन का उपचार किया अब तक, उस पर चन्दन का लेप किया।
मल-मल कर खूब नहा करके, तन के मल का विक्षेप किया॥
अब आतम के उपचार हेतु, तुमको चन्दन सम है पाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

चन्दन : हे सिद्ध भगवान ! मैंने आज तक शरीर संबंधी गर्मी को नष्ट करने के लिए, उस पर चंदन का लेप आदि करनेरूप उपचार किया। चंदनादि के उबटन आदि लगा-लगाकर, बाद में मल-मलकर, रगड़-रगड़ कर खूब स्नान करके शरीर की गन्दगी को दूर किया; परन्तु इससे न तो मेरे आत्मा की गर्मी शान्त हुई और न ही गंदगी दूर हुई। मेरे आत्मा की क्रोधादि संबंधी गर्मी और मोह, राग, द्वेष आदि गंदगी को नष्ट करने के लिए हे सिद्ध भगवान! आपको मैंने चंदन के समान माना है अर्थात् यदि मैं आपके द्वारा बताए गए, आपके समान स्वयं को जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर हो जाऊँ तो क्रोधादि

रूपी अग्नि तथा मोह, राग, द्वेष आदिरूपी गंदगी नष्ट हो जाएगी – ऐसा मैंने मान लिया है; अत: अब मैं सम्पूर्ण जगत से निराश होकर आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : आत्मा में उत्पन्न होनेवाली क्रोधादिरूप आग तथा मोहादिरूप मलिनता, तन को स्वच्छ-शीतल रखने से नष्ट नहीं होती है। वह तो सिद्ध भगवान जैसे अपने आत्मा में लीन होने से नष्ट होती है। आत्म-लीनता से ही शांति, शीतलता, निर्मलता प्रगट होती है अर्थात् शरीरादि से दृष्टि हटाकर आत्मोन्मुखी दृष्टि करने की भावना प्रस्तुत छन्द में व्यक्त की गई होने से मुझे यह छन्द अच्छा लगा।

सचमुच तुम अक्षत हो प्रभुवर, तुम ही अखण्ड अविनाशी हो।
तुम निराकार अविचल निर्मल, स्वाधीन सफल संन्यासी हो॥
ले शालिकणों का अवलम्बन, अक्षयपद! तुमको अपनाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

अक्षत : हे सिद्ध भगवान! कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले अक्षत तो वास्तव में आप ही हैं। आप ही अखण्ड हैं, अविनाशी हैं; शरीरादि परपदार्थों की सापेक्षता वाले आकार से रहित, निराकार हैं; संकल्प-विकल्पमय चंचलता से रहित, अविचल हैं; सभीप्रकार के कर्म मल से रहित, निर्मल हैं; पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन हैं; सफल, सार्थक हैं और सम्पूर्ण जगत से पूर्णतया विरक्त, सर्वथा निरपेक्ष, संन्यासी हैं। इन अक्षतों के माध्यम से मैं आपके समान अक्षयपद की प्राप्ति करने का संकल्प कर रहा हूँ। जगत का अन्य कोई भी पदार्थ मुझे अक्षयपद/सिद्धदशा प्रगट करने में कारणभूत नहीं है; अत: सम्पूर्ण जगत से उदास होकर हे सिद्ध भगवान! मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : लोक में चावल को अक्षत कहते हैं; परन्तु जो चूर्ण रूप में बदल जाए, अनेकानेक आकारों में परिवर्तित हो जाए, मलिन हो जाए; वह अक्षत कैसे हो सकता है? वास्तव में एकमात्र सिद्ध भगवान ही अक्षत हैं। उनके समान अक्षयपद की प्राप्ति का उपाय उनके समान अपने आत्मा की आराधनामात्र है – इस तथ्य का विश्लेषण प्रस्तुत पद्य में होने से यह मुझे अच्छा लगा।

जो शत्रु जगत का प्रबल काम, तुमने प्रभुवर उसको जीता।
हो हार जगत के बैरी की, क्यों नहिं आनन्द बढ़े सबका॥

प्रमुदित मन विकसित सुमन नाथ, मनसिज को ठुकराने आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

पुष्प : विषय-वासनारूपी सर्वोत्कृष्ट बलशाली महायोद्धा, समस्त जगत का शत्रु है अर्थात् इसने सम्पूर्ण जगत को हराकर, उस पर अपना अधिकार जमा लिया है, उसे अपने अधीन कर लिया है; परन्तु हे सिद्ध भगवान ! आप उससे भी अधिक सर्वोत्कृष्ट अनंत आत्मशक्ति-सम्पन्न होने से आपने उस पर भी विजय प्राप्त कर ली है, सम्पूर्ण जगत के शत्रु को हराकर आप विजयी हुए हैं। सम्पूर्ण जगत के शत्रु की हार देखकर किसका आनन्द नहीं बढ़ेगा ? सभी का आनन्द बढ़ेगा ही बढ़ेगा; सभी प्रसन्न होंगे ही होंगे; मेरा मन भी इसे देखकर प्रसन्न है – कामदेव के स्वामी हे सिद्धभगवान ! मैं भी इस कामदेव को/विषय-वासनारूप विकारी भावों को ठुकराने/नष्ट करने आया हूँ; अत: मैं समस्त जगत से उदास होकर, हे सिद्ध भगवान ! आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : यद्यपि जगत के समस्त प्राणी विषय-वासनाओं से पीड़ित हैं, उन्हें नष्ट करने के लिए स्वयं को कमजोर अनुभव करते हैं; परन्तु ज्ञानानन्द स्वभावमय सिद्धसमान शुद्धात्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाला आत्मबल उस विषय-वासना को नष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है। इस तथ्य का निरूपण प्रस्तुत पद्य में होने से यह पद्य मुझे अच्छा लगा।

मैं समझ रहा था अब तक प्रभु, भोजन से जीवन चलता है।
भोजन बिन नरकों में जीवन, भरपेट मनुज क्यों मरता है॥
तुम भोजन बिन अक्षय सुखमय, यह समझ त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

नैवेद्य : हे सिद्ध भगवान ! मैं आजतक यह समझ रहा था कि भोजन के कारण जीवन चल रहा है/टिक रहा है; परन्तु जब गंभीरता से विचार किया तो मन में प्रश्न खड़ा हुआ कि यदि भोजन से जीवन चलता है, तो दीर्घकाल-पर्यन्त रंचमात्र भोजन नहीं मिलने पर भी नरकों में नारकिओं का जीवन कैसे चल रहा है ? तथा यह मनुष्य भरपेट भोजन कर लेने पर भी क्यों मर रहा है ? इससे स्पष्ट है कि जीवन जीने के लिए भोजन अकिंचित्कर है। हे सिद्ध भगवन! जब मैंने आपको देखा, तो यह ज्ञात हुआ कि आप इस जड़ भोजन के बिना

ही कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले अक्षय सुखमय हैं; अत: भोजन से जीवन चलता है – इस विपरीत मान्यता का त्याग करने के लिए मैं आपके समक्ष आया हूँ। इसप्रकार हे सिद्ध भगवान ! अब मैं समस्त जगत से उदास होकर आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : जगत का प्रत्येक प्राणी गंभीरता से विचार किए बिना ही अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए भोजन के पीछे लग रहा है। वह भोजन को जीवन का और सुख का कारण मानता है; परन्तु यह प्रत्यक्ष प्रतीति में आता है कि भोजन इन दोनों का ही कारण नहीं है। प्रस्तुत पद्य में इसी तथ्य का विश्लेषण होने से मुझे यह पद्य अच्छा लगा।

आलोक ज्ञान का कारण है, इन्द्रिय से ज्ञान उपजता है।
यह मान रहा था, पर क्यों कर, जड़ चेतन सर्जन करता है।।
मेरा स्वभाव है ज्ञानमयी, यह भेदज्ञान पा हरषाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया।।

दीप : हे भगवान ! प्रकाश ज्ञान का कारण है, इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होता है; यदि प्रकाश नहीं हो तो हमें रंग-रूप आदि कुछ भी दिखाई नहीं देता है; कान, नेत्र आदि इन्द्रियाँ नहीं हों, तो सुनना, देखना सम्भव नहीं होता है; अत: प्रकाश और इन्द्रियाँ ज्ञान की कारण हैं – मैं ऐसा मान रहा था। इस संबंध में मैं कभी इतना भी विचार नहीं कर सका कि जड़पदार्थ चेतन की रचना कैसे कर सकेगा ? प्रकाश और इन्द्रियाँ जड़-पुद्गल हैं; ज्ञान चेतनतत्त्व है। पुद्गल से चेतनतत्त्व कैसे बनेगा ? आज आपको देखकर मुझे यह भेदज्ञान हुआ है कि वास्तव में मेरा स्वभाव स्वयं ज्ञानमयी है। ज्ञान को प्रकाश अथवा इन्द्रियों की आवश्यकता रंचमात्र नहीं है। इस भेदज्ञान को प्रगट कर मैं बहुत प्रसन्न हूँ तथा समस्त जगत से उदास हो आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : प्रकाश और इन्द्रियों को ज्ञान का कारण मानने से यह अज्ञानी प्राणी इन दोनों की गुलामी सदा से करता आ रहा है; परन्तु वास्तव में ये दोनों ही ज्ञान के कारण नहीं हैं; अत: इनकी गुलामी करना, इनके अधीन रहना व्यर्थ है। स्वयं ज्ञानमय होने से मुझे ज्ञानी होने के लिए अन्य की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार की स्वतंत्रता का भाव प्रस्तुत पद्य में व्यक्त किया गया होने से यह मुझे अच्छा लगा।

मेरा स्वभाव चेतनमय है, इसमें जड़ की कुछ गंध नहीं।
मैं हूँ अखण्ड चिद्पिण्ड चण्ड, पर से कुछ भी संबंध नहीं॥
यह धूप नहीं, जड़-कर्मों की रज, आज उड़ाने मैं आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

धूप : मैं स्वयं स्वभाव से चैतन्यमय तत्त्व हूँ। मेरे स्वभाव में जड़ परपदार्थ की गन्ध भी नहीं है, उसे प्रवेश का अवकाश भी नहीं है। मैं अखण्ड हूँ, चैतन्य-पिण्ड हूँ, तेजस्वी हूँ; पर के साथ मेरा कुछ भी संबंध नहीं है। इस स्थिति में मेरे साथ कर्मों का संबंध कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के बल पर हे सिद्ध भगवान ! वास्तव में मैं यह धूप नहीं चढ़ा रहा हूँ; अपितु धूप के बहाने जड़-कर्मों की धूल उड़ाने/उन्हें नष्ट करने के लिए आज यहाँ आया हूँ। हे सिद्ध भगवान ! समस्त जगत से उदास होकर मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : वास्तव में जड़-चेतन परस्पर विरुद्धस्वभावी होने से इनका पारस्परिक संबंध सम्भव ही नहीं है; परन्तु विपरीत मान्यता से यह जीव स्वयं को बन्धनवाला मान रहा है। 'मैं निर्बन्ध तत्त्व हूँ' – इस मान्यता के बल पर वह माना गया कल्पित बन्धन भी नष्ट हो जाता है। – इसप्रकार के भाव प्रस्तुत पद्य में व्यक्त होने से यह मुझे अच्छा लगा।

शुभ कर्मों का फल विषय-भोग, भोगों में मानस रमा रहा।
नित नई लालसायें जागीं, तन्मय हो उनमें समा रहा॥
रागादि विभाव किए जितने, आकुलता उनका फल पाया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

फल : शुभकर्मों का, पुण्यपरिणामों का फल विषय-भोग की सामग्री मिलना है। जिसे पाकर यह मानव-मन उसमें ही आसक्त रहा/लीन हुआ। उस लीनता से निरंतर नई-नई लालसाएं/इच्छाएं जागृत हुईं और यह भी तन्मय होकर उनमें ही समा गया, व्यस्त हो गया, उन्हें पूरा करने के प्रयास में ही लीन हो गया। मैंने जितने भी रागादि विकारीभाव किए, उन सभी का फल एकमात्र आकुलता ही प्राप्त किया; कोई भी शुभाशुभ रागादि विकारी-भाव मुझे निराकुल नहीं बना सके; अत: अब मैं समस्त जगत से उदास होकर निराकुल होने के लिए हे सिद्ध भगवान ! आपकी शरण में आया हूँ।

रुचिकरता का कारण : पुण्यकर्म के उदय में अनुकूल पंचेन्द्रिय विषय-

भोग की सामग्री मिलती है; परन्तु उन्हें भोगने के भाव में यह जीव निरन्तर आकुलता ही भोगता है। किसी भी कर्म का उदय तथा बन्ध का कारणभूत कोई भी विकारीभाव कभी भी जीव को निराकुल नहीं कर सकता। एकमात्र स्वाभाविकभाव ही निराकुलतामय है – इसप्रकार का भाव प्रस्तुत पद्य में होने से यह मुझे अच्छा लगा।

जल पिया और चंदन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की-
पहनी, तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की॥
सुरभी धूपायन की फैली, शुभकर्मों का सब फल पाया।
आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया॥
जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ।
सुख नहीं विषय-भोगों में है, तुमको लख यह सद्ज्ञान हुआ॥
जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

अर्घ्य : तीव्र पुण्य कर्म का उदय होने से उससे प्राप्त सामग्रिओं को मैंने भरपूर भोगा; खूब जल पिया, चंदन का सेवन किया/लेप किया, सुगंधित सुमनों की मालाएं पहनीं, चावल आदि के व्यंजन/पकवानों का भरपूर सेवन किया, रत्नों की दीपावलिआँ लगाईं, सुगंधित धूप सर्वत्र फैलाई इत्यादि रूप में सभीप्रकार से शुभकर्मों का/पुण्य कर्मों का फल मैंने प्राप्त किया अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय-भोग संबंधी भरपूर अनुकूल सामग्री मैंने प्राप्त की, उसे भोगा भी; परन्तु आकुलता पूर्ववत ही बनी रही। इसका कारण क्या रहा ? यह मैं नहीं जान सका।

हे भगवान ! जब आप पर मेरी दृष्टि पड़ी, मैंने आपका स्वरूप समझा; तब मुझे अपने स्वभाव का ज्ञान हो गया। आपको देखकर मुझे यह सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ कि विषय-भोगों में रंचमात्र भी सुख नहीं है; इसलिए मैं जल से लेकर फल पर्यंत की सम्पूर्ण वैभव-संपन्न सामग्री को आज छोड़ने के लिए आया हूँ; समस्त जगत से उदास होकर हे सिद्ध भगवान ! अब मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

रुचिकरता का कारण : तीव्रतम पुण्य के उदय में प्राप्त अनुकूल भोग-सामग्री भी हमें निराकुल नहीं बना सकती है। एक मात्र स्वयं निराकुल ज्ञानानन्द स्वभाव के आश्रय से ही पर्याय में निराकुलता प्रगट होती है। निरा-

कुल सुखी होने के लिए सम्पूर्ण बाह्य वैभव अकिंचित्कर है – इसप्रकार के भाव इस पद्य में व्यक्त होने के कारण यह पद्य मुझे अच्छा लगा।

आलोकित हो लोक में, प्रभु परमात्मप्रकाश।
आनन्दामृत पान कर, मिटे सभी की प्यास॥

जयमाला : हे सिद्ध भगवान ! आप परमात्मारूप से प्रकाशमान हैं, लोक में आलोकित हैं अर्थात् सभी को यह ज्ञात है कि आप परमात्मा हैं। आप सतत आनंदरूपी अमृत का पान करते हैं। इसी आनंदरूपी अमृत का पान करने से सभी की प्यास बुझती है/शांत होती है।

जय ज्ञानमात्र ज्ञायक-स्वरूप, तुम हो अनन्त चैतन्य-रूप।
तुम हो अखण्ड आनन्द-पिण्ड, मोहारि दलन को तुम प्रचण्ड॥
रागादि विकारीभाव जार, तुम हुए निरामय निर्विकार।
निर्द्वन्द निराकुल निराधार, निर्मम निर्मल हो निराकार॥

हे ज्ञानमात्र अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तानन्त गुणमय प्रभो ! सम्पूर्ण रागादि विकारीभावों से और सम्पूर्ण परपदार्थों से पूर्णतया रहित ज्ञायक स्वरूपी भगवान !! आपकी जय हो। आप अनन्त चैतन्यरूप अर्थात् अनन्त-ज्ञान/केवलज्ञान और अनन्तदर्शन/केवलदर्शनमय हैं। आप अखण्ड हैं; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि किसी भी रूप से खण्डित नहीं हैं। आप आनंद के पिण्ड हैं अर्थात् आप सर्वांग आनन्दमय हैं, दुःख का अंश भी आपमें नहीं है। मोहरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए आप प्रचण्ड हैं/अत्यधिक तेजस्वी, बलसम्पन्न हैं। आप रागादि विकारी भावों को जलाकर निरामय अर्थात् क्षुधा आदि सम्पूर्ण रोगों से रहित हो गए हैं; सभी प्रकार के मोहादि विकारों से रहित निर्विकारी हैं। द्वन्द/दुविधा से रहित निर्द्वन्द हैं, आकुलता से रहित निराकुल हैं, आप अन्य के आधार/शरण/आश्रय की अपेक्षा से रहित निराधार हैं। आप ममता रहित हैं, समस्त ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित, निर्मल हैं तथा इन्द्रियगोचर आकार से रहित, निराकार हैं।

नित करत रहत आनन्दरास, स्वाभाविक परिणति में विलास।
प्रभु शिवरमणी के हृदयहार, नित करत रहत निज में विहार॥

आप सदा अपने आनंद में ही क्रीड़ा करते रहते हैं; स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई सम्पूर्ण स्वाभाविक पर्यायों में विलास करते हैं, लीन रहते हैं, मस्त

रहते हैं। आप शिवरूपी रमणी के हृदयहार/पति हैं। हे भगवान ! आप अपने में ही निरन्तर विहार करते रहते हैं।

प्रभु भवदधि यह गहरो अपार, बहते जाते सब निराधार।
निज परिणति का सत्यार्थभान, शिव-पद दाता जो तत्त्वज्ञान॥
पाया नहिं मैं उसको पिछान, उल्टा ही मैंने लिया मान।

हे भगवान ! परभावों में प्रीतिमय संसाररूपी अपार गहरे समुद्र में सभी संसारी प्राणी बिना किसी आधार के बहते जा रहे हैं अर्थात् उन्हें स्वयं ही यह ज्ञात नहीं है कि हमारे अंदर चलनेवाले इन विभावभावों का क्या फल होगा? मोक्षपद के दाता तत्त्वज्ञान/अपनी परिणति के वास्तविक ज्ञान को अर्थात् अपने मूलस्वभाव को तथा पर्यायस्वभाव को मैं नहीं पहिचान सका; अतः इस संबंध में उल्टा ही मान लिया अर्थात् मैंने सात तत्त्वों का सही स्वरूप तो समझा ही नहीं, इसके अतिरिक्त उनके संबंध में नई-नई विपरीत मान्यताएं और बना लीं। वे इसप्रकार हैं –

चेतन को जड़मय लिया जान, तन में अपनापा लिया मान॥

जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : मैंने जीव-अजीव के पृथक्-पृथक् स्वभाव को नहीं जानने के कारण उन दोनों को एक-दूसरे रूप मान लिया। शरीर में अपनापन कर लिया, स्वयं को शरीररूप ही मान लिया; शरीर के काले-गोरे आदि रंग-रूप को, मोटी-पतली आदि अवस्थाओं को मैं काला, मैं गोरा, मैं मोटा, मैं पतला इत्यादि रूप में जीवमय मान लिया। शरीर को अनुकूलता प्रदान करनेवाली सामग्री से मैं सुखी हूँ, प्रतिकूलता प्रदान करनेवाली सामग्री से मैं दुखी हूँ इत्यादि विपरीत मान्यताएं बना लीं।

शुभ-अशुभ राग जो दुःखखान, उसमें माना आनन्द महान।

आस्रवतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : शुभाशुभ रागादि विकारी भाव दुःख की खान हैं, वे स्वयं दुःखमय और दुःख के कारण हैं; परन्तु मैंने उन्हें महा आनंदमय माना अर्थात् परलक्ष्यी भावों में सुख माना; हिंसादि अशुभ भावों से और पूजा-पाठ आदि शुभभावों से स्वयं को सुखी माना – इसप्रकार मैं दुःख के कारणों को सुख के कारण मानता रहा।

प्रभु अशुभकर्म को मान हेय, माना पर शुभ को उपादेय॥

बंधतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : हे भगवन ! तीव्रतम आकुलता तथा

तीव्रतम दुःखरूप में फलित होने के कारण मैंने यद्यपि अशुभकर्मों को तो हेय मान लिया; परन्तु अल्प आकुलता होने से तथा भौतिक अनुकूल सामग्री की प्राप्ति में कारण होने से मैं शुभकर्म को हेयरूप नहीं मान सका। वे मुझे सुख-मय प्रतीत होने से मैं उन्हें उपादेय ही मानता रहा।

जो धर्म-ध्यान आनन्दरूप, उसको माना मैं दुःख-स्वरूप।

संवरतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : वस्तु के स्वभाव के अनुरूप परिण-मनमय धर्मध्यान वास्तव में आनन्दमय है, सुखमय तथा सुख का कारण है; परन्तु मैं उसे दुःखस्वरूप मानता रहा अर्थात् मुझे मात्र जानने-देखनेरूप प्रवृत्ति कष्टदायक लगती है और संकल्प-विकल्पों में, व्यर्थ की चिंताओं में उलझे रहना सुखकर लगता है।

मनवांछित चाहे नित्य भोग, उनको ही माना है मनोग॥
इच्छा-निरोध की नहीं चाह, कैसे मिटता भव विषय-दाह।

निर्जरातत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : मैंने निरंतर अपने मन के अनुसार विषय-भोगों की चाह की, उन्हें सतत भोगा तथा उन्हें ही सुन्दर-सुखमय माना। मेरे मन में इच्छाएं उत्पन्न ही नहीं हों अर्थात् इच्छाओं का निरोध हो जाए – ऐसा मैंने कभी सोचा ही नहीं है; तब फिर यह संसार संबंधी विषयों की दाह/जलन कैसे मिट सकती है ? यही कारण है कि मैं सतत इच्छाओं की पूर्ति में ही मस्त रहकर अनन्त दुःख भोग रहा हूँ।

आकुलतामय संसार-सुक्ख, जो निश्चय से है महादुःख॥
उसकी ही निशदिन करी आस, कैसे कटता संसारपास।
भवदुख का पर को हेतु जान, पर से ही सुख को लिया मान॥

मोक्षतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता : वास्तव में संसार संबंधी सुख आकु-लतामय है, महा दुःखरूप है; परन्तु मैंने सतत उसकी ही चाह की; अतः संसार रूप बंधन कैसे कट सकता था ? मैंने इस संसार-दुःख का कारण सदा अन्य को ही माना तथा सुख का कारण भी अन्य को मानता रहा; इसीलिए मैं दूसरों को मिलाने या हटाने के चक्कर में उलझकर दुःख ही भोगता रहा।

मैं दान दिया अभिमान ठान, उसके फल पर नहिं दिया ध्यान।
पूजा कीनी वरदान माँग, कैसे मिटता संसार-स्वाँग॥

मैंने यदि कभी दान भी दिया तो मात्र अभिमान रखकर ही अर्थात् अपनी

मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दान दिया; परन्तु इसका फल क्या होगा ? इस पर कभी विचार ही नहीं किया। हे भगवन ! यदि मैंने कभी आपकी पूजन भी की तो वरदान माँगकर अर्थात् मन में किसी न किसी पंचेन्द्रिय विषय-भोग की इच्छा रखकर ही आपकी पूजन की। मेरी ऐसी प्रवृत्तिओं से यह संसाररूपी स्वाँग कैसे मिट सकता था ? यही कारण है कि इतना सब करके भी मैं आज तक संसार में ही भटक रहा हूँ।

तेरा स्वरूप लख प्रभु आज, हो गये सफल संपूर्ण काज।
मो उर प्रगट्यो प्रभु भेदज्ञान, मैंने तुम को लीना पिछान।।

हे सिद्ध भगवान ! आज मैंने आपके स्वरूप को देखा, जाना तो उससे मेरे समस्त कार्य सफल हो गए। मेरे अन्दर भेदज्ञान प्रगट हो गया, मैंने अब आपको भी पहिचान लिया है अर्थात् मुझे भलीभाँति आपके स्वरूप की तथा आपके जैसे अपने आत्मस्वरूप की जानकारी, पहिचान हो गई है।

तुम पर के कर्ता नहीं नाथ, ज्ञाता हो सब के एक साथ।
तुम भक्तों को कुछ नहीं देत, अपने समान बस बना लेत।।

हे सिद्ध भगवान ! आप अन्य के कर्ता नहीं हैं अर्थात् अन्य का भला-बुरा रंचमात्र भी नहीं करते हैं। आप सभी को एक साथ मात्र जानते-देखते हैं। वास्तव में आप अपने भक्तों को कुछ देते नहीं हैं; मात्र उन्हें अपने समान बना लेते हैं अर्थात् आपके माध्यम से आपके भक्त अपने स्वरूप को जानकर, पहिचानकर, आपके समान ही अपने में लीन हो जाते हैं; जिससे वे आपके समान ही परमसुखी सिद्ध भगवान बन जाते हैं।

यह मैंने तेरी सुनी आन, जो लेवे तुमको बस पिछान।
वह पाता है कैवल्यज्ञान, होता परिपूर्ण कला-निधान।।

हे सिद्ध भगवान ! आपके संबंध में यह प्रसिद्धि है कि जो आपको पहिचान लेता है, वह केवलज्ञान प्रगट कर लेता है तथा सम्पूर्ण कलाओं का निधान/भण्डार हो जाता है – यह तथ्य मैंने भी सुना, समझा; अत: मैं भी आपकी शरण में आ गया हूँ। तात्पर्य यह है कि जो सिद्ध भगवान के परिपूर्ण शुद्धस्वरूप को पहिचानता है; उसे उन जैसे अपने शुद्ध स्वरूप की भी जानकारी, पहिचान हो जाती है। अपने शुद्धस्वरूप को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, जब उसमें ही परिपूर्ण लीनता होती है तो सिद्ध भगवान के समान

अपने भी सम्पूर्ण गुणों का परिपूर्ण शुद्ध परिणमन हो जाता है। अपना सम्पूर्ण वैभव पर्याय में व्यक्त हो जाता है; हम उसके भोक्ता हो जाते हैं।

विपदामय पर-पद है निकाम, निजपद ही है आनन्दधाम।
मेरे मन में बस यही चाह, निजपद को पाऊँ हे जिनाह॥

वास्तव में परपदार्थों के निमित्त से मिलनेवाले सभी पद, उपाधिआँ विपत्ति मय हैं, दु:खमय और दु:ख की कारण हैं। सभी परलक्ष्यीभाव आकुलतामय तथा आकुलता के कारण होने से निकाम/व्यर्थ हैं। वे हमें सुखी नहीं कर सकते। अपना पद अर्थात् अपने शुद्धस्वरूप में परिपूर्ण लीनता से प्रगट हुई पर्यायें अपने शुद्ध स्वरूप के समान ही आनन्दधाम/आनंद की घर हैं। समस्त स्व-लक्ष्यी स्वाधीन परिणाम सुखमय, निराकुलतामय हैं। हे सिद्ध भगवान ! इसीकारण अब मेरे मन में भी एक मात्र यह इच्छा उत्पन्न हुई है कि 'मैं भी अपने इस परमपद को, परिपूर्ण सुखमय सिद्ध दशा को प्राप्त कर लूँ।'

पर का कुछ नहिं चाहता, चाहूँ अपना भाव।
निज स्वभाव में थिर रहूँ, मेटो सकल विभाव॥

मुझे परपदार्थों का कुछ भी नहीं चाहिए। मैं स्वयं ही अनंत वैभवसम्पन्न, अखण्ड, अविनाशी तत्त्व होने से मुझे पर की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। मैं तो मात्र अपने स्वभाव को ही पर्याय में प्रगट करना चाहता हूँ। मैं मेरे स्वभाव में ही स्थिर रहूँ, जिससे मेरे सम्पूर्ण विभाव, विकारीभाव, दु:ख-मय भाव नष्ट हो जाएं; बस एक मात्र यही मेरी चाह है, भावना है।

जयमाला-छन्द : रुचिकर लगने का कारण –

जय ज्ञानमात्र.....निज में विहार॥

इन पंक्तिओं में सिद्ध भगवान के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया गया होने से, इन्हें पढ़कर हमें अपने शुद्धस्वरूप का ज्ञान होता है तथा उसे पर्याय में प्रगट करने के लिए अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने की प्रेरणा मिलती है, तदनुरूप परिणमन की भावना तीव्र होती है, अत: ये पंक्तिआँ मुझे रुचिकर हैं।

प्रभु भवदधि.....संसार स्वाँग॥

इन पंक्तिओं में सिद्धपददायी वस्तु के वास्तविक स्वरूप की जानकारी/तत्त्वज्ञान नहीं होने से हम सभी बिना किसी आधार के यहाँ-वहाँ भटक रहे

हैं – इसका वर्णन करते हुए अनादिकाल से चली आई सात तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताओं का प्रयोगात्मक पद्धति से विश्लेषण किया गया है, जिससे हमें अपनी मान्यताओं का निरीक्षण करने का एक अवसर प्राप्त होता है। यदि वास्तव में अपने अन्दर ऐसी मान्यताएं चल रही हैं, तो उन्हें नष्टकर सम्यग्दृष्टि बनने की दिशा में सही पुरुषार्थ करने की प्रेरणा मिलती है, जो कि हमारे उज्ज्वल भविष्य की निशानी है – इन तथ्यों की प्रस्तुत पंक्तिओं में प्ररूपणा होने से मुझे ये पंक्तिआँ रुचिकर हैं।

तेरा स्वरूप.....कला निधान ।।

सिद्ध भगवान को जानने का फल क्या है ? अथवा हमने सिद्ध भगवान को जाना है या नहीं, पहिचाना है या नहीं – इसकी परीक्षा करने का उपाय इन पंक्तिओं में बताया गया है। सिद्ध भगवान को जानने का फल तो नियम से उनके समान ही परिपूर्ण आनन्दमय सिद्धदशा प्राप्त कर लेना है। इसप्रकार इन पंक्तिओं में आत्मनिरीक्षण का एक अवसर प्रदान किया गया होने से ये हमें अच्छी लगीं।

विपदामय पर पद.....सकल विभाव ।।

वास्तव में हम जिन परपदों में, संयोगों अथवा परलक्ष्यी भावों में लीन हैं; गंभीरता से विचार करने पर उस लीनता का फल एकमात्र दु:ख या आकुलता ही मिला है; अत: इन पंक्तिओं द्वारा परपद से हटकर अपने पद में, ज्ञानानन्द स्वभाव में लीन रहने की भावना व्यक्त की गई है। मेरी भी यही भावना है, यही प्रयास है – इसप्रकार मेरी भावना को व्यक्त करनेवाली होने से ये पंक्तिआँ मुझे अच्छी लगीं। ○○○

तिहूँ लोक में नाथ अनुपम जताया

दृष्टि हुई आप सम ही प्रभो जब। परिणति भी होगी तुम्हारे ही सम तब ।।
नहीं मुझको चिंता मैं निर्दोष ज्ञायक। नहीं पर से संबंध मैं ही ज्ञेय ज्ञायक ।।
हुआ दुर्विकल्पों का जिनवर सफाया। तिहूँ लोक में नाथ अनुपम जताया ।।
सर्वांग सुखमय स्वयं सिद्ध निर्मल। शक्ति अनन्तोंमयी एक अविचल ।।
चिन्मूर्ति चिन्मूर्ति भगवान आत्मा। तिहूँ जग में नमनीय शाश्वत चिदात्मा ।।
हो अद्वैत वन्दन प्रभो हर्ष छाया। तिहूँ लोक में नाथ अनुपम जताया ।।

पाठ २

पूजा-विधि और फल

प्रश्न १ : पूजा किसे कहते हैं और उसके मुख्यतया कितने भेद हैं ?

उत्तर : अपने इष्ट के गुणों में अनुराग, गुणों का स्तवन, उनका सच्चा ज्ञान, उनके प्रति सच्ची श्रद्धा आदि पूजा कहलाती है। मुख्यतया जब बाह्य में दिखाई देने वाली पूजन की चर्चा या व्यवहार पूजन की चर्चा इष्ट होती है; तब उसमें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति उत्पन्न होनेवाले हमारे भक्तिभाव को, गुणानुराग को अर्थात् गुणों के प्रति प्रीति भाव को, रुचिभाव को पूजा कहते हैं।

इस पूजन के सामग्री की मुख्यता से दो भेद हैं – द्रव्यपूजा और भावपूजा।

द्रव्यपूजा : इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमितगति अपने अमितगति श्रावकाचार ग्रंथ में लिखते हैं – "**वचो विग्रहसंकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते।**

वचन और शरीर को अन्य क्रियाओं से हटाकर अपने उपास्य/पूज्य के प्रति एकाग्र करने को द्रव्यपूजा कहते हैं।"

आचार्य अपराजित इसे ही इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं–

"**गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्यद्रव्यपूजा अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च वाचागुणसंस्तवनं च।** अरहंतादि के प्रति गंध, पुष्प, धूप, अक्षत आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है तथा उनके प्रति आदर व्यक्त करने के लिए खड़े होना, प्रदक्षिणा देना, प्रणाम करना आदि शारीरिक क्रियाएं और वचनों से गुणों का स्तवन करना भी द्रव्यपूजा है।"

भावपूजा : इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमितगति अपने ग्रंथ में इसप्रकार लिखते हैं – "**तत्र मानससंकोचो, भावपूजा पुरातनैः।**

मनसम्बन्धी विविध विकल्पजनित व्यग्रता को दूरकर, उसे ध्यान तथा गुण-चिंतवन आदि द्वारा अपने इष्ट में लीन करना भावपूजा है।"

इसे ही आचार्य अपराजित इसप्रकार व्यक्त करते हैं– "**भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणम्।** मन से अपने पूज्य के गुणों का स्मरण भावपूजा है।"

पूज्य की अपेक्षा पूजा के तीन भेद हैं – सचित्त, अचित्त और मिश्र। सिद्ध भगवान, जिनेन्द्र भगवान, निर्ग्रंथ गुरुओं की यथायोग्य पूजन करना, सचित्त

पूजा है। तीर्थंकर प्रतिमा की या द्रव्यश्रुतरूप लिपिबद्ध शास्त्रों की पूजन करना, अचित्त पूजा है; तथा समवसरण सहित तीर्थंकर की या उपकरण सहित गुरुओं की पूजन करना, मिश्र पूजा है।

प्रतिपादन की अपेक्षा पूजन के दो भेद हैं–निश्चयपूजा, व्यवहारपूजा। आराध्य-आराधक या पूज्य-पूजक भावरूप भेदभाव भी नष्ट होकर स्व-रूपलीनतामय दशा वास्तविक पूजन होने से, निश्चयपूजा है तथा इस आत्म-स्वरूप को बताने में निमित्तभूत सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पूजन उपचार से पूजन कहलाने के कारण, व्यवहारपूजा है।

काल तथा पूजक की मुख्यता से सदार्चन आदि पाँच भेद भी पूजा के उप-लब्ध हैं; इसीप्रकार जिनागम में नाम, स्थापना आदि छह भेद भी प्रसिद्ध हैं।

निष्कर्ष यह है कि विविध दृष्टिकोणों से पूजन के अनेक भेद हो जाते हैं।

प्रश्न २ : पूजन किनकी? और क्यों की जाती है?

उत्तर : वास्तव में पूजन अपने इष्ट की, की जाती है। अनादि-अनंत, वीतरागी और सर्वज्ञ स्वभावी अपना ज्ञानानन्दमय भगवान आत्मा समस्त वीतरागी, आनन्द सम्पन्न दशाओं का वास्तविक आधार होने से परम इष्ट है। इसके आधार से मिथ्यात्व, राग, द्वेष इत्यादि समस्त विकारीभावों का अभावकर पूर्ण ज्ञानी और सुखी होना ही हमारा इष्ट है। इसरूप परिणमित अनन्तचतुष्टय-सम्पन्न अरहंत-सिद्ध भगवान इस कार्य में आदर्शरूप होने से, हमारे इष्ट देव हैं। इन्हीं इष्ट देव की वाणी मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि नष्ट करने का और सच्चा सुख प्रगट करने का उपाय बतानेवाली होने से, इष्ट शास्त्र हैं। इसी मार्ग के प्रतीकस्वरूप नग्न दिगम्बर भावलिंगी वीतरागी संत हमें इस मार्ग पर चलने का प्रत्यक्ष उपाय बतानेवाले होने से, हमारे इष्ट गुरु हैं। हमारे इष्टकार्य में निमित्त होने से इन सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की ही जैनधर्म में पूजा की जाती है।

इनकी पूजा का उद्देश्य एकमात्र विषय-विकारों से हटना और इनके समान बनने के प्रयास में सतत लगे रहना है। अन्य किसी भी सांसारिक लौकिक लाभ की आशा से इनकी पूजा नहीं की जाती है; एकमात्र स्वयं इनके समान बनने के लिए ही पूजा की जाती है।

कमजोर भूमिका में रहनेवाला गृहस्थ यदि इन कार्यों में नहीं लगे तो सांसा-रिक आकुलताएं और अशुभभाव अधिक होते रहते हैं। उनसे बचने के लिए गृहस्थ अपने इष्ट देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है।

प्रश्न ३ : पूजा का फल क्या है? ज्ञानी श्रावक देव, शास्त्र, गुरु की पूजा क्यों करता है?

उत्तर : वास्तव में **किसी लौकिक लाभादि के लिए सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा/उपासना नहीं की जाती है;** अत: उनकी प्राप्ति करना पूजा का फल नहीं है। **सांसारिक विषय-कषायों से बचकर परिणामों में निर्मलता प्रगट करना,** मन प्रसन्न होना; तीव्र विकारीभाव, कषायें नष्ट होना, पूजा का तात्कालिक फल है **तथा उनके जैसा वीतरागी, सर्वज्ञ हो जाना, पूजा का परम्परा फल है।**

ज्ञानी श्रावक भी निम्नभूमिका में अपनी कमजोरी वश अपने स्वरूप में पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर, **अपने मन को विषय-कषाय से बचाने के लिए तथा सांसारिक तीव्र आकुलता से बचने के लिए, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करता है। वह विषय-भोग की सामग्री प्राप्त करने के लिए कभी भी अपने इष्ट की उपासना नहीं करता है;** क्योंकि यद्यपि वह अभी सम्पूर्ण विषय-भोगों को पूर्णतया छोड़ नहीं पा रहा है; तथापि उसकी मान्यता में सभी-प्रकार के पंचेन्द्रिय विषय-भोग सर्वथा हेय ही हैं। उनकी महिमा कभी उसे आती ही नहीं है; तब फिर वह उनकी भावना लेकर देव, शास्त्र, गुरु के चरणों में कैसे जा सकता है? वह तो एकमात्र अपने उपयोग को पवित्र रखने के लिए तथा उनके समान बनने के लिए ही अपने इष्ट के चरणों में जाकर उनकी पूजा/उपासना करता है।

प्रश्न ४ : ज्ञानी और अज्ञानी के पूजन करने सम्बन्धी भाव में क्या अन्तर है?

उत्तर : वास्तव में सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी अपने से भिन्न, पर होने के कारण, उनमें लगा हुआ सभी जीवों का उपयोग बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है; आस्रवरूप ही है, संवररूप नहीं है। – इस अपेक्षा तो ज्ञानी और अज्ञानी के पूजन सम्बन्धी भाव में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु इन दोनों की मान्यता/श्रद्धा/अभिप्राय की अपेक्षा इसमें अन्तर है। वह इसप्रकार है –

ज्ञानी के पूजन संबंधी भाव	अज्ञानी के पूजन संबंधी भाव
१. ज्ञानी विषय-कषाय से बचने के लिए पूजन करता है।	अज्ञानी विषय-कषाय की इच्छा से पूजन करता है।
२. इसे विकल्पावस्था में पूजा-भक्ति	इसे विषय-कषाय की सामग्री को प्राप्त

का भाव सहज आता है।	करने की भावना से पूजा-भक्ति का भाव आता है।
३. इसका यह भाव पुण्यानुबंधी-पुण्यमय है।	इसका यह भाव पापानुबंधी-पुण्य है।
४. यह पूजा का वास्तविक फल अपने स्वरूप में पूर्ण लीनता चाहता है।	यह पूजा का फल लौकिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति चाहता है।
५. इस भाव के बाद ज्ञानी को कदाचित शुद्धोपयोग भी हो सकता है।	इस भाव के बाद अज्ञानी अशुभ भाव में ही जाता है।
६. इसकी पूजन में अंतरंगभावों की निर्मलता मुख्य होती है।	यह बाह्य सामग्री में भी अधिकाधिक उलझ सकता है।
७. सामग्री आदि से पूजन करते समय ज्ञानी का विवेक सदा जागृत रहता है। वह कभी भी हिंसक सामग्री का उपयोग अहिंसक वीतरागी की पूजन करने के लिए नहीं करता है।	सामान्यतया अज्ञानी के यह विवेक जागृत नहीं होने से वह भावुकतावश इस कार्य के लिए भी हिंसक सामग्री का उपयोग कर लेता है।

इसप्रकार गहराई से विचार करने पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का ही पूजन सम्बन्धी भाव शुभ होने पर भी अभिप्राय की अपेक्षा इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर है।

प्रश्न ५ : प्रासुक द्रव्य किसे कहते हैं? अष्ट द्रव्य के नाम लिखते हुए; क्या बिना द्रव्य के पूजन हो सकती है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : प्रासुक शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक आसु शब्द में 'क' प्रत्यय लगकर बना है। प्र=प्रकृष्ट रूप से, विशेषरूप से निकल गए हैं; आसु=प्राण; क=उस सम्बन्धी; अर्थात् जिन पदार्थों में से विशेषरूप से प्राण निकल गए हैं; जो जीव-जन्तुओं से रहित, शुद्ध, अचित्त हैं, वे पदार्थ प्रासुक कहलाते हैं। जैसे उगने की क्षमता से रहित चावल, बादाम आदि सूखे फल, शुद्ध छना हुआ प्रासुक जल आदि।

पूजन सदा अचित्त द्रव्यों से ही करना चाहिए। सचित्त या अप्रासुक द्रव्य जीवसहित होने से हिंसा के आयतन हैं। पूर्ण वीतरागी, अहिंसक, देव-शास्त्र-गुरु की हिंसक सामग्री से पूजा, उपासना किसी भी रूप में उचित या तर्कसंगत

नहीं है। यदि हमें सामग्री चढ़ाने का भाव आता है, तो उसे चढ़ाने के पूर्व अचित्त कर लेना चाहिए अथवा पहले से ही वह अचित्त होना चाहिए।

अपने जीवन के लिए बहुमूल्य सामग्री के प्रतीकरूप में जल (स्वच्छ जल), चंदन (चन्दन मिश्रित जल), अक्षत (स्वच्छ चावल), पुष्प (चंदनादि से रँगे हुए चावल), नैवेद्य (स्वच्छ खोपड़े के टुकड़े), दीप (चंदनादि से रँगे हुए खोपड़े के टुकड़े), धूप (चंदन की छीलन या लवंगादि सुगंधित पदार्थ), फल (बादामादि सूखे फल) तथा अन्त में इन सबके समूहरूप अर्घ्य– इन अष्ट द्रव्यों से अपने इष्ट की पूजन की जाती है।

वास्तव में तो पूजा-उपासना के अंतर्गत परिणामों की ही मुख्यता होती है। यही कारण है कि जिनके परिणाम अति चंचल नहीं हैं, वे सामग्री का सहारा लिए बिना ही पूजन करते हैं; परन्तु गृहस्थावस्था में किन्हीं जीवों के परिणाम अति चंचल होते हैं। जिससे वे अपने इष्ट के प्रति भक्तिभाव से हटकर यहाँ-वहाँ भी भटक जाते हैं। उन परिणामों को यहाँ-वहाँ भटकने से रोकने के लिए प्रासुक सामग्री एक माध्यम है; अत: पूजा, उपासना में उनका निषेध नहीं किया गया है।

इसीप्रकार द्रव्यों की संख्या आदि के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। सामान्यतया अष्ट द्रव्यों से पूजन करने की पद्धति है; परन्तु आठ का होना सर्वथा आवश्यक नहीं है; एक, दो आदि द्रव्यों से भी पूजन की जा सकती है। **वास्तव में हमें सामग्री से भी अधिक, अपने परिणामों को अपने इष्ट के प्रति भक्तिभाव में लीन करने का ध्यान रखना चाहिए।**

प्रश्न ६ : पूजन करने की पद्धति क्या है?

उत्तर : छने हुए स्वच्छ जल से स्नानकर; शुद्ध, स्वच्छ और धुले हुए वस्त्र पहिनकर; जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवान के सामने विनयपूर्वक खड़े होकर, एकाग्रचित्त से, दिन में ही, प्रासुक द्रव्यों से ही पूजन करना चाहिए।

यद्यपि सामग्री चढ़ाने की प्रयोगात्मक पद्धति के सम्बन्ध में देश-काल की अपेक्षा विविधताएं हैं; तथापि पूजन में अपने परिणामों की निर्मलता ही मुख्य होती है; अत: हमें भी सामग्री चढ़ाने आदि की प्रक्रिया के सम्बन्ध में आग्रह न रखते हुए, परिणामों की निर्मलता बढ़ाने का ही पूर्णतया प्रयास करना चाहिए। सामान्यतया अष्ट द्रव्य से पूजन करने की पद्धति में कुछ क्रियाएं

निम्नलिखित हैं – भगवान की प्रतिमा का यदि प्रक्षाल नहीं हुआ हो, तो उनकी वीतराग छवि सुरक्षित रखने के लिए सर्वप्रथम भाइओं को (भगवान पुरुष होने के कारण मात्र पुरुषवर्ग ही उन्हें स्पर्श करे, उनका प्रक्षाल करे। अपने तथा भगवान के शीलसंरक्षण के लिए महिलाएं यह कार्य नहीं करें।) शुद्ध, स्वच्छ, प्रासुक जल और वस्त्र के माध्यम से भगवान की मूर्ति का प्रक्षाल करना चाहिए।

तत्पश्चात् कायोत्सर्ग करके पूजा-पीठिका से प्रारंभकर निर्दिष्ट स्थलों पर अर्घ्य, पुष्प आदि चढ़ाते हुए स्वस्तिवाचनपर्यन्त पाठ पढ़ें। तदनन्तर पुनः कायोत्सर्ग कर देव-शास्त्र-गुरु की पूजन के लिए आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण करते हुए क्रमशः जल, चंदन आदि सम्बन्धी पद्य बोलते हुए मंत्र-उच्चारणपूर्वक जलादि सामग्री समर्पित करें। तदुपरांत जयमाला के माध्यम से अपने इष्ट के गुणानुवाद में मन स्थिर करें।

इसके बाद पुनः कायोत्सर्ग कर समयानुसार अन्यान्य पूजन प्रारंभकर इसी विधि से पूर्ण करें। समयाभाव की स्थिति में अपने इष्ट आदर्शों को पृथक्-पृथक् अर्घ्य समर्पित करते हुए, बाद में महार्घ्य समर्पित करें। अंत में शांतिपाठ के माध्यम से इस कार्य में हुए अपने अपराधों की क्षमायाचना करके, सुख-शांति की कामना करते हुए, विसर्जन पाठ के माध्यम से इस कार्य के आधार से व्यक्त परिणामों की निर्मलता को स्थिर रखने की भावना भाकर कायोत्सर्ग द्वारा स्वरूपलीनता का अभ्यास करें।

प्रश्न ७ : हमारे विद्यागुरु, माता, पिता इत्यादि भी पूज्य या गुरुजन कहलाते हैं; क्या उनकी भी पूजन करनी चाहिए ?

उत्तर : हमारे विद्यागुरु, माता, पिता आदि लौकिक दृष्टि से हमारे पूज्य या गुरुजन हैं; अतः उनका यथायोग्य आदर, सत्कार, विनय, सम्मान तो करना ही चाहिए; परन्तु हमारे समान ही उनके भी राग, द्वेष आदि विकारीभावों का अभाव नहीं हुआ होने से, उन्हें मोक्षमार्ग में इष्ट या पूज्य नहीं मानना चाहिए। मोक्षमार्ग में इष्ट या पूज्य तो एकमात्र वीतरागी-सर्वज्ञ देव, वीतरागीमार्ग के निरूपक शास्त्र और वीतरागी मार्ग के पथिक नग्न, दिगम्बर, भावलिंगी गुरु ही होते हैं; अतः अष्ट द्रव्य आदि से पूजनीय तो एकमात्र ये ही हैं। लौकिक गुरुजनों की अष्ट द्रव्य आदि से पूजन आदि नहीं होती है। ○○○

आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त शक्तिओं का सागर चैतन्यतत्त्व है।

पाठ ३

उपयोग

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी का परिचय प्रस्तुत पुस्तिका के पृष्ठ २५ पर देखिए।

प्रश्न १ : उपयोग किसे कहते हैं? वह कितने प्रकार का है? भेद-प्रभेद सहित नाम लिखिए।

उत्तर : चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले (अनुविधायी) जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं। जीव के लक्षण को, उसे पहिचानने के चिन्ह को उपयोग कहते हैं; अथवा जीव के ज्ञान-दर्शन गुणों के व्यापार को/कार्य को उपयोग कहते हैं। जीव चैतन्यस्वभावी है। चेतना अर्थात् जानना-देखना इसका स्वभाव है।

इस उपयोग के सामान्यतया दो भेद हैं – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं–चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग और केवलदर्शनोपयोग।

ज्ञानोपयोग के भी मुख्यतया पाँच भेद हैं–मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मन:पर्ययज्ञानोपयोग और केवलज्ञानोपयोग।

इनमें से मति आदि प्रारंभिक तीन ज्ञानोपयोग मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन दोनों के साथ रहने के कारण इनके दो-दो भेद हो जाते हैं – कुमतिज्ञानोपयोग, सुमतिज्ञानोपयोग; कुश्रुतज्ञानोपयोग, सुश्रुतज्ञानोपयोग; कुअवधि/विभंगावधि ज्ञानोपयोग, सुअवधिज्ञानोपयोग।

ये छह और मन:पर्यय तथा केवलज्ञान–इसप्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद भी हो जाते हैं।

मतिज्ञान के भी पाँच इन्द्रिय और मन तथा उनके विषय आदि के माध्यम से तीन सौ छत्तीस आदि भेद हो जाते हैं। इसीप्रकार श्रुतज्ञानादि के भी अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं।

उपयोग के आठ भेदों को चार्ट द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

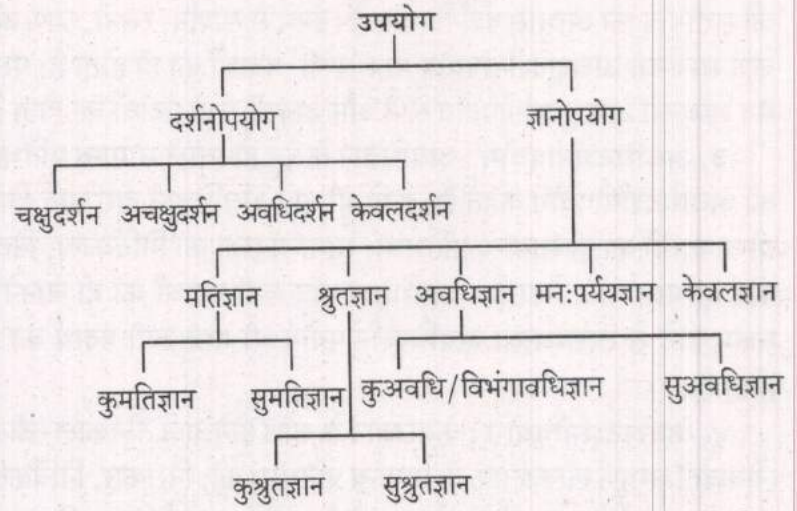

प्रश्न २ : दर्शनोपयोग का स्वरूप लिखते हुए, उसके भेदों का स्वरूप लिखिए।

उत्तर : चेतना का जो परिणमन पदार्थों का सामान्य प्रतिभास अर्थात् निराकार अवलोकन करता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। जिसमें मात्र वस्तु की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसके भेद-प्रभेद या विशेष लक्षण आदि प्रतिभासित नहीं होते हैं, जो निर्विकल्प होता है, वह दर्शनोपयोग है। इसके पूर्वोक्त चार भेदों के लक्षण इसप्रकार हैं–

१. चक्षुदर्शनोपयोग : चक्षु इन्द्रिय के निमित्त से होनेवाले मतिज्ञान के पूर्व पदार्थ का जो सामान्य प्रतिभास या अवलोकन होता है, उसे चक्षुदर्शनोपयोग कहते हैं। आँखों से देखना चक्षुदर्शनोपयोग नहीं है; वह तो चक्षु इन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञान ही है। जब यह जीव चक्षु को निमित्त बनाकर किसी 'रूपी' पदार्थ को जानता है, तब उसके पूर्व उस 'रूपी' पदार्थ का उसे जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह चक्षुदर्शनोपयोग है। इसमें मात्र रूप, रंग, आकार आदि की सत्ता का आभास होता है; ज्ञान नहीं।

२. अचक्षुदर्शनोपयोग : चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन को निमित्त बनाकर जब हम पदार्थों की जानकारी करते हैं; तब उनके पूर्व होनेवाला उन पदार्थों का सामान्य प्रतिभास, निराकार अवलोकन अचक्षुदर्शनोपयोग कहलाता है। नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान, अचक्षुदर्शनोपयोग नहीं है; वरन् उस ज्ञान के पूर्व होनेवाला उन पदार्थों

की सत्तामात्र का आभास दर्शनोपयोग है। इनमें से स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण सम्बन्धी अचक्षुदर्शनोपयोग मात्र 'रूपी' पदार्थों का ही होता है; परन्तु मन सम्बन्धी अचक्षुदर्शनोपयोग रूपी और अरूपी सभी पदार्थों का होता है।

३. **अवधिदर्शनोपयोग :** अवधिज्ञान के पूर्व होनेवाले सामान्य प्रतिभास को अवधिदर्शनोपयोग कहते हैं। इसमें भी मात्र अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात होने-योग्य पदार्थों का ही सामान्य प्रतिभास; सामान्य सत्ता का निर्विकल्प, निराकार आभास मात्र होता है। अवधिज्ञान मात्र रूपी पदार्थों को ही जानने में सक्षम होने से तत्सम्बन्धी अवधिदर्शनोपयोग भी मात्र रूपी पदार्थ का ही होता है।

४. **केवलदर्शनोपयोग :** केवलज्ञान के साथ होनेवाले तीनकाल-तीन-लोकवर्ती सम्पूर्ण लोकालोक के सामान्य प्रतिभास को; निराकार, निर्विकल्प अवलोकन को केवलदर्शनोपयोग कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण विश्व की समस्त सत्ताओं के सत्तामात्र का प्रतिभास एक साथ हो जाता है।

(दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में सामान्य प्रतिभास का अर्थ आचार्यों ने विविध स्थलों में अनेकप्रकार से किया है। बृहद् द्रव्यसंग्रह ग्रंथ, गाथा नं. ४४ की संस्कृत वृत्ति में टीकाकार ब्रम्हदेवसूरी इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यहाँ सामान्य ग्रहण का अर्थ आत्मा का ग्रहण करना चाहिए; अर्थात् आत्मा का ग्रहण दर्शनोपयोग है। वहाँ वे स्वयं ही प्रश्नोत्तर शैली में इसका विशद विवेचन करते हैं। इस सम्बन्ध में मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है–

प्रश्न : सामान्य का अर्थ आत्मा किसप्रकार है?

उत्तर : वस्तु का ज्ञान करते हुए आत्मा 'मैं इसे जानूँ और इसे नहीं जानूँ' – ऐसा विशेष पक्षपात नहीं करता है; अपितु सामान्यरूप से वस्तु को जान लेता है; इसकारण सामान्य शब्द द्वारा आत्मा कहा जाता है। – इसप्रकार गाथा का अर्थ है। अधिक कहने से क्या? तर्क और सिद्धान्त के अर्थ का जानकार यदि कोई भी एकान्त दुराग्रह का त्यागकर, नय-विभाग द्वारा मध्यस्थ वृत्ति रखकर व्याख्यान करता है, तो दोनों ही अर्थ घटित हो जाते हैं।

प्रश्न : दोनों ही अर्थ एक साथ कैसे घटित हो सकते हैं ?

उत्तर : तर्क में मुख्यतया अन्यमत का व्याख्यान होता है। वहाँ जब कोई अन्यमती पूछता है कि जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान – ये दो गुण

कहे हैं, वे किसप्रकार घटित होते हैं? उनके लिए 'आत्मा को ग्रहण करनेवाला दर्शन है'–ऐसा कहने पर उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आता है। तब आचार्य ने उन्हें प्रतीति कराने के लिए स्थूल व्याख्यान से बाह्य विषय में सामान्य को ग्रहण करनेवाले सत्तावलोकन रूप में दर्शन का प्रतिपादन किया तथा 'यह सफेद है' इत्यादि भेदपरक विशेष को ग्रहण करनेवाले के रूप में ज्ञान का प्रतिपादन किया;–इसप्रकार दोष नहीं है।

सिद्धान्त में मुख्यतया स्वसमय का व्याख्यान होता है। वहाँ सूक्ष्म व्याख्यान करते हुए आचार्यों ने आत्मा को ग्रहण करने के रूप में दर्शन का प्रतिपादन किया है; इसप्रकार इसमें भी दोष नहीं है।

इस विषय के मूल आधार कषायपाहुड़ की पहली पुस्तक आदि सैद्धान्तिक ग्रंथ हैं। वहाँ अधिक विस्तार से इसकी चर्चा की गई है; अत: विशेष जिज्ञासुओं को एतदर्थ उनका स्वाध्याय करना चाहिए)

प्रश्न ३ . ज्ञानोपयोग का स्वरूप लिखते हुए उसके भेदों का भी स्वरूप लिखिए।

उत्तर : चेतना का जो परिणमन पदार्थों का स्व-पर की भिन्नतापूर्वक अवभासन करता है, उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं। इस उपयोग से पदार्थों की भेद-प्रभेद पूर्वक स्व-पर भेदविज्ञानमयी स्पष्ट जानकारी होती है। यह ज्ञानोपयोग सविकल्प, साकार, विशेष प्रतिभासमय, व्यवसायात्मक है। सुखी होने के मार्ग में सुखी होने का व्यवसाय करने के लिए, अतीन्द्रिय आनन्दरूपी सम्पदा उत्पन्न करने के लिए मूल पूँजी रूप यह ज्ञानोपयोग ही है। इसमें ही स्व-पर को पृथक्-पृथक् जानने की क्षमता है। ज्ञानोपयोग के पूर्वोक्त आठ भेदों के लक्षण क्रमश: इसप्रकार हैं –

१. मतिज्ञानोपयोग : पराश्रय की बुद्धि छोड़कर स्वसन्मुखता से प्रगट होनेवाले अपने आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञानोपयोग कहते हैं। इसमें ज्ञान में निमित्त होनेवाले पाँच इन्द्रिय और मनरूप कारणों की भी अपेक्षा नहीं होती है। इनसे इस मतिज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होती है। जहाँ इन्द्रिय और मन की भी आवश्यकता नहीं रही; वहाँ पदार्थ, प्रकाश आदि अन्यान्य बाह्य सामग्री की आवश्यकता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। यह मतिज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द का कारण है।

जब इस जीव को परोक्षरूप में बाह्य पदार्थों की जानकारी होती है; तब

दर्शनोपयोग पूर्वक इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले रूपी-अरूपी पदार्थों के ज्ञान को मतिज्ञानोपयोग कहते हैं। इसमें भी इन्द्रिय और मन मात्र निमित्त होते हैं, वे ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते हैं। इन्द्रिय और मन को अर्थात् द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन को ज्ञान की उत्पत्ति का कारण मानना, जड़ को ज्ञान की उत्पत्ति का कारण माननेरूप महा अज्ञान है।

इस मतिज्ञान से पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी ज्ञान द्वारा तो मात्र रूपी पदार्थ ज्ञात होते हैं और मन द्वारा रूपी-अरूपी – दोनों ही ज्ञात होते हैं। यह मतिज्ञान यथायोग्य रूपी-अरूपी समस्त पदार्थों को परोक्षरूप में जानता है। सम्यग्दर्शन का अविनाभावी आत्मज्ञान/सम्यग्ज्ञानमय होने से इन्द्रिय और मन के निमित्त से पर पदार्थों को जानते हुए भी, यह सम्यग्ज्ञान ही कहलाता है। ज्ञान के हीनाधिक विकास के कारण यह सम्यक् नहीं है; वरन् सम्यग्दर्शन की सहचारिता के कारण सम्यक् है।

२. **श्रुतज्ञानोपयोग :** मतिज्ञान द्वारा जाने गए पदार्थ को अधिकाधिक विशेषरूप में जाननेवाला ज्ञान या उस पदार्थ के सम्बन्ध से अन्य पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञानोपयोग है। मतिज्ञान के समान यह भी दो रूपों में कार्य करता है –

अ. अपने आत्मा को जाननेवाले मतिज्ञानपूर्वक जो आत्मा का विशेष-विशेष ज्ञान होता है, वह आत्मा सम्बन्धी श्रुतज्ञान है। इसे स्वसंवेदनज्ञान, कथंचित् प्रत्यक्षज्ञान, स्वानुभव प्रत्यक्षज्ञान या आत्मानुभव भी कहते हैं। यह स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दमय तथा पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का कारण है।

ब. पाँच इन्द्रिय और मन सम्बन्धी मतिज्ञानपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान यथायोग्य रूपी-अरूपी सभी पदार्थों सम्बन्धी होता है। पर को जानता होने पर भी सम्यग्दर्शन की सहचारिता के कारण, यह सम्यग्ज्ञान ही कहलाता है।

३. **अवधिज्ञानोपयोग :** इन्द्रिय और मन के निमित्त बिना जो ज्ञान सीधा आत्मा से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है; उसे अवधिज्ञान कहते हैं। द्रव्यादि को एक विशिष्ट सीमा/मर्यादा में जानता होने से इसे सीमाज्ञान भी कहते हैं। अन्य की सहायता के बिना सीधा आत्मा से जाननेवाला होने के कारण प्रत्यक्ष होने पर भी; द्रव्यादि की मर्यादा पूर्वक मात्र रूपी पदार्थ को जानने में सक्षम होने से, सर्वांगीण/असीम

नहीं होने के कारण एकदेश प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके वर्धमान-हीयमान आदि; अथवा क्षयोपशम-निमित्तक आदि; अथवा देशावधि आदि विविध भेद होते हैं; जिनकी विस्तृत जानकारी के लिए राजवार्तिक आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

४. मन:पर्ययज्ञानोपयोग : आत्मानुभवी मुनिराजों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक दूसरों के मन में स्थित रूपी पदार्थ सम्बन्धी प्रगट होनेवाले स्पष्ट ज्ञान को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान के समान इसमें भी परपदार्थों की निमित्तता नहीं है; द्रव्य, क्षेत्रादि की सीमा है तथा मात्र रूपी पदार्थ को ही जानता है; अत: यह भी एकदेश प्रत्यक्ष है। इसके ऋजुमति आदि; अथवा अवस्थित आदि अनेकानेक भेदों का विस्तार राजवार्तिक आदि ग्रंथों में किया गया है।

५. केवलज्ञानोपयोग : जो ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को, उनके सम्पूर्ण गुणों को, उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को, उनके सम्पूर्ण सापेक्ष धर्मों को इत्यादि सभी को प्रतिसमय एक साथ स्पष्ट जानता है, वह केवलज्ञान है। इसे ही सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला, क्षायिक ज्ञान या अनन्त ज्ञान भी कहते हैं। यह सीधा आत्मा से ही समस्त पदार्थों को जाननेवाला होने से पूर्ण/सकल प्रत्यक्ष है।

यह ज्ञान सदा अकेला ही रहता है; इसके साथ मति आदि अन्य कोई भी ज्ञान नहीं रहते हैं, इसे किसी भी प्रकार से किंचित् भी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है; अत: इसे केवल या असहाय ज्ञान कहते हैं; अथवा **''केवंते, सेवंते इति केवलम् –** ज्ञानीजन जिसे प्राप्त करने के लिए आत्मा की सेवा, उपासना करते हैं; वह केवलज्ञान है।'' यह ज्ञान परिपूर्ण वीतरागदशा हो जाने पर ही प्रगट होता है।

६. कुमतिज्ञान : पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले मिथ्यादर्शन युक्त ज्ञान को कुमतिज्ञान कहते हैं। ज्ञान की हीनाधिकता से सम्यक्-मिथ्या का निर्णय नहीं होता है; वरन् सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन के सद्भाव से इसका निर्णय होता है। सम्यग्दर्शन की सहचारितावाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यादर्शन की सहचारितावाला ज्ञान मिथ्या या कुज्ञान नाम पाता है।

७. कुश्रुतज्ञान : कुमतिज्ञान के द्वारा ज्ञात पदार्थों की विशेष जानकारी करनेवाला ज्ञान कुश्रुतज्ञान कहलाता है।

८. **कुअवधिज्ञान :** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक मात्र रूपी पदार्थों को सीधे आत्मा से जाननेवाले मिथ्यादर्शनसहित ज्ञान को कुअवधि या विभंगावधिज्ञान कहते हैं।

इसप्रकार ज्ञानोपयोग के भेदों का संक्षिप्त स्वरूप है।

प्रश्न ४ : ज्ञानोपयोग को प्रमाण के रूप में भेद-प्रभेद सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं; अर्थात् स्व-पर के भेदसहित, स्वरूप-विपर्यास आदि विपरीतताओं रहित, पदार्थों को यथार्थ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। इस प्रमाण के दो भेद हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्षज्ञान : पर से पूर्णतया निरपेक्ष रहकर जो ज्ञान सीधा, स्पष्टरूप में पदार्थ को जानता है, वह प्रत्यक्षज्ञान है। इस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि की अपेक्षा नहीं होने से यह ज्ञान अत्यंत स्पष्ट होता है। वैसे तो सभी ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं; परन्तु इस ज्ञान में जानकारी रूप अपना कार्य करने के लिए अन्य की किंचित् भी अपेक्षा नहीं होती है।

परोक्षज्ञान : सीधे आत्मा से ही जानने में असमर्थ जिस ज्ञान को जानने रूप अपना कार्य करने के लिए इन्द्रिय, मन आदि बाह्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान पदार्थों को अस्पष्ट जानता है।

न्यायशैली में प्रत्यक्ष प्रमाण के साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष – ये दो भेद हैं। मतिज्ञान साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के एकदेश/विकल और सर्वदेश/सकल – ये दो भेद हैं।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान एकदेश/विकल तथा केवलज्ञान सर्व-देश/सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान मिथ्या-ज्ञान होने से अप्रमाण हैं।

न्यायशैली के इन भेदों को हम चार्ट द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

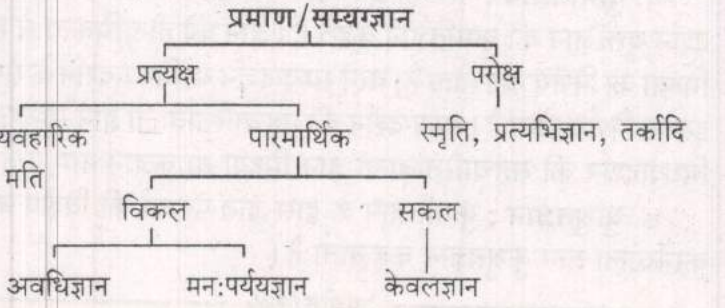

सैद्धान्तिकशैली में प्रत्यक्ष प्रमाण के सकल और विकल – ये दो भेद हैं। इनका विवरण पूर्वोक्त है। परोक्ष प्रमाण के मति और श्रुत–ये दो भेद हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को मतिज्ञान में गर्भित किया गया है।

इन्हें हम चार्ट द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं–

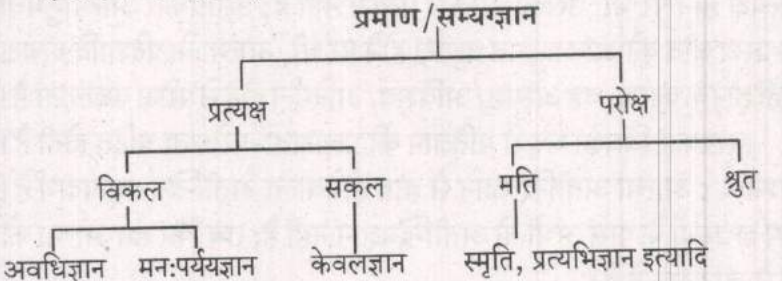

प्रश्न ५ : न्यायशैली में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष तथा सैद्धान्तिक शैली में परोक्ष प्रमाण कहा गया है। इस पर प्रश्न यह है कि वास्तव में यह क्या है? प्रत्यक्ष या परोक्ष।

उत्तर : न्यायशैली में अन्यमतिओं के साथ चर्चा मुख्य होती है। उनके यहाँ इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। लोक में भी ऐसा ही व्यवहार होता है कि मैंने नेत्र से प्रत्यक्ष देखा, कान से प्रत्यक्ष सुना इत्यादि; अत: न्यायशैली में इसे प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है; तथापि वास्तविक प्रत्यक्ष से भिन्न बताने के लिए इसे साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

सैद्धान्तिकशैली में वस्तु को अन्य की अपेक्षा बिना, सीधा आत्मा से नहीं जानने के कारण, अविशद/अस्पष्ट होने से, इस ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। आत्मानुभव के समय यद्यपि इस ज्ञान को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा जाता है; तथापि यह प्रत्यक्षता मात्र रसास्वादन की अपेक्षा है। इसमें भी प्रदेशादि प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण वास्तव में यह परोक्ष ही है।

वास्तव में तो आत्मानुभव के समय ज्ञान मात्र ज्ञान रहता है, उसमें मति-श्रुत ज्ञान – ऐसे कोई भेद नहीं होते हैं; परन्तु क्योंकि छद्मस्थ दशा में अरूपी पदार्थों को जानने में सक्षम मात्र मति-श्रुत ज्ञान ही हैं; अत: आत्मानुभव के समय भी उन्हीं का व्यवहार किया जाता है। वास्तव में तो आत्मानुभव अतीन्द्रियज्ञानमय है। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय महापदार्थ होने से इसे जाननेवाला ज्ञान भी अतीन्द्रिय ही होता है। यह अतीन्द्रियज्ञान इन्द्रियादि निमित्तों से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष कहलाता है; तथापि छद्मस्थ के इस

अतीन्द्रियज्ञान में आत्मा के प्रदेशादि प्रत्यक्ष नहीं होने से, वह परोक्ष ही कहलाता है।

जैसे मिश्री खानेवाले अन्धे व्यक्ति को लौकिक दृष्टि से मिश्री का स्वाद प्रत्यक्ष होने पर भी, उसका आकार प्रत्यक्ष नहीं है; उसीप्रकार आत्मानुभवी छद्मस्थ जीव को आत्मानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी, आत्मा के प्रदेशादि प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण, वह अस्पष्ट/अविशद/अनिर्मल होने से परोक्ष कहलाता है।

इसप्रकार विवक्षा भेद से मतिज्ञान की प्रत्यक्षता-परोक्षता घटित होती है।

प्रश्न ६ : आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात होनेवाला अतीन्द्रिय महापदार्थ है। हम छद्मस्थों के पास अभी तो अतीन्द्रियज्ञान नहीं है; तब फिर हम आत्मा को कैसे जान सकते हैं?

उत्तर : वास्तव में इन्द्रिय और अतीन्द्रिय ज्ञान मूलतया ज्ञान के भेद नहीं हैं; वरन् ज्ञेयों को जाननेवाली ज्ञान की पद्धति के भेद हैं। यदि ज्ञान ज्ञेयों को इन्द्रिय आदि की निमित्ततारूप पद्धति से जानता है, तो वह इन्द्रियज्ञान कहलाता है; तथा यदि वह इन्द्रिय आदि की निमित्तता के बिना सीधे स्वयं से ही जानता है, तो अतीन्द्रियज्ञान कहलाता है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में निरंतर नया-नया प्रगट होनेवाला परिणमन है। उसके द्वारा यदि हमने इन्द्रियादि से निरपेक्ष रहकर ज्ञेयों को जानने का काम किया, तो वह अतीन्द्रियज्ञान है। बाह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न होने के कारण मति-श्रुत ज्ञान द्वारा उन्हें इन्द्रियादि के बिना जानना सम्भव नहीं है; परन्तु आत्मा और आत्मा को जाननेवाली ज्ञान पर्याय – दोनों ही एक साथ अंदर विद्यमान होने से तथा आत्मा इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होने के कारण, उसे जानने के लिए इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होने से, आत्मा के साथ विद्यमान ज्ञान पर्याय के द्वारा आत्मा ज्ञात हो जाता है। यही अतीन्द्रियज्ञान है।

इसप्रकार अन्तरोन्मुखी वृत्ति से प्रगट अतीन्द्रियज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय महापदार्थ स्व भगवान आत्मा अभी छद्मस्थदशा में भी ज्ञात हो जाता है। उसे जानने के लिए पृथक् से किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रश्न ७ : जब मतिज्ञान चक्षु-अचक्षु दर्शनोपयोगपूर्वक होता है; अवधिज्ञान अवधिदर्शनोपयोग पूर्वक होता है, केवलज्ञान के साथ केवलदर्शन होता है; तब फिर श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान संबंधी दर्शनोपयोग क्यों नहीं होते हैं?

उत्तर : श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान दर्शनोपयोगपूर्वक व्यक्त नहीं होने से इन संबंधी दर्शनोपयोग नहीं हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा मन:पर्यय-ज्ञान मतिज्ञान के एक भेद ईहा मतिज्ञानपूर्वक होता है। – इसप्रकार ये दोनों ज्ञान मतिज्ञानोपयोगपूर्वक व्यक्त होने से इन सम्बन्धी दर्शनोपयोग नहीं हैं।

प्रश्न ८ : इस 'उपयोग' प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : इस 'उपयोग' के प्रकरण में उपयोग के कुल बारह भेद बताए गए हैं। जिनमें से वस्तु का मात्र सामान्य प्रतिभास करनेवाले, वस्तु को जानने की क्षमता से रहित चार तो दर्शनोपयोग हैं; इनसे स्पष्टतया हमारा कोई कार्य सिद्ध नहीं होने से, इनमें तो हमें उलझना ही नहीं है।

त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को स्पष्टतया प्रत्यक्ष जाननेवाला केवलज्ञान यद्यपि अनंत महिमावान है; अनन्त अतीन्द्रिय सुखमय है, अपने स्वभाव की परिपूर्ण प्रत्यक्ष जानकारी उससे ही होती है; तथापि वह हमारी समस्त साधना का फल होने से तथा पंचमकाल में प्रगट नहीं होने से, कम से कम अभी तो हमारे काम का नहीं है; अत: उससे भी दृष्टि हटा लेना।

मन:पर्ययज्ञान भी पंचमकाल में प्रगट नहीं होने से तथा मात्र रूपी पदार्थों को ही जाननेवाला होने के कारण आत्मा को जानने में सहायक भी नहीं होने से, हमारे किसी काम का नहीं है; अत: उससे भी दृष्टि हटा लेना।

अवधिज्ञान और कुअवधिज्ञान यद्यपि इस काल में हो सकते हैं; तथापि इन दोनों का विषय भी मात्र रूपी पदार्थ होने से, आत्मा को जानने में अस-मर्थ होने के कारण हमारे किसी काम के नहीं हैं; अत: इनसे भी दृष्टि हटा लेना।

मति और श्रुतज्ञान रूपी-अरूपी – सभी पदार्थों को जाननेवाले होने से ये दोनों यद्यपि आत्मा को जानने के लिए उपयोगी हैं; तथापि ये दोनों सम्य-ग्दर्शन के साथ प्रगट होने से, सम्यग्दर्शन से रहित जीवों के लिए ये भी उपयोगी नहीं हैं; अत: इन पर से भी दृष्टि हटा लेना।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट करें? आत्मा को कैसे जानें? यह चर्चा अपेक्षित है। आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन से रहित जीवों के पास अभी मात्र ज्ञान के रूप में कुमति, कुश्रुत ज्ञान विद्यमान हैं। यद्यपि अनादि से ही यह आत्मा इन ज्ञानों द्वारा मात्र रूपी पदार्थों को ही जान रहा है; तथापि इनका स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक होने से, इनमें भी आत्मा सतत ज्ञात हो रहा है; परन्तु परज्ञेय-लुब्धता के कारण यह जीव स्वयं को 'स्व' रूप से स्वीकार नहीं कर पा रहा है।

ऐसे जीव को आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए सर्वप्रथम वीतरागता के पोषक आगम/जिनागम के आश्रय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का ठोस निर्णय करना चाहिए। इस निर्णयात्मक स्थिति से आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होने पर भी उस कुमति, कुश्रुत ज्ञान की दिशा परिवर्तित हो जाती है। आगम के आश्रय से वे परलक्ष्य छोड़कर स्वोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक स्वयं को लक्षित करने में तत्पर हो जाते हैं। इसी पुरुषार्थ में सतत संलग्न रहने से उन ज्ञानों की परोन्मुखता पूर्णतया नष्ट होकर, वे ज्ञान सीधे आत्मा को विषय बना लेते हैं। ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा की अपनत्वरूप से स्वीकृति होते साथ ही वे ज्ञान, सम्यग्मति-श्रुत ज्ञान हो जाते हैं; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा भूमिकानुसार सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है।

इसप्रकार हमने देखा कि वर्तमान में स्वयं के पास विद्यमान प्रगट ज्ञानोपयोग ही सुखी होने का, सम्यक्रत्नत्रय प्रगट करने का साधन है, अन्य कोई ज्ञान या अन्य कोई सामग्री नहीं; अतः इस प्रगट ज्ञान को एक क्षण भी अन्यत्र न लगाते हुए, इसका दुरुपयोग नहीं करते हुए, इसे आगम के आधार से स्वयं को/आत्मा को जानने में लगाना चाहिए। वर्तमान में जितना जो कुछ भी ज्ञान हमें उपलब्ध है, वह यह कार्य करने के लिए पर्याप्त होने से अब उसे बढ़ाने के चक्कर में विशेष नहीं उलझते हुए, उसका सदुपयोग करने का सतत प्रयास करना चाहिए। उसे अनादि-अनंत सत् स्वभावी ज्ञानानन्दमय आत्मा को अपनत्वरूप से जानने में लगा देना ही उसका सदुपयोग है।

अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करने की यही विधि है। ज्ञान जिसमें से प्रगट हो रहा है, उसे उसमें ही लगा देना; वह आत्मा को अपनत्वरूप से जानने लगे – यही उसकी सुरक्षा का, वृद्धि का उपाय होने से, इस कार्य में ही उसकी सार्थकता है। इस कार्य के फलस्वरूप ही केवलज्ञान, मोक्षदशा प्रगट होती है। इसके लिए ही हमें यह उपयोग का प्रकरण जानना है। उपयोग का उपयोगी में उपयोगकर उपयोगी आनंदमयदशा प्रगट करने के लिए उपयोग का प्रकरण समझना है।

प्रश्न ९ : उपयोग के इन बारह भेदों में से एक साथ एक जीव के कम से कम कितने और अधिक से अधिक कितने उपयोग हो सकते हैं?

उत्तर : उपयोग के इन बारह भेदों में से कम से कम एक साथ एक जीव के

केवलदर्शन और केवलज्ञान – ये दो उपयोग होते हैं। ये दोनों एकमात्र अरहंत और सिद्ध भगवान के होते हैं; अर्थात् दो उपयोग मात्र सर्वज्ञ-दशा में होते हैं, छद्मस्थ-दशा में नहीं।

छद्मस्थ-दशा में विद्यमानता की अपेक्षा इन बारह में से कम से कम तीन होते हैं। अचक्षुदर्शन, कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान–ये तीनों एकेन्द्रिय से लेकर तीनेन्द्रिय जीवपर्यन्त होते हैं। इससे आगे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान–ये चार चारेन्द्रिय और मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय के होते हैं; तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान – ये चार चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त सम्पूर्ण छद्मस्थ-दशा में रहते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चक्षु-अचक्षुदर्शन तथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान–इसप्रकार पाँच भी हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि मुनिराज के भी चक्षु-अचक्षुदर्शन तथा मति, श्रुत, मन:पर्ययज्ञान – इसप्रकार पाँच हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टिओं के चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन और मति श्रुत, अवधिज्ञान– ये छह तथा मुनिराजों की अपेक्षा इन छह के साथ ही मन:पर्ययज्ञान–इसप्रकार सात भेद एक साथ हो सकते हैं। इन सात से अधिक एक साथ कभी भी नहीं हो सकते हैं। ये सात भी विद्यमानता की अपेक्षा हैं, उपयोगात्मक तो एक समय में एक ही होता है। सर्वज्ञ-दशा में दोनों सदा उपयोगात्मक ही होते हैं।

इसप्रकार उपयोग के बारह भेदों में से कम से कम दो तथा अधिक से अधिक सात भेद एक साथ रह सकते हैं। दर्शनोपयोग के चार भेदों में से एक साथ कम से कम एक और अधिक से अधिक तीन रह सकते हैं। ज्ञानोपयोग के आठ भेदों में से कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान एक साथ रह सकते हैं; इससे अधिक नहीं।

प्रश्न १० : दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के अन्तर को हम इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं –

दर्शनोपयोग	ज्ञानोपयोग
१. दर्शनोपयोग दर्शनगुण का परिणमन है।	ज्ञानोपयोग ज्ञान गुण का परिणमन है।

२. यह दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के साथ प्रगट होनेवाली जीव की दशा है।	यह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के समय प्रगट होनेवाली जीव की दशा है।
३. इसमें वस्तु का सामान्य प्रतिभास मात्र होता है।	इसमें वस्तु की विशेष जानकारी होती है।
४. इसका स्वरूप निर्विकल्प, निराकार, निर्व्यवसायमय है।	इसका स्वरूप सविकल्प, साकार, व्यवसायमय है।
५. इसके पूर्ण, अपूर्ण परिणमनमय भेद होने पर भी सम्यक्-मिथ्यारूप भेद नहीं होते हैं अर्थात् इसमें सम्यक्-मिथ्या का भेद नहीं है।	इसमें पूर्ण-अपूर्ण परिणमनमय भेदों के साथ ही सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन के कारण क्रमश: सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान रूप भेद भी होते हैं।
६. छद्मस्थदशा में नियम से दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है अर्थात् ज्ञानोपयोग के पूर्व दर्शनोपयोग नियम से होगा।	दर्शनोपयोग के बाद ज्ञानोपयोग होने का नियम नहीं है। हमें कितने ही विषयों संबंधी मात्र दर्शनोपयोग होकर रह जाता है; तत्संबंधी ज्ञानोपयोग नहीं होता है।
७. दर्शनोपयोग के चार भेद हैं।	ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।
८. दर्शनोपयोग में तत्त्व-निर्णय करने की क्षमता नहीं है।	ज्ञानोपयोग स्वयं स्व-पर प्रकाशक, व्यवसायात्मक होने से इसके द्वारा तत्त्व-निर्णय और भेदविज्ञान होता है।
९. दर्शनोपयोग प्रमाण या अप्रमाण रूप नहीं है।	ज्ञानोपयोग में सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप और मिथ्याज्ञान अप्रमाणरूप है।
१०. दर्शनोपयोग का सीधा संबंध आत्मकल्याण से नहीं है।	आत्मकल्याण की दृष्टि से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रगटता में, वृद्धि तथा पूर्णता में ज्ञानोपयोग की विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पर से भिन्नता के लिए यह ज्ञानोपयोग ही एकमात्र उपयोगी तीक्ष्ण छैनी है। इसे प्रज्ञाछैनी भी कहते हैं।

११. दर्शनोपयोग संसार-सिद्ध सभी दशाओं में व्यक्त होने पर भी रागादि विकारों के उत्पाद-विनाश में निमित्त नहीं होने के कारण उपचार से भी बंध-मोक्ष का कारण नहीं है।	जागृतदशायुक्त सैनी पंचेन्द्रिय जीव का ज्ञान ही आत्महित में साधनभूत है। आत्मा को अपनत्वरूप से जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने से मोक्ष का कारण है तथा आत्मा को अपनत्वरूप से नहीं जाननेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान होने से बंध का कारण है – इसप्रकार ज्ञान को बंध-मोक्ष का कारण कहने वाला व्यवहार जिनागम में प्रसिद्ध है।
१२. दर्शनोपयोग की पूर्ण विकसित दशा केवलदर्शन/अनन्तदर्शन से वीतरागी भगवान की पहिचान नहीं होती है।	ज्ञानोपयोग की पूर्ण विकसित दशा केवलज्ञान/अनन्तज्ञान/सर्वज्ञता से वीतरागी भगवान की पहिचान होती है।
१३. मुख्यतया पर्यायों की पूर्ण सुव्यवस्थित परिणमन-व्यवस्था दर्शनोपयोग से सिद्ध नहीं हो पाती है।	समस्त पर्यायों को अपने-अपने समय में व्यक्तरूप से स्पष्टतया जानने की क्षमता केवलज्ञान में होने से उससे इनकी क्रमनियमितता/क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है।
१४. दर्शनोपयोग के माध्यम से अतीन्द्रिय आनंद प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता है।	स्वयं की वर्तमानदशा में उपलब्ध ज्ञानोपयोग के माध्यम से अतीन्द्रिय आनंद प्रगट करने का पुरुषार्थ किया जाता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में अंतर है।

प्रश्न ११ : अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान – ये दोनों ही सीधे आत्मा से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक मात्र रूपी पदार्थों को जानने के कारण देशप्रत्यक्ष/विकलप्रत्यक्ष कहलाते हैं; तथापि इन दोनों ज्ञानों में कुछ अंतर है। वह इसप्रकार है –

अवधिज्ञान	मन:पर्ययज्ञान
१. अवधिज्ञान चारों ही गतिओं में होता है।	मन:पर्ययज्ञान मात्र गर्भज कर्मभूमि-पुरुष को ही होता है।

२. इसके सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के कारण क्रमशः अवधिज्ञान-कुअवधि/विभंगावधि – दो भेद हैं।	यह ज्ञान सम्यग्दृष्टिओं को ही होने के कारण इसके ऐसे भेद नहीं हैं।
३. यह असंयमी-संयमी सभी छद्मस्थों को हो सकता है। सुअवधि की अपेक्षा चौथे से लेकर बारहवें पर्यन्त तथा कुअवधि की अपेक्षा यथायोग्य प्रथमादि गुणस्थान में हो सकता है।	यह मात्र छठवें से बारहवें गुणस्थान-पर्यन्त सकलसंयमी, वृद्धिंगत चारित्र वाले, ऋद्धिधारी किन्हीं मुनिराजों को ही हो सकता है।
४. यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होता है।	यह मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होता है।
५. यह ज्ञान परिणामों की अल्प विशुद्धि में भी प्रगट होता है।	यह परिणामों की विशेष विशुद्धि/विशिष्ट निर्मलता में ही व्यक्त होता है।
६. इस ज्ञान द्वारा जानने-योग्य क्षेत्र अधिक है।	यह मात्र पैंतालीस लाख योजनवाले मनुष्यलोक को ही जान सकता है।
७. चारों गतिओं में होने के कारण इस ज्ञानवालों की संख्या असंख्यात है।	मात्र संयमी पुरुषों में ही होने के कारण इस ज्ञानधारक जीवों की संख्या संख्यात है।
८. इसका विषय, क्षेत्र अधिक होने से इसमें विशेष सूक्ष्मता नहीं है। यह ज्ञान स्थूल है। यह अधिक से अधिक परमाणु को जान सकता है।	इसका विषय, क्षेत्र कम होने पर भी यह अपने विषय को गहराई से जानता है। अवधिज्ञान द्वारा जाने हुए विषय के अनंतवें भाग सूक्ष्म विषय को यह ज्ञान जान लेता है।
९. यह ज्ञान भवप्रत्यय के रूप में जन्म से भी हो सकता है।	यह ज्ञान गर्भ से आठ वर्षपर्यन्त तो नियम से ही नहीं होगा। तदनन्तर संयम धारण करने के बाद ही प्रगट हो सकता है।
१०. इसके देशावधि आदि या वर्धमान आदि या भवप्रत्यय आदि अनेक भेद हैं।	इसके ऋजुमति और विपुलमति तथा वर्धमान आदि कुछ ही भेद होते हैं।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों ज्ञानों में पारस्परिक भेद है।

प्रश्न १२ : जिनवाणी में उपयोग शब्द मुख्यतया किन-किन प्रकरणों में किन-किन अर्थों में आता है ?

उत्तर : जिनवाणी में उपयोग शब्द मुख्यतया तीन प्रकरणों में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है –

१. जीव का लक्षण बताने के लिए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के रूप में उपयोग शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका वर्णन प्रस्तुत पाठ में किया ही है।

२. ज्ञानगुण के परिणमन की मुख्यता से चारित्रगुण के परिणमन को बताने के रूप में उपयोग को शुद्ध और अशुद्ध – इन दो भेदों में विभक्त करके, पुनः अशुद्ध के भी शुभ और अशुभ – ये दो भेद कर उपयोग को तीन रूपों में विभाजित किया गया है – शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। ये तीनों ही चारित्रगुण की दशाएं हैं। शुद्धोपयोग निष्कषायमय वीतरागतारूप निर्मलदशा है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग कषाय सहित सरागतारूप मलिनदशा है। – इसप्रकार ज्ञानगुण की मुख्यता से चारित्रगुण के शुद्धाशुद्ध परिणमन को शुद्धोपयोग, अशुद्धोपयोग शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है।

३. आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार की ८९वीं गाथा में उपयोग शब्द को उपर्युक्त दोनों से भिन्न एक पृथक् अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। वे लिखते हैं–

"उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो॥

मोहयुक्त उपयोग के अनादि से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भावरूप तीन परिणाम जानना चाहिए।"

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव इन तीनों भेदों को मोहयुक्त उपयोग का ही सिद्ध करते हैं। ये ही आकुलतामय, आकुलता के कारण, स्वयं बन्धमय तथा बन्ध के कारण हैं। इन्हें ही अन्यत्र मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र शब्दों से कहा गया है।

जिनागम को और भी गहराई से देखने पर उपयोग शब्द और भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ मिल सकता है।

उपर्युक्त तीनों रूपों में से दर्शनोपयोग-ज्ञानोपयोग रूप में प्रयुक्त उपयोग जीव का स्वभाव होने से दुःख का या बंध का कारण नहीं है। इसका सदुपयोग करने पर, एकमात्र यही हमारे सुखी होने का सातिशय साधन बन जाता है।

दूसरे अर्थ में प्रयुक्त उपयोग के भेदों में से शुद्धोपयोग स्वयं अतीन्द्रिय

आनन्दमय तथा अतीन्द्रिय आनंद का, मोक्ष का कारण है तथा शुभाशुभरूप अशुद्धोपयोग स्वयं दुःखमय, दुःख का कारण, बन्ध का कारण है।

तीसरे अर्थ में प्रयुक्त उपयोग की तीनों दशाएं मिथ्यात्वमय होने के कारण अनंत दुःखमय, दुख की कारण, बन्ध की कारण हैं।

इसप्रकार जिनागम में उपयोग शब्द मुख्यतया तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

प्रश्न १३ : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वैसे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त छद्मस्थ जीवों के सदैव विद्यमान रहते हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक अंतर है। वह इसप्रकार–

मतिज्ञान	श्रुतज्ञान
१. मतिज्ञान मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होनेवाली ज्ञानदशा है।	श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होनेवाली ज्ञानदशा है।
२. यह दर्शनोपयोगपूर्वक होता है।	यह मतिज्ञानोपयोगपूर्वक होता है।
३. परपदार्थों को जानते समय इसमें इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं।	इसमें उनकी सीधी निमित्तता नहीं है।
४. मतिज्ञान से ज्ञात पदार्थों को वही मतिज्ञान और अधिक विशेषरूप से नहीं जान सकता है।	मतिज्ञान से ज्ञात पदार्थों को श्रुतज्ञान विशेषरूप से जानता है तथा उस पदार्थज्ञान के माध्यम से श्रुतज्ञान अन्य पदार्थ को भी जानने की क्षमता रखता है।
५. निमित्त और ज्ञेयों की अपेक्षा इसके मुख्यतया तीन सौ छत्तीस भेद प्रसिद्ध हैं।	इसके मुख्यतया अंगप्रविष्ट रूप द्वादशांग और अंगबाह्य रूप सामायिक आदि चौदह भेद प्रसिद्ध हैं।
६. मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होने का नियम नहीं है।	श्रुतज्ञान होने के पूर्व मतिज्ञान नियम से होगा, जब कभी श्रुतज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, तो उसमें साक्षात् कारण श्रुतज्ञान तथा परम्परा कारण मतिज्ञान होता है।
७. मतिज्ञान मात्र प्रमाणात्मक है।	यह प्रमाण तथा नय दोनों रूप है।
८. इससे तत्त्व सुना-समझा जा सकता	मुख्यतया इस ज्ञान के माध्यम से ही

है, सीधे ही इस ज्ञान से तत्त्व का निर्णय तथा तत्त्वोपलब्धि नहीं होती है।	तत्त्व का निर्णय तथा तत्त्वोपलब्धि होती है।
९. इसमें पाँच इन्द्रियों की निमित्तता मुख्य है।	सैनी जीव के इस ज्ञान में मन की निमित्तता मुख्य है। **"श्रुतमनिन्द्रियस्य"** ऐसा कहा भी गया है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों ज्ञानों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न १४ : चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों ही दर्शन छद्मस्थ जीवों के अंत तक अर्थात् बारहवें गुणस्थानपर्यन्त रहते हैं; तथापि इनमें कुछ अंतर है। वह इसप्रकार है –

चक्षुदर्शन	अचक्षुदर्शन
१. चक्षुदर्शन चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होता है।	अचक्षुदर्शन अचक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के समय प्रगट होता है।
२. यह चारेन्द्रिय जीवों से प्रारंभ होकर छद्मस्थ पंचेन्द्रिय पर्यन्त रहता है।	यह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी छद्मस्थ जीवों के होता है।
३. यह अनादिकालीन नहीं है।	यह अनादिकालीन है।
४. आत्मानुभूति के समय होनेवाले ज्ञानोपयोग के पूर्व नियम से यह नहीं होता है।	आत्मानुभूति के समय होनेवाले ज्ञानोपयोग के पूर्व यही दर्शन होता है, अन्य नहीं।
५. यह मात्र चक्षु इन्द्रिय संबंधी कुमति या सुमतिज्ञान के पूर्व ही होता है।	यह चक्षुइन्द्रिय संबंधी ज्ञान को छोड़कर शेष सभी इन्द्रिय और मन संबंधी कुमति और सुमति ज्ञान के पूर्व होता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों दर्शनों में पारस्परिक अन्तर है। ○○○

जीव का लक्षण : उपयोग

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥

सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है, जिससे कि तुम कहते हो कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ?

– समयसार : आ. कुन्दकुन्ददेव

पाठ ४

अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व

कविवर पं. दौलतरामजी का परिचय प्रस्तुत पुस्तिका के पृ. १ पर देखें।

प्रश्न १ : अनादिकाल से जीव दुखी क्यों है ? क्या दु:ख से छुटकारा पाया जा सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ?

उत्तर : यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण दुखी है। इन तीनों के कारण चार गति, चौरासी लाख योनिओं में परिभ्रमण करते हुए जन्म-मरण का दु:ख भोग रहा है। मिथ्यादर्शनादि विकारी भावों के कारण विविध संयोगों में रहते हुए भी इसे आज तक सुख प्राप्त नहीं हुआ है। बिना सीखे/बिना सिखाए ही ये मिथ्यादर्शनादि अनादिकाल से चले आ रहे होने के कारण अगृहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं।

इनके अतिरिक्त इन्हीं को पुष्ट करनेवाले अनेकानेक बाह्य कारणों में अपनी अज्ञानता से स्वयं उलझकर या अन्य के माध्यम से उलझकर यह जीव अनंत दु:ख भोग रहा है। इन्हें नया ग्रहण करने के कारण ये गृहीत मिथ्यात्व कहलाते हैं। इस जीव के अनंतों दु:खों के एकमात्र कारणभूत इन विकारीभावों के संबंध में छहढालाकार दूसरी ढाल में इसप्रकार लिखते हैं–

"ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्ण वश भ्रमत भरत दुख जन्म मर्ण।
तातैं इनको तजिए सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥"

इसप्रकार यह जीव अपने ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मिथ्यात्व युक्त अपराध के कारण दुखी है। इस मिथ्यादर्शनादि मिथ्यात्वरूप अपराध को नष्ट कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप निरपराधी दशा को प्रगट कर यह सुखी हो सकता है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का वास्तविक स्वरूप समझकर उन्हें ही यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु मानने से तथा रागादि पोषक किन्हीं को भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं मानने से गृहीत मिथ्यादर्शन नष्ट होता है। इसी सत्य श्रद्धानपूर्वक रागादिपोषक शास्त्रों को सत् शास्त्र नहीं जानने, रागादि-सम्पन्न देव-गुरु

को सच्चा देव-गुरु नहीं जानने से गृहीत मिथ्याज्ञान नष्ट होता है तथा प्रशंसा आदि के लोभ से, पूजा-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने की भावना से मूढ़तामय बाह्याचरण का पालन नहीं करने से एवं आत्मा-अनात्मा का विवेक जागृत कर सम्यक् आचरण करने से गृहीत मिथ्या-चारित्र नष्ट हो जाता है।

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान कर, आत्मानुभव करने से अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अनादिकालीन मिथ्यात्व भी नष्ट हो जाता है।

इसप्रकार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का वास्तविक स्वरूप समझकर जीवादि तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक आत्मानुभव करने से हम इन दुःखों को नष्ट कर सुखी हो जाते हैं।

प्रश्न २ : दुःख के कारणों को चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :

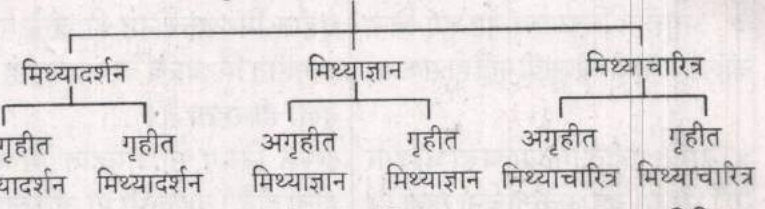

प्रश्न ३ : अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जो मिथ्यात्व बिना सीखे/सिखाए ही अनादिकाल से इस जीव के साथ चल रहा है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। अ=नहीं, गृहीत=ग्रहण किया/सीखा, मिथ्या=असत्य/विपरीत, त्व=भाव/पना। अनादि से ही अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं करने के कारण; शरीरादि पर पदार्थों के प्रति बिना सीखे/सिखाए होनेवाले एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान, विपरीत आचरण को अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

उपर्युक्त अगृहीत मिथ्यात्व जिन कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि के उपदेश से अथवा अन्यान्य कारणों, परिस्थितिओं से अधिक पुष्ट होता है; उन पुष्ट करने वाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि को, अन्यान्यकारणों, परिस्थितिओं को हितकर मानना, पूज्य मानना, अपना कर्ता-धर्ता मानना, जानना और

तदनुरूप आचरण करना गृहीत मिथ्यात्व है। गृहीत=नया ग्रहण किया हुआ, नवीन सीखा हुआ।

प्रश्न ४ : अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ये दोनों ही अपराध होने पर भी, दुखमय तथा दुःख के कारण होने पर भी, इनमें परस्पर कुछ अन्तर है। वह इसप्रकार है –

अगृहीत मिथ्यात्व	गृहीत मिथ्यात्व
१. यह बिना सीखे, सिखाए अनादि काल से ही चला आ रहा है।	यह सैनी पंचेन्द्रिय जीव में ही नया सीखने से प्रगट होता है।
२. यह चारों गतिओं में पाया जाता है।	इसका प्रारंभ अज्ञानतावश मुख्यतया मनुष्यगति में ही होता है। यहाँ के ही संस्कारवश कभी-कभी तिर्यंचगति और देवगति में भी पाया जाता है।
३. अगृहीत मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना यह जीव कभी भी सुखी नहीं हो सकता।	गृहीत मिथ्यात्व नष्ट हो जाने पर भी अगृहीत मिथ्यात्व के कारण यह जीव दुखी ही रहता है।
४. इसके गृहीत मिथ्यात्व हो भी और नहीं भी हो। यह अकेला बना रहता है।	इसके नियम से अगृहीत मिथ्यात्व होता ही है। यह कभी भी अकेला नहीं रहता है।
५. यह किसी पर के कारण नहीं; अपितु अपने विपरीत श्रद्धान, ज्ञान, आचरण के कारण विद्यमान रहता है; अतः इसके नष्ट हो जाने पर, बाह्य संयोग या बाह्य व्यवहार में स्थूलरूप से कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता है।	यह कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि के निमित्त से पलता है; अतः इसके नष्ट हो जाने पर कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की पूजा-भक्ति आदिरूप बाह्य संयोग-व्यवहार नष्ट हो जाता है। इसप्रकार इसके छूटने की पहिचान बाह्य संयोग-व्यवहारादि से भी हो जाती है।
६. अगृहीत मिथ्यात्व स्थूलरूप से सभी जीवों के प्रायः एक समान होता है।	यह मिथ्यात्व विविधरूपों में दिखाई देता है। एकान्त, विपरीत आदि पाँच भेद; क्रियावादी आदि तीन सौ त्रेषठ भेद; सांख्य, बौद्धादि मत इत्यादि

७. इसके स्वरूप को समझने का तथा इसे नष्ट करने का उपाय मुख्यतया द्रव्यानुयोग और करणानुयोग की शैली द्वारा समझाया जाता है।	अनेकानेकरूपों में सामने आता है। इसके स्वरूप को समझने या इसे नष्ट करने का उपाय मुख्यतया चरणानुयोग और प्रथमानुयोग की शैली द्वारा समझाया जाता है।
८. इसमें जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यता मुख्य होती है।	इसमें देव, शास्त्र, गुरु संबंधी विपरीत मान्यता मुख्य होती है।
९. इसे नष्ट करने के लिए मुख्यतया जीवादि तत्त्वों संबंधी यथार्थ ज्ञानपूर्वक आत्मानुभव करना ही एकमात्र उपाय है।	इसे नष्ट करने के लिए मुख्यतया देव, शास्त्र, गुरु का वास्तविक स्वरूप समझकर मिथ्यादेवादि की पूजन-भक्ति आदि से बचना उपाय है।
१०. यह समवसरण सभा के अन्दर जाता है।	यह समवसरण सभा के अंदर नहीं जाता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न ५ : अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में अनादिकाल से चली आई विपरीत मान्यता को अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए पण्डित दौलतरामजी अपने छहढाला नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि –

''जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधै तिन माँहि विपर्ययत्व।
चेतन कौ है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप॥
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि, करै देह में निज पिछान॥
मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन॥
शुभ अशुभ बंध के फल मँझार, रति अरति करै निज पद बिसार।
आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्ट दान॥
रोकी न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय॥''

जीव स्वयं उपयोगरूप, अमूर्तिक, चैतन्यमूर्ति, समस्त पदार्थों में अनुपम

है। इसका स्वभाव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से भिन्न है; इसे न जानकर, विपरीत मानकर यह जीव शरीर में अपनत्व की पहिचान करता है। बाह्य संयोगों से स्वयं को सुखी, दुखी, धनी, गरीब मानता है। धन, घर, पशु-धन, प्रभाव, स्त्री, पुत्र आदि को अपना मानता है। शारीरिक बल से स्वयं को सबल, निर्बल मानता है। शारीरिक आकार-प्रकार से स्वयं को कुरूप, सुन्दर मानता है। वर्तमान प्रगट ज्ञान से स्वयं को मूर्ख या बुद्धिमान मानता है। शरीर की उत्पत्ति, नाश आदि दशाओं से स्वयं का जन्म, मरण आदि मानता है। – इत्यादि रूप में जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता अगृहीत मिथ्या-दर्शन है।

इसीप्रकार प्रत्यक्षरूप में स्पष्टतया दुःखदायक रागादिभावों में आसक्त रहते हुए स्वयं को सुखी मानना; अपने ज्ञानानन्द स्वभावी पद को भूलकर शुभ-अशुभ बंध के उदय में प्राप्त संयोगों को अनुकूल-प्रतिकूल मानकर, उनमें हर्ष-विषाद करना; आत्मकल्याण में कारणभूत वैराग्य, ज्ञान आदि को कष्टदायक मानना; अपने अनन्त वैभव की पहिचान न कर परपदार्थों की चाह करते रहना; परिपूर्ण निराकुलतामय मोक्षदशा को नहीं पहिचानना इत्यादि रूप में आस्रवादि तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यता को अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

प्रश्न ६ : अगृहीत मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों संबंधी उपर्युक्त विपरीत मान्यता सहित सम्पूर्ण ज्ञान को अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं। पण्डित दौलतरामजी इसे इस-प्रकार व्यक्त करते हैं –

''याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान॥

उपर्युक्त प्रतीति/विपरीत मान्यतासहित जितना जो कुछ भी ज्ञान है, उस सभी को दुःखदायक मिथ्याज्ञान जानो।''

अनादि से ही बिना सीखे-सिखाए चले आने के कारण, इसे अगृहीत कहते हैं तथा तत्त्वों का वास्तव में वैसा स्वरूप नहीं होने से, इसे मिथ्याज्ञान कहते हैं अर्थात् जीव को अजीवरूप जानना, शरीरादि को अपनेरूप जानना, रागादि को सुखरूप जानना इत्यादि तत्त्वसंबंधी विपरीत जानकारी, अगृहीत मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न ७ : अगृहीत मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपर्युक्त मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान सहित जीव की पंचेन्द्रिय विषयभोगों में प्रवृत्ति, अगृहीत मिथ्याचारित्र कहलाती है। इसे पं. दौलतरामजी ने इस-प्रकार स्पष्ट किया है –

''इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्र।
उपर्युक्त अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान से सहित विषयों में प्रवृत्ति को मिथ्या-चारित्र जानो।''

अनादिकालीन विपरीत मान्यता और विपरीत ज्ञान से सहित ग्रहण या त्यागरूप पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति, अगृहीत मिथ्याचारित्र है। इसमें विशेष यह है कि मिथ्यादर्शनादि युक्त होने पर पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में लीनतारूप प्रवृत्ति तो मिथ्याचारित्र है ही; मिथ्यादर्शनादि युक्त होने पर पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का त्याग करनेरूप प्रवृत्ति भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाती है; संयम नहीं। मिथ्यादर्शनादि नष्ट हो जाने पर, पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का पूर्णतया त्याग नहीं कर पाने की स्थिति में, उनमें प्रवृत्ति अचारित्र, असंयम या अविरति कहलाती है; मिथ्याचारित्र नहीं।

प्रश्न ८ : गृहीत मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिकालीन विपरीत मान्यता को अपने उपदेश आदि से अधिक पुष्ट करनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि को सत्य मानकर उनका विश्वास करना, उनकी पूजा-उपासना आदि से हमारा कल्याण होगा इत्यादि रूप विप-रीत मान्यता, गृहीत मिथ्यादर्शन है। इसे पण्डित दौलतरामजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो कुगुरु, कुदेव, कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव।
अंतर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह॥
धारैं कुलिंग लहि महत भाव ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव।
जे राग द्वेष मलकर मलीन वनिता गदादि जुत चिन्ह चीन॥
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत॥
जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।
याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान.....॥''

अनादिकालीन विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाले कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को हितकर मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है। जो अंतरंग में मोह, राग, द्वेष आदि

विकारों से सहित हैं; बाह्य में धन, वस्त्र आदि परिग्रह से स्नेह रखते हैं; उनसे सहित हैं; अपना महंतपना/बड़प्पन दिखाने के लिए कुलिंग को/विपरीत वेषों को धारण करते हैं इत्यादि लक्षण-संपन्न कुगुरु संसार-समुद्र में डुबोने के लिए पत्थर की नाव के समान हैं; इन्हें गुरु मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है। अन्य-मती साधु-सन्तों को, अपने ही मत में प्रचलित भट्टारक आदि को अथवा अट्ठाईस मूलगुणों से रहित नग्न दिगम्बर साधुओं को गुरु मानना, अपने से महान मानना, उन्हें अपना हितैषी मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है।

इसीप्रकार मोह, राग, द्वेष आदि मल से मलिन; स्त्री आदि से सहित, गदा आदि अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न व्यक्ति को देव मानना, कुदेव है। इनकी सेवा अज्ञानी, मूढ़ ही करते हैं। इनकी सेवा-उपासना से संसार का परिभ्रमण नहीं मिटता है; अत: इन्हें देव मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है। जैनधर्म से बाह्य अन्य धर्मी ब्रम्हा, विष्णु, महेश, अल्ला, यीशु इत्यादि तथा जैन शास्त्रों में वर्णित धर-णेन्द्र, पद्मावती, क्षेत्रपाल, अम्बिका, चक्रेश्वरी, भरमप्पा इत्यादि कल्पित या देवगति के देवी-देवताओं को सच्चा देव मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है।

इसीप्रकार मोह, राग, द्वेष आदिरूप भावहिंसा तथा त्रस, स्थावर जीवों के घातरूप द्रव्यहिंसा से सहित क्रियाओं को धर्म मानना, कुधर्म है। इनका श्रद्धान करने से जीव दु:ख भोगता है, अनादिकालीन मिथ्यात्व पुष्ट करता है; अत: इन्हें धर्म मानना, गृहीत मिथ्यादर्शन है।

प्रश्न ९ : गृहीत मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन शास्त्रों में वस्तु-व्यवस्था के विपरीत कथन करके रागादि विकारी-भावों का, हिंसा आदि पापों का, पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का पोषण किया जाता है; उन शास्त्रों को सच्चे शास्त्र मानकर, हितकारक मानकर, पढ़ना अध्ययन करना, संग्रह करना इत्यादि, गृहीत मिथ्याज्ञान है। इसे पं. दौलत-रामजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एकान्तवाद दूषित समस्त विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास॥

जो समस्त एकान्त कथनों से दूषित/दोष से युक्त हैं पंचेन्द्रिय विषय-भोग आदि पापों का पोषण करते हैं; उन कल्पित, अज्ञानी जीवों द्वारा बनाए गए शास्त्रों का, हितकर मानकर अभ्यास करना, गृहीत मिथ्याज्ञान है। यह मिथ्याज्ञान विविध कष्टों को देनेवाला है।"

इस जीव की अनादि से ही विषय-कषायों में प्रवृत्ति चली आ रही है। यदि शास्त्र पढ़कर भी इसी प्रवृत्ति का पोषण हुआ, तो वास्तव में वे शास्त्र नहीं, आत्म-घातक शस्त्र ही हैं। अनेकान्तात्मक वस्तु-व्यवस्था का विरोध कर, वस्तु का ऐकान्तिक निरूपण करने से, अनन्त दुःख ही भोगना पड़ता है। जिन शास्त्रों में कल्पित, एकान्तमय निरूपण है, उन्हें सच्चे शास्त्र मानना, अपने लिए कल्याणकारक मानना, उनके माध्यम से होनेवाला ज्ञान हमें सुखी करेगा – ऐसा मानकर उनका ज्ञान करना, गृहीत मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न १० : गृहीत मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक प्रशंसा आदि के लोभ से बाह्याचरण का पालन करना, गृहीत मिथ्याचारित्र है। पं. दौलतरामजी इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे-जे करनी तन करन छीन।।

प्रसिद्धि, लाभ, पूजा, आदर, सत्कार आदि प्राप्त करने की इच्छापूर्वक शरीर को कष्ट देनेवाली, शरीर को क्षीण करनेवाली, आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हो की गई विविध क्रियाएं, गृहीत मिथ्याचारित्र हैं।''

तात्पर्य यह है कि आत्मा और अनात्मा रूप स्व-पर के सम्यग्श्रद्धान-ज्ञान से रहित जितना जो कुछ भी बाह्य आचरण/क्रियाकाण्ड है; वह अनादि कालीन मिथ्यात्व का पोषक होने से और मानादि कषायों की वृद्धि करनेवाला होने से गृहीत मिथ्याचारित्र है।

ये सभी दुःखमय और दुःख के कारण होने से त्याग करने-योग्य हैं।

प्रश्न ११ : क्या रागादि के पोषक शास्त्रों को पढ़ना मात्र, गृहीत मिथ्याज्ञान है?

उत्तर : नहीं। रागादिपोषक शास्त्रों को पढ़ना मात्र, गृहीत मिथ्याज्ञान नहीं है; वरन् उन्हें वास्तविक सुखी होने का उपाय बतानेवाला मानकर पढ़ना, गृहीत मिथ्याज्ञान है। यदि उनके पढ़ने मात्र से गृहीत मिथ्याज्ञान हो जाए, तो पढ़े बिना उनके सही-गलत का निर्णय कैसे करेंगे ? ये कल्पित, रागादि पोषक हैं; वस्तु के एकान्त स्वरूप का कथन करते हैं – ऐसा निर्णय भी कैसे करेंगे ? परम-पूज्य दिगम्बर आचार्यों ने तो उन ग्रंथों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन कर उनके प्रत्येक कथन को असत्य सिद्ध कर, उनका खण्डन कर; जिनागम-सम्मत

प्रत्येक कथन को तर्क-युक्ति से सत्य सिद्धकर, उसका मण्डन किया है। गुण-दोष को जाने बिना ग्रहण-त्याग सम्भव नहीं होने से तथा गुण-दोष को जानने का एक उपाय अध्ययन होने से, किन्हीं भी ग्रंथों के अध्ययन का निषेध नहीं है।

इसप्रकार रागादि-पोषक शास्त्रों का अध्ययन गृहीत मिथ्याज्ञान नहीं है; वरन् उन्हें भला जानकर, हितकर जानकर, अच्छा मानकर, उपादेयबुद्धि से पढ़ना, गृहीत मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न १२ : संयमी की लोक में पूजा होती है; अत: संयम धारण करना चाहिए; क्या यह बात युक्तिसंगत है ? नहीं, तो क्यों ?

उत्तर : यह अज्ञानतावश किया गया कथन है; तर्कसंगत रंचमात्र नहीं है। इसे ही स्पष्ट करते हैं –

१. वास्तव में संयमी लोगों की लोक में पूजा होती ही है – ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि पूजा आदि का संबंध यशस्कीर्ति आदि पुण्य प्रकृतिओं के उदय के साथ है, संयम के साथ नहीं है। लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कितने ही असंयमी, दुराचारी व्यक्ति भी पुण्योदय से पूजा, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान आदि प्राप्त करते रहते हैं और संयमी लोगों को आहारादि मिलना भी कठिन हो जाता है। कभी-कभी पूर्वपापोदय से अपमानित भी होना पड़ता है; अत: लोक में पूजा आदि प्राप्त करने की भावना से संयम धारण करना उचित नहीं है।

२. संयम आत्म-शांति का साधन होने से, इसे आत्म-शांति के लिए ही धारण किया जाता है। जैन इतिहास में कितने ही जीव ऐसे हैं जो सर्वोत्कृष्ट संयमी होकर, परिपूर्ण आत्म-शांति प्रगटकर मुक्त हो गए हैं; परन्तु हमें उनके नाम भी ज्ञात नहीं हैं। यहाँ विद्यमानता के समय भी उन्हें चारों ओर से घोर उपसर्ग-परिषहों का सामना करना पड़ा, तो भी वे संयम से च्युत नहीं हुए। – इससे यह सिद्ध है कि संयम आत्म-शांति के लिए धारण किया जाता है, लौकिक मान-सम्मान आदि प्राप्त करने के लिए नहीं।

३. वास्तविक संयम तो अपने त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा में संयमित होने, लीन होने का नाम है। जिसकी दृष्टि अभी बाह्य जगत की मान-प्रतिष्ठा में ही उलझ रही है, उसकी वृत्ति तीव्र कषायमय होने से, उसका आत्मस्वभाव में संयमित होना, लीन होना सम्भव ही नहीं है।

इसप्रकार मान-सम्मान की भावनावाले को तो संयम कभी होता ही नहीं है। जो जीव समस्त परपदार्थों से अत्यंत उदासीन-वृत्ति सम्पन्न होते हैं, वे ही संयम धारण करते हैं। कहा भी है – **साता की सहेली है, अकेली उदासीनता।**

४. संयम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् जिसने अपने अनंत वैभवसम्पन्न ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जान लिया है, मान लिया है, अपने लिए अपने से बढ़कर सम्पूर्ण विश्व में कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, मैं ही मेरे लिए एकमात्र सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हूँ – ऐसा जिसे श्रद्धान-ज्ञान हो गया है; वही जीव अपने से भिन्न सम्पूर्ण परपदार्थों के प्रति निरुत्सुक होकर, उनके प्रति राग-द्वेष से रहित सहज मध्यस्थ होकर, सहज ही अन्तरोन्मुखी वृत्ति हो जाने से स्वरूप लीन हो जाता है, संयमी, सम्यक्चारित्र सम्पन्न हो जाता है। उसे जगत से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है; अत: जगत की मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संयम धारण नहीं किया जाता है।

६. वास्तव में यथार्थ संयम, धारण नहीं किया जाता है; अपितु अपने अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न-स्वभाव के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसमें ही सहज, स्वाभाविक स्थिरता से स्वयं प्रगट हो जाता है; अत: बाह्य मान-प्रतिष्ठा आदि का उससे कोई संबंध ही नहीं है।

७. ख्याति, लाभ, पूजा आदि की भावना से बाह्य संयम आदि किसी भी क्रियाकाण्ड को ग्रहण करना, ज्ञानिओं की दृष्टि में संयम नहीं; अपितु गृहीत मिथ्याचारित्र है। गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व जबतक विद्यमान रहता है, तबतक यह जीव अनन्त-अनन्त दु:ख ही पाता है; सुखी नहीं हो सकता; अत: इस भावना से संयम धारण करना उचित नहीं है।

८. वास्तविक पूजा, प्रतिष्ठा, ख्याति, लाभ तो अरहंत-सिद्ध पद प्रगट होने पर होता है। वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान ही देवाधिदेव हैं, तीनलोक के नाथ हैं, सौ-सौ इन्द्रों से पूजित, त्रैलोक्यपूज्य हैं। यह प्रतिष्ठा पर से पूर्णतया निरपेक्ष होकर, परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरतारूप संयम/चारित्र/यथाख्यातचारित्र से प्रगट होती है; अत: सर्वोत्कृष्ट पूज्यता पाने के लिए उस पूज्यता का कोई भी विकल्प पूर्णतया छोड़कर, बाह्य क्रियाकाण्ड में नहीं उलझते हुए, स्वरूप में स्थिरता ही एकमात्र कर्तव्य है। इसप्रकार बाह्यदृष्टि से संयम धारण करना उचित नहीं है।

९. ज्ञानी की विचारधारा का वर्णन करते हुए 'सूक्ति मुक्तावली', पद्य १२ में कविवर पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जाकों भोग भाव दीसें कारे नाग के से फन।
राज को समाज दीखै जैसे राजकोप है॥
जाकों परवार को बढ़ाव घेरा बंध सूझे।
विषै सुख सौंज को बिचारे विषपौष है॥
लसै यों विभूति ज्यों भसमि को विभूति कहै।
वनिता विलास में विलोकै दृढ़ दोष है॥
ऐसौ जान त्यागै यह महिमा विरागता की।
ताही को वैराग सही ताके ढिग मोष है॥

तथा 'नाटक समयसार' बंधद्वार, पद्य (सवैया इकतीसा) १९ में आप इसे ही इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

कीचसौ कनक जाकै, नीचसौ नरेश पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोगजाति, कहरसी करामाति,
हहरसी हौंस पुद्गल छबि छारसी॥
जालसौं जगविलास भाल सौं भुवन वास,
कालसौं कुटुम्ब-काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौं सुजसु जाने बीठसौं बखत मानै।
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी॥

ज्ञानी जीव को लौकिक मान-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति, राज्यपद, प्रशंसा, कुटुम्ब, सुयश आदि की प्राप्ति अत्यंत हीन, तुच्छ भासित होती है। वह उनके प्रति सदैव उदास रहता है; तब फिर वह उनकी प्राप्ति के लिए संयम धारण कर अनन्त मिथ्यात्व के फल में अनन्तानन्त दु:खों को निमन्त्रित कैसे कर सकता है ? अत: ज्ञानी कभी भी लौकिक कामना से संयम धारण नहीं करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तो समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति टीका के कलश १४४ में यहाँ तक लिखते हैं –

"अचिन्त्यशक्ति: स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥

ज्ञानी/ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा स्वयं ही अचिन्त्यशक्ति संपन्न

देव है; चैतन्यमात्र चिन्तामणि है; जिसके माध्यम से समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है – ऐसे त्रैकालिक प्रभुता-संपन्न आत्मा को अपनत्वरूप से परिग्रहण/स्वीकार कर लेने के कारण ज्ञानी को अन्य किसी परिग्रह की आवश्यकता ही नहीं रहती है।''

इसप्रकार वह किसी वांछा से संयम धारण नहीं करता है, वरन् स्वरूप में संतुष्टि/तृप्ति के कारण संयमी हो जाता है।

१०. वास्तव में तो जो संयम दिखाई देता है, वह स्वयं में संयम है ही नहीं; वह तो शुभभावरूप मन्दकषाय या शुभप्रवृत्ति है; जिसे जिनागम में बंध का कारण या जड़ की क्रिया कहा गया है। इन दोनों से पृथक् ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में विशेष-स्थिरता वास्तविक संयम है। जो कि निष्कषायरूप शुद्धभाव है; बन्धन से रहित, मोक्ष का कारण है। यह वास्तविक संयम तो किसी का अनुकरण करने से प्रगट होता ही नहीं है। अनुकरण मात्र बाह्य प्रवृत्ति का ही हो सकता है, जो कदापि सुखमय या सुख का कारण नहीं हो सकता है; अत: कोई भी ज्ञानी तो ऐसा अनुकरण करता ही नहीं है। वह तो स्वरूप-स्थिरतापूर्वक आन्तरिक यथार्थ संयम प्रगट करने का, बढ़ाने का ही सतत पुरुषार्थ करता रहता है। उसीसमय कमजोरीवश स्वरूपलीन नहीं रह पाने के कारण बाह्य संयम भी प्रगट हो जाता है; परन्तु उसकी दृष्टि में उसका कुछ भी महत्त्व नहीं होता है; वह तो उसे अपना अपराध मानकर सतत नष्ट करने का ही प्रयास करता रहता है।

इसप्रकार पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से कभी भी संयम धारण नहीं किया जाता है।

इस संबंध में पण्डित दौलतरामजी की निम्नलिखित पंक्तिआँ गंभीरता-पूर्वक विचारणीय हैं –

''जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे-जे करनी तन करन छीन॥
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथ लाग।
जग जाल भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत! निज आतम सुपाग॥''

निष्कर्ष यह है कि यदि हम दु:खों से बचना चाहते हैं तो ख्याति, लाभ आदि की भावना से धारण किए गए संयमरूप सम्पूर्ण गृहीत मिथ्याचारित्रमय

मिथ्यात्वादि को छोड़कर, हमें अपने स्वभाव को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें पूर्णतया स्थिर होना चाहिए। यही एकमात्र संसार-परिभ्रमण के नाश का, सुखमय जीवन जीने का उपाय है। इससे ही पंच-परमेष्ठी पद प्रगट हो जाने से जगत में मान-प्रतिष्ठा भी अपनी योग्यता से सहज मिल जाती है।

धर्म-प्रभावना आदि के क्षेत्र में भी इसीप्रकार समझ लेना। संयम कभी भी इन कार्यों के लिए धारण नहीं किया जाता है। वास्तविक धर्म-प्रभावना तो आत्मस्वरूप-लीनता ही है। अन्य लोग भी इसी से प्रभावित होते हैं; मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं; अत: लोक में पूज्यपना प्राप्त करने के लिए संयम धारण करना अनुचित है।

प्रश्न १३ : मिथ्यात्व शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व शब्द मिथ्या और त्व – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। मिथ्या=विपरीत, उल्टा, असत्य, खोटा आदि; त्व=पना, भाव, स्वरूप आदि अर्थात् विपरीतपना, उल्टापना, असत्यपना मिथ्यात्व कहलाता है। जीव के संदर्भ में जीव की जिन-जिन पर्यायों में विपरीतता होती है; वे सभी पर्यायें मिथ्यात्व शब्द में समाहित हो जाती हैं। जैसे – श्रद्धा का विपरीतपना, मिथ्यादर्शन; ज्ञान का विपरीतपना, मिथ्याज्ञान; चारित्र का विपरीतपना, मिथ्याचारित्र। मोक्षमार्ग के प्रकरण में इन तीन का विपरीतपना और सम्यक्पना ही क्रमश: बन्ध और मोक्ष का कारण है; अत: 'मिथ्यात्व' शब्द कहने से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र – इन तीनों को समझ लेना चाहिए। इसीप्रकार 'सम्यक्त्व' शब्द कहने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों को समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार मिथ्यात्व शब्द में संसार की कारणभूत मिथ्यादर्शनादि तीनों ही पर्यायें गर्भित हो जाती हैं।

प्रश्न १४ : अज्ञानी जीव की समस्त क्रियाओं को अधर्म क्यों कहा जाता है? उसकी जितनी क्रियाएं अच्छी हैं, उन्हें तो धर्म कहना चाहिए?

उत्तर : धर्म वस्तु के स्वभाव को कहते हैं। जीववस्तु का स्वभाव ज्ञानानन्द है; अत: ज्ञानानन्दरूप परिणमन और तत्सम्बन्धी क्रियाएं ही जीव का धर्म है अर्थात् ज्ञानानंद स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप सम्यक्रत्नत्रय ही धर्म है; अथवा अहिंसा धर्म है।

जीव का धर्म जीव द्रव्य की क्रियाओं/पर्यायों में ही होता है; शरीरादि परपदार्थों की क्रियाओं/पर्यायों में नहीं। अज्ञानी जीव को यह ज्ञान नहीं होने के कारण वह शरीरादि कुछ विशिष्ट क्रियाओं को धर्म मान लेता है। आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से रागादि विकारीभावों की उत्पत्तिरूप भावहिंसा उसके अंदर सतत चलती रहती है; तदनुसार त्रस-स्थावर जीवों की हिंसारूप द्रव्यहिंसा भी हो जाती है; तथापि अज्ञानतावश वह उन सभी को धर्म मान बैठता है। उन्हें धर्म मानना ही अनन्त अगृहीत मिथ्यात्व का पोषक कुधर्मरूप गृहीत मिथ्यादर्शन है; जिससे वह वर्तमान में भी सतत आकुलित रहता है तथा आगामी दु:ख का कारणभूत बन्ध भी करता है।

धर्म तथा धार्मिक क्रियाएं तो सुखमय तथा सुख की कारण होती हैं। जिन क्रियाओं से तत्क्षण भी आकुलता भोगनी पड़े, आगे भी आकुलता भोगनी पड़े, वे क्रियाएं धर्म कैसे हो सकती हैं? अत: अज्ञानी की सभी क्रियाएं अधर्म हैं; अर्थात् अज्ञानदशा में आत्मश्रद्धान-ज्ञान से रहित हो पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में प्रवृत्ति करना तो अधर्म है ही; साथ ही पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का त्याग भी मोक्षमार्ग के संदर्भ में अधर्म ही कहलाता है; इसलिए जिनवाणी में अज्ञानी की बुरी-अच्छी सभी क्रियाओं को अधर्म/कुधर्म/मिथ्याचारित्र कहा गया है। ○○○

देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से धर्म किसप्रकार होगा ? इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्यागी होना योग्य है। वहाँ पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादि की मान्यता छोड़कर अरहन्त देवादि का श्रद्धान करना; क्योंकि यह श्रद्धान होने पर गृहीत मिथ्यात्व का तो अभाव होता है; मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले कुदेवादि का निमित्त दूर होता है तथा मोक्षमार्ग के सहायक अरहन्त देवादि का निमित्त मिलता है।

इसलिए पहले देवादि का श्रद्धान करना। फिर जिनमत में कहे जीवादि तत्त्वों का विचार करना, नाम-लक्षणादि सीखना; क्योंकि इस अभ्यास से तत्त्वार्थ श्रद्धान की प्राप्ति होती है। फिर आपा-पर का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है। फिर आप में अपनत्व मानने के अर्थ स्वरूप का विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक : आचार्यकल्प पं. टोडरमल

पाठ ५

मैं कौन हूँ ?

प्रश्न १ : मैं कौन हूँ ? इस विषय पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर : अनादिकाल से यह जीव अनादि-अनंत वैभवसंपन्न, ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा होने पर भी स्वयं को भूलकर अनंत दुःख भोग रहा है। वास्तव में वस्तु-स्वरूप की ओर से विचार करने पर दुःख का कहीं भी कोई भी कारण नहीं है; तथापि वास्तविक 'मैं' की पहिचान नहीं होने के कारण यह व्यर्थ ही अनन्त कष्ट सहता चला आ रहा है। जैसा कि ज्ञानिओं ने कहा है –

''मैं भ्रम्यो अपनपो बिसरि आप- - -।''

''मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।''

''अपनी सुधि भूलि आप, आप दुख उपायो।''

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु में दुःख का कोई भी कारण विद्यमान नहीं होने पर भी, अपनी अज्ञानतावश हम स्वयं को भूल जाने के कारण चारगति, चौरासी लाख योनिओं में भ्रमण करते हुए अनादिकाल से अनन्त दुःख भोगते आ रहे हैं। यदि इन दुःखों का अन्त करना है, तो इसका एकमात्र उपाय 'मैं' को/स्वयं को पहिचानना है।

वास्तविक 'मैं' को मैं रूप से नहीं पहिचान पाने के कारण हम अनादि से ही किन्हीं पर को 'मैं' रूप से स्वीकार करते आ रहे हैं। अनादि से ही किसी न किसी शरीर के संयोग में रहते आने के कारण हम शरीर को, उसकी अवस्थाओं को ही 'मैं' रूप से जानते-मानते आ रहे हैं। जैसे मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ इत्यादि; अथवा मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ इत्यादि; अथवा मैं पशु हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि।

परन्तु जब हम अपनी इन मान्यताओं पर गंभीरता से विचार करते हैं, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये सभी तो मात्र शरीर की ही अवस्थाएं हैं। शरीर-संबंधी ये अवस्थाएं जब नहीं थीं, तब भी मैं था; इन अवस्थाओं के समय भी मैं हूँ और इन अवस्थाओं के नष्ट हो जाने पर भी मैं बना रहता हूँ; तब फिर मैं इन अवस्थाओं रूप कैसे हो सकता हूँ? इन उत्पन्न-नष्ट होनेवाली अवस्थाओं

के बीच भी सदा विद्यमान रहने के कारण मैं शरीर या शरीर सम्बन्धी अवस्थारूप बालक, स्त्री, मनुष्यादि नहीं हूँ।

सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्यादि अवस्था प्राप्त करने पर पुण्य-पाप आदि कर्मोदय से अन्य विविध संयोग भी हमें बारम्बार प्राप्त होते रहते हैं। स्वयं को नहीं पहिचानने के कारण अज्ञानतावश हमने स्वयं को उनरूप भी माना। जैसे धन के संयोग-वियोग से स्वयं को धनी-निर्धन माना; पत्नी के संयोग से पति, पति के संयोग से पत्नी, सन्तान के संयोग से माता-पिता माना इत्यादि।

परन्तु जब हम इन मान्यताओं पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि ये संयोग तो स्पष्टतया क्षणिक/नाशवान हैं। इन संयोगों के पूर्व भी मैं था, इन संयोगों के समय भी मैं हूँ और इन संयोगों के नष्ट हो जाने पर भी मैं सदा विद्यमान रहता हूँ। दूसरी बात यह भी तो है कि ये संयोग तो विशेषतया मनुष्यादि अवस्थाओं में ही प्राप्त होते हैं, एकेन्द्रियादि अवस्थाओं में ये नहीं थे; परन्तु मैं तो उस समय भी विद्यमान था; तब फिर ये मैं कैसे हो सकता हूँ?

कभी-कभी कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से अनेक विषयों सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान भी हमें प्रगट हुआ; तब अज्ञानतावश हमने इसरूप भी स्वयं को माना। जैसे – धर्मशास्त्रों का ज्ञान हो जाने से स्वयं को विद्वान माना, डॉक्टरी के ज्ञान से स्वयं को डॉक्टर माना इत्यादि। कभी-कभी कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होने से ज्ञान का विकास नहीं होने पर स्वयं को मूर्ख/अज्ञानी माना; परन्तु कभी गंभीरता से यह विचार नहीं किया कि जब ये ज्ञान विकसित नहीं हुए थे, तब मैं था या नहीं? यदि उस समय भी मैं विद्यमान था, इन विशिष्ट ज्ञानों के समय भी मैं विद्यमान हूँ तथा इन ज्ञानों के नष्ट हो जाने पर भी मैं रहूँगा; तब फिर मैं इनरूप कैसे हो सकता हूँ? वास्तव में तो ये सभी परलक्ष्यी/क्षणिक/विनाशीक ज्ञान हैं; मैं इनरूप नहीं हूँ।

इसीप्रकार स्वयं को भूल जाने के कारण अनादि से चले आए मोह, राग, द्वेष आदि विकारीभावरूप परिणमन में भी 'मैं' पने की पहिचान की। जैसे मैं मोही, मैं रागी, मैं क्रोधी इत्यादि। इस मान्यता पर भी गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि क्षणिक, पराधीन, दुःखमय, दुःख के कारण और हीनाधिक रूपवाले ये विकारीभाव मैं कैसे हो सकता हूँ ? कोई विशिष्ट रागादि

उत्पन्न होने के पूर्व भी मैं था, उत्पन्न होने के समय भी मैं विद्यमान हूँ तथा उसके नष्ट हो जाने पर भी मैं सदा विद्यमान रहता हूँ, तब मैं ये सब कैसे हो सकता हूँ? वास्तव में मैं सदा ही इन सभी से पूर्णतया पृथक् हूँ।

यह कितना आश्चर्यजनक तथ्य है कि अन्य की खोज में स्वयं को ही भूल जानेवाला यह जीव स्वयं को भूलकर अनन्त दु:ख भोग रहा है। खोजनेवाला स्वयं को/खोजनेवाले को ही भूल गया है। अन्य की सम्हाल करने में व्यस्त जीव स्वयं को पहिचानने के लिए समय भी नहीं निकाल पाता है।

जिसप्रकार व्यक्ति के मन में संकुचित भावनाएं दृढ़ता से घर कर जाने पर वह विशालता को भूल जाता है, प्रान्त में अपनत्व की अधिकता हो जाने पर व्यक्ति राष्ट्र को भूल जाता है; उसीप्रकार जब यह आत्मा पर्यायों में अपनत्व करके दृढ़ता से उनरूप ही अपनी प्रतीति करने लगता है; तब त्रैकालिक ज्ञानानन्द स्वभावी 'मैं' को वास्तविक 'स्व'/'मैं' रूप से नहीं पहिचान पाता। इस 'मैं' को 'मैं' रूप से पहिचानने के लिए एक बार तीव्रतम आन्तरिक जिज्ञासा/उत्सुकता आतुरतापूर्वक उत्पन्न होना चाहिए कि वास्तव में 'मैं कौन हूँ'? यदि इस प्रश्न के समाधान की वास्तविक जिज्ञासा जागृत हुई, तो इस प्रश्न का उत्तर मिलना कठिन नहीं है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हुआ कि 'मैं' का वाच्यार्थ आत्मा शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि स्पष्ट परसंयोगी पदार्थों से तो अत्यन्त भिन्न है ही; आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेषादि विकारीभाव भी इस 'मैं' की सीमा में नहीं आते हैं। इतना ही नहीं, परलक्ष्यी विद्वत्ता आदि रूप क्षायोपशमिक ज्ञान भी परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी इस 'मैं' की सीमा में नहीं आता है। ये सभी तो दूर ही रहो; इस 'मैं' के वाच्य में तो इस त्रैकालिक ज्ञानानन्द स्वभावी 'मैं' को 'मैं' रूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही लीनता से उत्पन्न हुई स्वलक्ष्यी, अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानादि अल्प विकसित, संवर-निर्जरारूप क्षायोपशमिक, औपशमिक भावमय पर्यायें तथा केवलज्ञानादि पूर्ण विकसित मोक्षरूप क्षायिक भावमय पर्यायें भी प्रवेश नहीं कर पाती हैं; अर्थात् यह समस्त पर, पर्यायों और भेदभावों से पार है।

वस्तुत: यह 'मैं' का वाच्यभूत आत्मा अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है। यह मात्र स्वानुभवगम्य है। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि नहीं होने से, यह इन्द्रियगम्य नहीं है। निर्विकल्प तत्त्व होने से, इसे विकल्पों द्वारा भी

ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार यह ज्ञानगम्य/अनुभवगम्य होने से, इसे बहिर्लक्ष्यी दौड़-धूप से, पंचेन्द्रियों से, वाणी या लेखनी से तथा मानसिक विकल्पों से भी नहीं पाया जा सकता है। इसे प्राप्त करने का प्रारंभिक उपाय एकमात्र तत्त्वविचार है; परन्तु वास्तव में इसका अनुभव/आत्मानुभव अपनी प्रारंभिक भूमिका तत्त्वविचार का भी अभाव करता हुआ व्यक्त होता है।

इसप्रकार आत्मानुभव प्रगट करने के लिए 'मैं आत्मा हूँ' – यह धारणा दृढ़ होनी चाहिए। अनुभवगम्य 'मैं' का वाच्यभूत यह आत्मा ज्ञान का घन-पिण्ड, आनन्द का कन्द है। परभावों से पूर्णतया सदा भिन्न और ज्ञानादि-भावों से पूर्णतया अभिन्न होने के कारण सदा शुद्ध है। अनादि-अनंत, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड होने से त्रिकाल एक है। स्वयं में पूर्णतया परिपूर्ण होने से, इसे न तो पर से कुछ लेना है और न ही पर को कुछ देना है। इसप्रकार पर के सहयोग की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं होने के कारण, वाग्विलास और शब्दजाल से भी पूर्णतया, भिन्न, पर से पूर्णनिरपेक्ष, एकमात्र अनुभवगम्य परिपूर्ण तत्त्व है।

इसप्रकार 'मैं' का वाच्यभूत आत्मा अनुभूति द्वारा प्राप्त होनेवाला समाधान है, अपने में ही विद्यमान प्रगट ज्ञान द्वारा जानने की वस्तु है; वचनों द्वारा व्यक्त करने-योग्य या लेखनी द्वारा लिखने-योग्य वस्तु नहीं है। वाणी और लेखनी की तो इस सन्दर्भ में मात्र इतनी ही उपयोगिता है कि वे आत्मा की ओर संकेत कर सकती हैं; दिशा-निर्देश कर सकती हैं, आत्मानुभवरूप दशा प्राप्त करा देना उनके वश की बात नहीं है; वे इसमें असमर्थ हैं।

यह निर्विकल्प, अनिर्वचनीय/अकथनीय, शाश्वत, एक, शुद्ध, अनन्त वैभवसम्पन्न ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा ही मैं हूँ; इससे पृथक् अन्य कुछ भी मैं नहीं हूँ। इस 'मैं' को 'मैं रूप' से जानकर, पहिचानकर, इस 'मैं' में ही समा जाना/तद्रूप हो जाना/तादात्म्य हो जाना, निरपराधदशा है। यही अतीन्द्रिय आनन्दमय, निराकुल, निश्चिन्त, सन्तुष्टिकारक, तृप्तिकारक सुखमय दशा है।

समस्त संकल्पों-विकल्पों को छोड़कर, इस दिशा में पुरुषार्थ करना ही सच्चा पुरुषार्थ है तथा इस दशा को प्रगट कर लेना ही जीवन की सार्थकता है। इसे प्राप्त कर लेने में ही मनुष्यजन्म की उपयोगिता है, सफलता है।

प्रश्न २ : 'मैं' शब्द का वाच्यभूत आत्मा क्या-क्या नहीं है? अर्थात् वह किन-किनसे भिन्न है?

उत्तर : 'मैं' शब्द का वाच्यभूत आत्मा शरीर और शरीरसापेक्ष बालक-जवान आदि, पुरुष-स्त्री आदि, मनुष्य-तिर्यंच आदि सम्पूर्ण अवस्थाओं से भिन्न है। इसीप्रकार अन्य स्त्री, पुत्र, मकान, धन आदि संयोगी पदार्थों से भी पूर्णतया भिन्न है।

यह मन, वचन, कायरूप समस्त बहिर्वृत्तिओं के समान ही मोह, राग, द्वेष, परलक्ष्यी बुद्धि आदि अपने में ही उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण विकारीभावों से भी पूर्णतया भिन्न है।

इसीप्रकार आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि रूप क्षायोपशमिकभावों, औपशमिकभावों से भी सर्वथा भिन्न है तथा परिपूर्ण विकसित केवलज्ञानादि क्षायिकभावों से भी पूर्णतया भिन्न है।

तात्पर्य यह है कि यह 'मैं' शब्द का वाच्यभूत आत्मा अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर शेष समस्त परपदार्थों तथा विकारी, अविकारी, अल्पविकसित, अर्ध विकसित, पूर्ण विकसित सभी पर्यायों से; भेद-भावों से पूर्णतया भिन्न है।

प्रश्न ३ : 'मैं' शब्द का वाच्यभूत आत्मा कैसा है?

उत्तर : 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा अनादि-अनन्त, ज्ञानादि अनन्तानन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। त्रिकाली, ज्ञानानन्द स्वभावी, स्व-सम्वेद्य, अनुभवगम्य, ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकन्द, भगवत् स्वरूप, चिदेश्वर है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द आदि से सर्वथा रहित होने के कारण वाग्विलास, शब्दजाल से सर्वथा रहित, इन्द्रियातीत, विकल्पा-तीत, अतीन्द्रिय महापदार्थ है। आत्मा तो बस आत्मा ही है। मैं तो मैं ही हूँ, उपमातीत हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी मैं नहीं हूँ।

प्रश्न ४ : 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा की शुद्धता, एकता और परिपूर्णता क्या है?

उत्तर : 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा की परभावों से पूर्ण भिन्नता और ज्ञानादि स्वभावों से पूर्ण अभिन्नता ही शुद्धता है। अनादि-अनंत अनन्तानन्त गुणों की सतत अखण्डता/एकरूपता ही इसकी एकता है। स्वयं में कुछ भी कमी नहीं होने से तथा अन्य को देने-योग्य अपने में कुछ भी अधिक नहीं होने से, पर के प्रति पूर्णतया निरपेक्षता ही आत्मा की परिपूर्णता है।

इसप्रकार आत्मा शुद्ध, एक, परिपूर्ण तत्त्व है।

प्रश्न ५ : 'मैं' के वाच्यभूत आत्मा को प्राप्त करने का क्या उपाय है ?

उत्तर : 'मैं' के वाच्यभूत आत्मा को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तो एकमात्र तत्त्वविचार है; परन्तु वास्तव में तो इस आत्मा का अनुभव इस प्रारम्भिक उपायरूप तत्त्वविचार का भी अभाव करता हुआ प्रगट होता है; अतः इसे प्राप्त करने का वास्तविक उपाय तो एकमात्र आत्मानुभव ही है।

त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञानानन्द स्वभावी, निजभगवान आत्मा को अपनत्व रूप से जानकर, मानकर, उसमें ही समस्त पर्यायों का लीन हो जाना/तन्मय हो जाना/तद्रूप हो जाना ही उसकी प्राप्ति है; स्वानुभवगम्य, अतीन्द्रिय आनंदमय, आत्मानुभूतिरूप दशा है।

प्रश्न ६ : 'मैं' का वाच्यभूत आत्मा किन-किन साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता?

उत्तर : 'मैं' का वाच्यभूत आत्मा सम्पूर्ण परपदार्थों से पूर्णतया भिन्न होने के कारण किसी भी बहिर्लक्ष्यी दौड़-धूप से प्राप्त नहीं होता है। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द आदि इन्द्रियों के विषयभूत तत्त्व नहीं होने के कारण यह इन्द्रियगोचर भी नहीं है। शब्दातीत, वचनातीत होने से यह वाणी या लेखनी का विषय भी नहीं है। अनादि-अनन्त, स्वतंत्र, स्वाधीन, अनन्त शक्तिसम्पन्न, अखण्ड, स्वतःसिद्ध सत्तामय निर्विकल्प तत्त्व होने से विकल्पातीत यह तत्त्व चिन्तन-मननरूप मानसिक विकल्पों का भी विषय नहीं है।

स्व-सम्वेद्य होने के कारण यह एकमात्र अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मज्ञान/अतीन्द्रिय ज्ञान/आत्मानुभव का ही विषय है; अर्थात् यह एकमात्र स्वसम्वेदन द्वारा ही प्राप्त होता है। ○○○

अक्षय है शाश्वत है आत्मा...

बाह्य जगत कुछ भी नहिं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें ॥२४॥
अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥२६॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत तिय मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे ॥२७॥

पाठ ६

ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत (पंचम गुणस्थानवर्ती)

प्रश्न १ : व्रती श्रावक किसे कहते हैं?

उत्तर : सम्पूर्ण परपदार्थों, पर्यायों और भेद-भावों से भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें लीन होने से मिथ्यात्व; अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप विकारीभावों के उदय का अभाव हो जाने के कारण, स्वत: सहजरूप देशचारित्रमय वीतरागता/आत्मशुद्धि व्यक्त हो जाने से तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारीभावों का सद्भाव होने के कारण अहिंसाणुव्रत आदि बारहव्रत पालन करनेरूप शुभभाव विद्यमान होने से शुद्धाशुद्ध मिश्रितदशा संयुक्त जीव को व्रती श्रावक कहते हैं।

इसमें से आत्म-स्वरूप को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही लीनतारूप प्रगट आत्मशुद्धिमय वास्तविक व्रत/पापों से विरति, यथार्थ आनंदमय, निर्बन्धदशा होने से निश्चय देशचारित्र/देशसंयम या निश्चयव्रत है तथा शेष अशुद्धि की विद्यमानता में होनेवाले अहिंसाणुव्रत आदि बारह व्रतरूप शुभभाव तथा तदनुसार होनेवाली शरीरादि की प्रवृत्ति क्रमश: मन्दकषाय और जड़ की क्रिया होने से वास्तविक व्रत नहीं होने पर भी, उपर्युक्त शुद्धता के निमित्त और सहचारी होने से, ये उपचार से व्यवहारव्रत कहलाते हैं।

इसप्रकार व्रती श्रावक के जीवन में शुद्धि और अशुद्धि – इन दोनों की मिश्रदशा एक साथ पाई जाती है। इस दशा से सहित जीव को ही व्रती श्रावक कहते हैं तथा ये व्रत आदि श्रावक के व्रत कहलाते हैं।

प्रश्न २ : व्रत की परिभाषा में आए हुए मिथ्यात्वादि को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : व्रत की परिभाषा में मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी क्रोधादि, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि और संज्वलन क्रोधादि – ये पाँच शब्द आए हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है –

१. **मिथ्यात्व/मिथ्यादर्शन** – अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं करने के कारण दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के समय होनेवाली जीवादि तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यता को/आत्मा को अपनत्व-रूप से नहीं माननेवाली विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व/मिथ्यादर्शन कहते हैं।

२. **अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषाय** – अनन्तानुबंधी शब्द अनन्त और अनुबंधी – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। अनन्त=अन्त से रहित/असीम परपदार्थों में एकत्व करनेवाले मिथ्यात्व के साथ, अनुबंधी=संबंध रखने वाली कषाय अनन्तानुबंधी कषाय कहलाती है। अनन्त दुःख को/अनन्त संसार को बढ़ानेवाली कषाय अनन्तानुबंधी कषाय है।

अनन्तानुबंधी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के समय स्वरूप-स्थिरता के अभाव में होनेवाले क्रोधादि विकारीभावों को अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय कहते हैं।

इस कषाय के सद्भाव में इसकी पंचेन्द्रिय विषयों में, कषायों में अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षणरूप तथा तत्त्व-अप्रतिपत्तिमय प्रवृत्ति होती है।

३. **अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय** – यह शब्द अ, प्रत्याख्यान और आवरण – इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। अ=नहीं, प्रत्याख्यान=त्याग, आवरण=ढ़कना अर्थात् जिन क्रोधादि कषायों के सद्भाव में रंचमात्र भी त्याग नहीं हो पाता है, विशेष स्वरूप-स्थिरता नहीं हो पाती है, देश-चारित्र भी प्रगट नहीं हो पाता है, उन कषायों को अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायें कहते हैं।

विशेष आत्म-स्थिरता के अभाव में एकदेशचारित्र प्रगट नहीं होने देने में निमित्तभूत अप्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में होने-वाले विकारीभावों को अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय कहते हैं।

इस कषाय के सद्भाव में देशचारित्र, एकदेशसंयम, बारहव्रत, ग्यारह प्रतिमाएं नहीं हो पाती हैं।

४. **प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय** – यह शब्द प्रत्याख्यान और आवरण – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रत्याख्यान=त्याग/परिपूर्ण त्याग, आवरण=ढ़कना अर्थात् जिस कषाय के सद्भाव में विषय-कषायों का

एकदेश त्याग हो जाने पर भी प्रचुर स्वरूपस्थिरता नहीं होने के कारण पूर्ण त्याग नहीं हो पाता है, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय है।

प्रचुर आत्मस्थिरता के अभाव में सकलचारित्र प्रगट नहीं होने देने में निमित्तभूत प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में होने वाले विकारीभावों को, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं।

इस कषाय के सद्भाव में सकलसंयम, सकलचारित्र, महाव्रत आदि नहीं हो पाते हैं।

५. संज्वलन क्रोधादि कषाय – यह शब्द भी सं, ज्वलन – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। सम्=अच्छी प्रकार से/भली-भाँति, ज्वलन= जलनेवाली अर्थात् जो कषाय सकलसंयम के साथ भी भलीभाँति जलती रहे, विद्यमान रहे अथवा जिसके सद्भाव में सकलसंयम के साथ रहनेवाले महाव्रतादि रूप शुभभाव विशेषरूप से प्रज्वलित रहें/प्रकाशित रहें, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

परिपूर्ण आत्मस्थिरता के अभाव में यथाख्यातचारित्र प्रगट नहीं होने देने में निमित्तभूत संज्वलन क्रोधादि चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले विकारीभावों को संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय कहते हैं।

इस कषाय के सद्भाव में यथाख्यातचारित्र, पूर्ण वीतरागता, परिपूर्ण निर्ग्रन्थता नहीं हो पाती है।

इसप्रकार यह व्रत की परिभाषा में आए मिथ्यात्वादि का संक्षिप्त स्वरूप हुआ।

प्रश्न ३ : श्रावक के व्रत किसे कहते हैं, वे कितने हैं ? नाम सहित लिखिए।

उत्तर : मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण के अभाव में प्रगट हुई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और एकदेश सम्यक्चारित्ररूप वीतरागता-संपन्न तथा प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि के सद्भाव में होनेवाले अणुव्रत आदिरूप शुभभाव-संपन्न दशा को श्रावक के व्रत कहते हैं। ये मुख्यरूप से तीन प्रकार के हैं – अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत।

१. अणुव्रत – सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक हिंसादि पाँच पापों के एक-देश त्यागरूप शुभभावसहित आंशिक वीतरागता, अणुव्रत है। पाँच व्रतों के त्याग की अपेक्षा ये पाँच प्रकार के हैं – अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रम्हचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणव्रत।

२. **गुणव्रत** – श्रावक की भूमिका में प्रगट एकदेश वीतरागता की सुरक्षा करनेवाले, उसमें विशेषता लानेवाले और वृद्धि करनेवाले व्रत, गुणव्रत हैं। ये तीन हैं – दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत।

३. **शिक्षाव्रत** – श्रावकदशा का भी उल्लंघन कर पूर्ण संयमी बनने के लिए, प्रगट वीतरागता में विशेष वृद्धि के कारणभूत महाव्रत आदि का अभ्यास कराने में सक्षम व्रत, शिक्षाव्रत कहलाते हैं। ये चार हैं – सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभागव्रत।

इन व्रतों को हम निम्नलिखित चार्ट द्वारा स्पष्टतया समझ सकते हैं –

ज्ञानी श्रावक के बारह व्रत

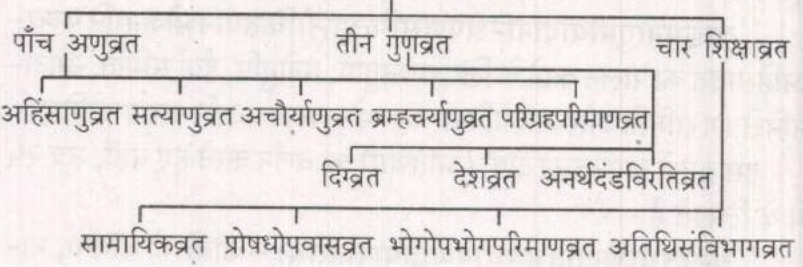

प्रश्न ४ : अहिंसाणुव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक हिंसा पाप के स्थूल त्यागरूप शुभभाव सहित एकदेश वीतरागता, अहिंसाणुव्रत है।

आत्मपरिणामों में रागादि विकारीभावों की उत्पत्ति होना, भावहिंसा है। उसका निमित्त पाकर अपने या अन्य जीवों के द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्य-हिंसा है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से, इन तीन संबंधी मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों की उत्पत्ति नहीं होने के कारण आत्मा की इन संबंधी हिंसा तो नहीं होती है; परन्तु प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन आदि विकार का उदय होने से उन संबंधी रागादिभावों की उत्पत्ति होने के कारण उतने अंशों में आत्मा की हिंसा हो रही है। इस हिंसा-अहिंसा रूप मिश्रदशा को अहिंसाणुव्रत कहते हैं।

इसे अन्य शब्दों में इसप्रकार कह सकते हैं – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-पूर्वक मन, वचन, काय संबंधी कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्पपूर्वक दो इन्द्रियादि त्रस जीवों का घात नहीं करना, अहिंसाणुव्रत है।

संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसाओं में से यह व्रती श्रावक संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्यागी होता है। एकदेश व्यक्त वीतरागता के कारण सहजरूप से ही इसे उसप्रकार का भाव ही उत्पन्न नहीं होता है; परन्तु शेष कषायें विद्यमान होने से, यथाशक्ति अन्य हिंसाओं से बचने का पुरुषार्थ करने पर भी, यह उद्योगी आदि हिंसाओं से बच नहीं पाता है। यह हिंसा-अहिंसा का मिश्र परिणाम ही अहिंसाणुव्रत है।

आचार्य उमास्वामीदेव ने तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ४ में इस व्रत का विधिवत पालन करने के लिए पाँच भावनाएं या पाँच प्रकार से सावधानी पूर्वक प्रवर्तन करने का उपदेश दिया है। वह इसप्रकार है –

''**वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च**– अहिंसाव्रत का पालन करने के लिए वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान-भोजनरूप प्रवर्तन करना चाहिए।''

इस व्रत में लगनेवाले दोषों/अतिचारों का वर्णन करते हुए वहीं, सूत्र २५ में वे लिखते हैं –

''**बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधः** – जीवों को बाँधना, मारना, छेदना, उन पर शक्ति से अधिक भार लादना तथा उन्हें समयानुसार भोजन-पान नहीं देना इत्यादि भावों, क्रियाओं से अहिंसा अणुव्रत दूषित होता है/मलिन होता है।''

प्रश्न ५ : हिंसा के संकल्पी आदि चारों भेदों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में तो आत्मा में रागादि विकारीभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। यह सभी विषय-कषायी जीवों के सदा विद्यमान रहती है। इसे ही निमित्त की अपेक्षा चार भेदों में विभक्त किया जाता है। वह इसप्रकार –

१. **संकल्पी हिंसा** – स्व-पर संबंधी दयापरिणाम से रहित हो संकल्पपूर्वक किन्हीं जीवों के प्राणघात करने को संकल्पी हिंसा कहते हैं। अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करनेवाली यह हिंसा मात्र निर्दय, क्रूर परिणामों से ही की जाती है। व्रती श्रावक इस हिंसा का बुद्धिपूर्वक/प्रयत्नपूर्वक पूर्णतया त्यागी होता है।

२. **उद्योगी हिंसा** – गृहस्थावस्था में आजीविका के लिए धनादि का उपार्जन करते समय दयापरिणामपूर्वक सावधानी से काम करने पर भी हो जाने

वाली हिंसा, उद्योगी हिंसा है। व्रती श्रावक रंचमात्र भी जीवों को मारना नहीं चाहता है। वह तो पूर्णतया विवेक जागृत रखते हुए, सावधानीपूर्वक प्रवर्तन कर, तीव्र आकुलता से बचने के लिए विधिवत अपनी गृहस्थी-संचालन के उद्देश्य से धनोपार्जन करता है; इसमें न चाहते हुए भी जीवघात हो ही जाता है, वह उद्योगी हिंसा है। प्रचुर वीतरागता का अभाव होने से यह उसका त्याग नहीं कर पाता है।

३. आरम्भी हिंसा – यत्नाचारपूर्वक दयापरिणामसहित, गृहस्थी के काम करते हुए, न चाहते हुए भी हो जानेवाली हिंसा, आरम्भी हिंसा है। किन्हीं भी जीवों को कष्ट देने, मारने की रंचमात्र इच्छा नहीं होने पर भी चूल्हा जलाना, चक्की चलाना, स्वच्छता आदि करना इत्यादि कार्य किए बिना गृहस्थी में रह पाना सम्भव नहीं हो पाने के कारण यद्यपि वह इन कार्यों को पूर्णतया विवेक जागृतकर, सावधानीपूर्वक करता है; तथापि इन कार्यों से जीव हिंसा होती है; यह आरम्भी हिंसा है। व्रती श्रावक इसका त्याग नहीं कर पाता है।

४. विरोधी हिंसा – दयापरिणामपूर्वक स्व-पर की अहिंसा के प्रति सतत सावधान रहने पर भी अपने परिवार-कुटुम्बिओं पर अथवा धर्म और धर्मायतनों पर होनेवाले आक्रमणों से उनकी सुरक्षा के लिए, नहीं चाहते हुए भी प्रसंगवश हो जानेवाली हिंसा, विरोधी हिंसा है। अपनी कमजोरी वश व्रती श्रावक इसका भी त्यागी नहीं हो पाता है।

इसप्रकार निमित्त की अपेक्षा हिंसा के चार भेद हैं।

प्रश्न ६ : अहिंसाणुव्रत के सन्दर्भ में हिंसा-अहिंसा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आत्मा में कषायभाव उत्पन्न होने से आत्मा के उपयोग की शुद्धता और सुख-शांति का घात होना ही वास्तविक हिंसा है। इसे ही भावहिंसा कहते हैं। इन कषायभावों के निमित्त से अपने या अन्य के द्रव्यप्राणों का घात होना, द्रव्यहिंसा है। आत्मा में रागादि विकारीभावों की उत्पत्ति नहीं होने से उसकी शुद्धता और सुख-शांति का घात नहीं होना ही, वास्तविक या भाव अहिंसा है तथा अन्य जीवों को नहीं मारना, कष्ट नहीं देना आदि द्रव्य अहिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

आत्मा में रागादि विकारी भावों की उत्पत्ति नहीं होना, अहिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति होना ही, हिंसा है। हिंसा-अहिंसा के संबंध में यह सम्पूर्ण जिनागम का सार है।''

विशिष्ट रागादि विकारी भावों के अभाव में समीचीन आचरण करते हुए, सावधानीपूर्वक चलते हुए किसी व्यक्ति के माध्यम से अनायास किसी जीव का घात हो जाने पर भी उसे तत्संबंधी हिंसापाप नहीं होता है। इससे विपरीत अंतरंग कषायभावों के सद्भाव में असमीचीन आचरण करनेवाले, असावधानी पूर्वक चलनेवाले किसी व्यक्ति के माध्यम से एक भी जीव का घात नहीं होने पर भी उसे तत्संबंधी हिंसापाप लगता है।

निष्कर्ष यह है कि हिंसा-अहिंसा का संबंध वास्तव में प्राणिओं के मरने या नहीं मरने से नहीं है; वरन् रागादिभावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है। अहिंसाव्रत का पालन करने के लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है।

प्रश्न ७ : संकल्पी आदि चार प्रकार की हिंसाओं का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यद्यपि ये चारों भेद हिंसामय होने से हिंसा ही हैं; तथापि इनमें कुछ पारस्परिक अन्तर भी है। वह इसप्रकार –

संकल्पी हिंसा	उद्योगी हिंसा
१. संकल्पी हिंसा में एक मात्र क्रूर परिणाम, दयारहित परिणाम ही मुख्य होते हैं।	उद्योगी हिंसा में विधिवत गृहस्थी चलाने के लिए धनार्जन करना मुख्य होता है।
२. इसमें निष्कारण, जान-बूझकर, इच्छा पूर्वक जीवों को मारना ही मुख्य है।	इसमें जीवों की हिंसा हो जाने पर भी उन्हें मारने का भाव रंचमात्र नहीं है।
३. ये भाव अधिक से अधिक चतुर्थगुणस्थान पर्यन्त हो सकते हैं।	ये भाव देशविरत नामक पंचमगुणस्थान पर्यन्त चल सकते हैं।
४. इस हिंसापरिणाम की विद्यमानता में शेष हिंसापरिणाम नियम से रहते हैं।	ये परिणाम संकल्पी-हिंसावाले भावों के बिना भी रहते हैं।

प्रश्न ८ : सत्याणुव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक एकदेश प्रगट वीतरागता-सम्पन्न जीव के प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायादि के उदय के सद्भाव में प्रमादपूर्वक स्थूल असत्य नहीं बोलने का भाव, सत्याणुव्रत है। सत्याणुव्रती जीव स्वयं के या अन्य के जीवन को संकट में डालनेवाले वचन न तो स्वयं बोलता है और न अन्य से बुलवाता है। कभी भी सत् के अपलाप, असत् के उद्भावन, अन्यथाप्ररूपण और गर्हितवचन रूप शब्दों का प्रयोग नहीं करता है। स्वयं के धर्म की हानि, परिवार/कुटुम्ब की हानि; समाज, प्रान्त, देश, राष्ट्र की हानि करने में कारणभूत वचन भी वह कभी भी नहीं कहता है।

सत्याणुव्रतधारी के वचन जिनागम के अनुकूल, वीतरागतापोषक, स्व-पर हितकारक, बहुप्रलापरहित, प्रामाणिक, न्याय-नीति के अनुरूप होते हैं। इसप्रकार कष्टकारक स्थूल असत्य का त्यागी होने से यह सत्याणुव्रत है।

इस व्रत के विधिवत परिपालन के लिए आचार्य उमास्वामी ने वहीं, सूत्र ५ में इन पाँच भावनाओं का वर्णन किया है –

''क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च –

सत्यव्रत पालन करने के लिए क्रोध, लोभ, भीरुत्व और हास्य →→→→

आरम्भी हिंसा	विरोधी हिंसा
१. आरम्भी हिंसा में अपना जीवन-यापन करने के लिए घर के काम-काज करना मुख्य होता है।	विरोधी हिंसा में अपना, कुटुम्बिओं का, धर्म और धर्मायतनों का संरक्षण करना मुख्य है।
२. इसमें जीवों की हिंसा हो जाने पर भी, मारने का भाव रंचमात्र नहीं है।	इसमें जीवों की हिंसा हो जाने पर भी उन्हें मारने का भाव रंचमात्र नहीं है।
३. ये भाव देशविरत नामक पंचम-गुणस्थान पर्यन्त चल सकते हैं।	ये भाव देशविरत नामक पंचमगुण-स्थान पर्यन्त चल सकते हैं।
४. ये परिणाम संकल्पी-हिंसावाले भावों के बिना भी रहते हैं।	ये परिणाम संकल्पी हिंसावाले भावों के बिना भी रहते हैं।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन हिंसाओं में पारस्परिक अंतर है।

←← का त्याग करना चाहिए तथा निरंतर अनुवीचिभाषण अर्थात् जिनागम की परम्परानुसार कथन करना चाहिए।''

इन्हें सतत ध्यान में रखने से, इनरूप प्रवर्तन करने से, इनकी भावना भाने से सत्यव्रत का विधिवत पालन होता है।

इस व्रत के अतिचारों/दोषों का वर्णन करते हुए वहीं, सूत्र २६ में वे लिखते हैं –

''**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः–** मिथ्या उपदेश देना, किन्हीं की गुप्त चेष्टाओं को देखकर या सुनकर अन्य को बता देना, कूटलेख लिखना, न्यास/धरोहर आदि का अपहरण करना और साकार मंत्रभेद अर्थात् संकेत द्वारा की जानेवाली अन्य से अन्य की बातों को, उसका कार्य बिगाड़ने के उद्देश्य से अन्य को बता देना, चुगली करना आदि रूप में प्रवृत्ति करना, इस रूप भाव करना सत्याणुव्रत को दूषित करता है, मलिन करता है; अतः सत्याणुव्रत के निर्दोष पालन-हेतु इन प्रवृत्तिओं, क्रियाओं, भावों से बचना चाहिए।''

प्रश्न ९ : सत् का अपलाप आदि असत्य के चारों भेदों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वैसे तो असत्य पाप पाप ही है। पाप में किसी भी प्रकार के भेद की सम्भावना नहीं होती है; तथापि निमित्त, विषय आदि की अपेक्षा उसके भेद हो जाते हैं। इसी अपेक्षा असत्य के चार भेद हैं – सत् का अपलाप, असत् का उद्भावन, अन्यथा प्ररूपण और गर्हितवचन।

१. सत् का अपलाप – वस्तु की विद्यमानता होने पर भी उसे अविद्यमान कहना, सत् का अपलाप है। जैसे स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी जीव होने पर भी यह कहना – क्योंकि हमें जीव दिखाई नहीं देता है; इसलिए 'हम जीव हैं' – ऐसा कैसे स्वीकार किया जाए ? इत्यादि प्रकार से स्वचतुष्टयात्मक वस्तु विद्यमान होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करना, 'सत् का अपलाप' नामक असत्य पाप है।

२. असत् का उद्भावन – पदार्थ नहीं होने पर भी उसे स्वीकार करना अर्थात् अविद्यमान पदार्थ को विद्यमान कहना, असत् का उद्भावन है। जैसे शरीरादि परपदार्थ अपने नहीं होने पर भी उन्हें अपने कहना, 'असत् का उद्भावन' नामक असत्य पाप है।

३. **अन्यथाप्ररूपण** – वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे वैसा नहीं बताकर अन्यरूप में बताना अन्यथा प्ररूपण है। जैसे शरीरादि की अवस्थारूप स्वयं नहीं होने पर भी स्वयं को मनुष्य, स्त्री आदि कहना; हिंसा में धर्म नहीं होने पर भी उसमें धर्म बताना इत्यादि कथन, 'अन्यथा प्ररूपण' नामक असत्य पाप है।

४. **गर्हितवचन** – निंदनीय, कलहकारक, पीड़ाकारक, शास्त्रविरुद्ध, हिंसा-पोषक, पर-अपवादकारक इत्यादि प्रकार के वचन, गर्हितवचन हैं। जो वचन कलह, संक्लेश आदि उत्पन्न करते हैं; वे सत्य होने पर भी 'गर्हित वचन' नामक असत्य पाप की कोटि में ही आते हैं।

इसप्रकार जिनागम में प्रसिद्ध असत्य पाप के इन चारों भेदों का सत्याणुव्रतधारी त्यागी होता है।

प्रश्न १० : अचौर्याणुव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : जिन वस्तुओं में देने-लेने का व्यवहार होता है, उन वस्तुओं को उनके मालिक की अनुमति के बिना प्रमाद पूर्वक ग्रहण करना, चोरी पाप है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक एकदेश प्रगट वीतरागता सम्पन्न जीव के प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायादि के उदय के सद्भाव में प्रमादपूर्वक स्थूल चोरी नहीं करने का भाव अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रतधारी किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु को उसके मालिक की आज्ञा के बिना न तो स्वयं ग्रहण करता है, न ही दूसरों से ग्रहण कराता है, न ही स्वयं उठाकर दूसरों को देता है, इसप्रकार का भाव और क्रिया चोरी के एकदेश त्यागरूप अचौर्याणुव्रत है। यह जीव कुँए, नदी आदि में से जल; खदान आदि में से मिट्टी आदि बिना आज्ञा के ग्रहण करनेवाला होने से चोरी पाप का मात्र स्थूल-त्यागी है।

इस व्रत का विधिवत पालन करने के लिए आचार्य उमास्वामी वहीं, सूत्र ६ में इन पाँच भावनाओं को निरन्तर भाने के लिए कहते हैं –

"**शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच** – शून्यस्थानों में/निर्जनस्थानों में रहना, छोड़े गए/उजड़े स्थानों में रहना, अन्य को आने से नहीं रोकना, भोजनादि की शास्त्रानुसार शुद्धि रखना और

साधर्मिओं के साथ विसंवाद नहीं करना – इन पाँच बातों को निरन्तर ध्यान में रखने से, इनरूप प्रवर्तन करने से, इनकी भावना भाने से अचौर्यव्रत विधिवत पलता है।''

इस व्रत में लगनेवाले दोषों का वर्णन करते हुए वहीं, सूत्र २७ में वे लिखते हैं–

''**स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः** – चोरी करनेवाले को चोरी करने का उपाय बताना, चुराई गई वस्तु को खरीद लेना, राज्य की आज्ञा के विरुद्ध चलना, सामान लेने-देने के माप-तराजू आदि को हीनाधिक रखना, अधिक मूल्यवान वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना इत्यादि क्रियाएं, भाव, प्रवृत्तिआँ अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।''

इन भावों में अचौर्याणुव्रत मलिन/दूषित होता है; अतः इस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए इन भावों से बचना चाहिए।

प्रश्न ११ : ब्रम्हचर्याणुव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : विषय-सेवन का पूर्णतया त्याग, अब्रम्ह का पूर्णतया त्याग, ब्रम्हचर्य व्रत है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक एकदेश प्रगट वीतरागता-सम्पन्न जीव के प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायादि के उदय के सद्भाव में प्रमादपूर्वक परस्त्री या परपुरुष के साथ रमण करने के भाव, क्रिया, प्रवृत्ति आदि का सर्वथा त्याग हो जाना, ब्रम्हचर्याणुव्रत है। स्वस्त्री या स्वपुरुष के साथ विषय-सेवन का त्याग नहीं होने से इसे स्वदार सन्तोषव्रत या एकदेश ब्रम्हचर्यव्रत कहते हैं।

ऐसा जीव आंशिक वीतरागता के बल पर विषय-वासना की पूर्ति के लिए न तो स्वयं किसी परस्त्री/परपुरुष के पास जाता है और न ही अन्य से ऐसा कराता है; एकमात्र पंचों की साक्षी में, समाज के सामने जिसे धर्मपत्नि/धर्मपति रूप से स्वीकार किया है, उसमें ही सन्तुष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त जगत की अन्य सभी महिलाओं के प्रति माता, बहिन या बेटी के समान अथवा अन्य सभी पुरुषों के प्रति पिता, भाई या पुत्र के समान व्यवहार करता है। यह उन्हें विषय-वासना की दृष्टि से कभी भी नहीं देखता है (यहाँ स्त्री को पुरुष के संबंध में और पुरुष को स्त्री के संबंध में यथायोग्य समझ लेना चाहिए)।

इस व्रत का विधिवत पालने करने के लिए आचार्य उमास्वामी अध्याय ७, सूत्र ७ में निम्नलिखित पाँच भावनाओं को निरन्तर भाने की प्रेरणा देते हैं –

''**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च** – स्त्रिओं में रागवर्धक कथाएं सुनने का त्याग, उनके मनोहर अंगों के निरीक्षण का त्याग, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग, विषय-वासनावर्धक गरिष्ठ रसों का/कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग, अपने शरीर को संस्कारित/शृंगार करने/सजाने आदि का त्याग इत्यादिरूप प्रवर्तन से, इन भावनाओं को निरन्तर भाने से, इनरूप अपने भाव सतत बनाए रखने से ब्रम्हचर्यव्रत विधिवत पलता है।''

इस व्रत को दूषित/मलिन करनेवाले भाव वहीं, सूत्र २८ में इसप्रकार हैं–

''**परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः** – अन्य का विवाह करना/कराना, वेश्या/व्यभिचारिणी तथा पति सहित/सधवा या पति रहित विधवा स्त्रियों के पास आना-जाना/उनके साथ संपर्क रखना, अनंग क्रीड़ा करना, विषय-सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना आदि भाव/प्रवृत्तिआँ/क्रियाएं ब्रम्हचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।''

इनसे व्रत मलिन/दूषित होता है; उसे निर्मल/निर्दोष रखने के लिए इन भावों से स्वयं को सतत दूर रखना चाहिए।

प्रश्न १२ : परिग्रह-परिमाणव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : पर पदार्थ के प्रति मूर्छा/ममत्वभाव, परिग्रह है। भाव और सामग्री की अपेक्षा इसके २ भेद हैं – अंतरंग परिग्रह और बहिरंग परिग्रह। अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद।

दश प्रकार के बहिरंग परिग्रह का निरूपण आगम में दो प्रकार से मिलता है–

१. खेत, घर, चाँदी, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन।

२. खेत, घर, धन, धान्य, द्विपद (नौकर-नौकरानी आदि), चतुष्पद (गाय, भैंस आदि पशु), यान (सवारी/वाहन), शैयासन (सोने-बैठने के आसन/पलंग, कुर्सी आदि), वस्त्र और बर्तन।

इन दोनों ही प्रकारों पर गंभीरता से विचार करने पर यह फलित होता है

कि आचार्य, श्रावक के लिए प्रतिदिन, जीवनपर्यन्त काम में आनेवाली समस्त वस्तुओं को बाह्य परिग्रह में रखते हैं।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय के उदय का अभाव हो जाने से ज्ञानी, व्रती, श्रावक के मिथ्यात्व नामक परिग्रह तो है ही नहीं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से शेष तेईस परिग्रहों को आंशिक रूप में छोड़ने संबंधी आंशिक वीतरागतामय एकदेशचारित्र प्रगट हो जाने पर भी प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय का उदय होने से वह उनका पूर्णतया त्याग नहीं कर पाता है; अत: वह जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं को अपनी आवश्यकतानुसार एक सीमा में सुनिश्चित कर लेता है।

अंतरंग परिग्रहों में से मिथ्यात्व का तो सर्वथा त्याग पहले ही हो गया है। शेष क्रोधादि तेरह परिग्रहों में से अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि का भी इसके अभाव हो गया है; प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादि विद्यमान हैं; यही अंतरंग परिग्रह-परिमाणव्रत है।

बाह्य दश परिग्रहों में से अपनी आवश्यकतानुसार यह उनकी सीमा सुनिश्चित कर लेता है; यही बहिरंग परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रत को इच्छा-परिमाणव्रत भी कहते हैं। पर पदार्थों संबंधी सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग करने में असमर्थ होने से, अपनी इच्छाओं को सीमित कर लेने के कारण इसे इच्छा-परिमाणव्रत भी कहते हैं।

आचार्य उमास्वामी वहीं, सूत्र ८ में इस व्रत का विधिवत पालन करने के लिए निम्नलिखित पाँच भावनाओं का निरूपण करते हैं –

''मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च – स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ/सुन्दर-असुन्दर/इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करने से यह व्रत विधिवत पल जाता है; अत: हमें निरन्तर इसरूप ही भाव बनाना चाहिए, ये भावनाएं सतत भानी चाहिए, इसरूप ही प्रवर्तन करना चाहिए।''

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच मुख्य कारणों को आचार्यदेव वहीं, सूत्र २९ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः – क्षेत्र/खेत, वास्तु/मकान, चाँदी, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र, बर्तन

आदि संबंधी जीवनपर्यन्त के लिए किए गए परिमाण का उल्लंघन करने से परिग्रह-परिमाणव्रत मलिन/दूषित होता है।'' इस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए हमें निरन्तर परिग्रह संबंधी की गई मर्यादाओं को ध्यान में रखना चाहिए। यह सतत सावधानी ही इस व्रत को निर्मल/पवित्र बनाती है।

प्रश्न १३ : गुणव्रत के भेद दिग्व्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायादि के उदय का सद्भाव होने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक एकदेश वीतरागता-सम्पन्न जीव व्यर्थ के पापों से बचने के लिए, धार्मिक कार्यों को छोड़कर, अन्य कार्यों में दशों दिशाओं संबंधी प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर जीवन पर्यन्त के लिए अपने आने-जाने की सीमा निश्चित कर लेता है। यही प्रवृत्ति दिग्व्रत नामक गुणव्रत है। इस माध्यम से की गई सीमा के बाहर पाँचों पापों का सर्वथा त्याग हो जाने से पाँचों अणुव्रत सुरक्षित रहते हैं, सम्वर्धित होते हैं; अत: इसे गुण-व्रत कहते हैं तथा दिशाओं संबंधी सीमाओं का निर्धारक होने से दिग्व्रत कहलाता है।

इस व्रत को मलिन करनेवाले पाँच अतिचार आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय ७, सूत्र ३० में इसप्रकार लिखते हैं –

''**ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि** – ऊर्ध्वदिशा-वर्ती सीमा का उल्लंघन करना, अधोदिशावर्ती सीमा का अतिक्रमण करना, सम धरातलरूप तिर्यग्दिशावर्ती सीमा का व्यतिक्रम करना, क्षेत्र की वृद्धि करना, की गई मर्यादा भूल जाना इत्यादिरूपभाव, प्रवृत्तिआँ दिग्व्रत को दूषित करती हैं; अत: सतत इसप्रकार के भाव, प्रवृत्तिओं से सावधान रहना चाहिए।''

प्रश्न १४ : देशव्रत नामक गुणव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : दिग्व्रत से सुनिश्चित की गई जीवनपर्यन्त की दशों दिशाओं संबंधी विशाल सीमा को घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, माह इत्यादि सीमित समय की मर्यादापूर्वक पुन: मर्यादित करना, देशव्रत है। जितने समय के लिए यह मर्यादा होती है, उतने समय पर्यन्त की गई मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में घटित होनेवाले पापों का यह व्रती श्रावक पूर्णतया त्यागी हो जाता है। इसप्रकार मूलव्रतों का संरक्षक, संवर्धक होने से इसे गुणव्रत कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक

एकदेश वीतरागता और शेष प्रत्याख्यानादि संबंधी सरागता के सद्भाव में ही ऐसी स्थिति बनती है।

इसे दूषित करनेवाले कारण वहीं, सूत्र ३१ में निम्नलिखित कहे हैं –

''**आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः** – की गई मर्यादा से बाहर की वस्तुएँ मँगाना, मर्यादा से बाहर दूसरों को भेजना, शब्दादि के माध्यम से की गई मर्यादा के बाहर स्थित जीवों को अपना अभिप्राय समझा देना, अपना आकारादि/अपनी उपस्थिति आदि दिखाकर की गई मर्यादा के बाहर स्थित जीवों को इशारा करना, मर्यादा के बाहर कंकड़ आदि फेककर अपना कार्य सिद्ध कर लेना इत्यादि भावों, प्रवृत्तिओं से देशव्रत मलिन होता है; अतः इन भावों, प्रवृत्तिओं से बचना चाहिए।

प्रश्न १५ : दिग्व्रत और देशव्रत के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यद्यपि ये दोनों गुणव्रत के ही भेद हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक कुछ अन्तर है। वह इसप्रकार है –

दिग्व्रत	देशव्रत
१. दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त के लिए दशों दिशाओं संबंधी सीमाएं सुनिश्चित की जाती हैं।	इसमें दिग्व्रत की सीमा के अन्दर कुछ निश्चित समय के लिए घड़ी, घंटा आदि समय-सीमा के माध्यम से दशों दिशाओं की सीमाएं निश्चित की जाती हैं।
२. ये सीमाएं पूर्ण एक भवपर्यन्त स्थायी रहती हैं।	अपनी समय-सीमा के बाद ये मर्यादाएं हीनाधिक होती रहती हैं।
३. दिग्व्रत व्यापक है।	देशव्रत व्याप्य है।
४. इसकी सीमाएं अपने देशपर्यन्त के क्षेत्र तक विस्तृत हो सकती हैं।	इसकी सीमा कम से कम अपने बैठने मात्र के स्थानपर्यन्त भी संकुचित हो सकती है।
५. दिग्व्रत के आधार पर देशव्रत की सीमाएं बनती हैं।	देशव्रत के आधार पर दिग्व्रत की सीमाएं सुनिश्चित नहीं होती हैं।
६. पूर्ण जीवनपर्यन्त के लिए होने से इनका निर्धारण करते समय अत्य-	ये कुछ कालपर्यन्त की ही होने से इनमें विशेष विचार नहीं करने पर भी विशेष

धिक जागृत विवेक और सावधानी अपेक्षित है।	आकुलता का अवसर नहीं बन पाता है।
७. इसे सभी आचार्य गुणव्रत में ही गिनते हैं।	इसे किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने शिक्षा-व्रत में भी गिना है।गुणव्रत में इसके स्थान पर वे भोगोपभोगपरिमाणव्रत को स्थान देते हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों में पारस्परिक अंतर है।

प्रश्न १६ : अनर्थदण्डविरतिव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक एकदेश वीतरागता प्रगट हो जाने के कारण रंचमात्र भी परप्रवृत्तिओं का इच्छुक नहीं होने पर भी, उन्हें पूर्णतया परित्याग करने में असमर्थ यह व्रती श्रावक निरर्थक/अप्रयोजनीय पाप प्रवृत्तिओं का पूर्णतया त्याग कर देता है; यह अनर्थदण्डविरतिव्रत है। अनर्थदण्ड में तीन शब्द हैं – अन्, अर्थ और दण्ड। अन्=नहीं, अर्थ= प्रयोजन, दण्ड= मन-वचन-काय की प्रवृत्ति अर्थात् मन, वचन, काय की जिस प्रवृत्ति से हमारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वे निरर्थक प्रवृत्तिआँ अनर्थदण्ड हैं। उन सभी के त्याग का नियम अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

यह व्रती श्रावक निष्प्रयोजन जमीन खोदना, जल फेकना, अग्नि जलाना, पंखा चलाना, वनस्पति तोड़ना आदि स्थावर जीवों की घातक प्रवृत्तिओं का त्याग कर देता है। इसीप्रकार यह राग-द्वेष परक व्यर्थ के वाद-विवाद में भी नहीं उलझता है, निरर्थक बातों का चिन्तन-मनन नहीं करता है इत्यादि। इसप्रकार मन, वचन, काय संबंधी समस्त निरर्थक भावों, प्रवृत्तिओं का त्याग अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

आचार्यों ने समस्त निरर्थक चेष्टाओं को पाँच भागों में विभक्त किया है – पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुष्श्रुति और प्रमादचर्या।

१. पापोपदेश – तिर्यंचों को कष्टदायक, उन्हें बेचने-खरीदने रूप तथा विविध आरम्भ-परिग्रहपरक कपट आदिरूप पाप को उत्पन्न करनेवाले पापमय उपदेश/कथन, पापोपदेश अनर्थदण्ड हैं; अर्थात् जिस उपदेश से जीवों की हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति हो, उसे पापोपदेश अनर्थदण्ड कहते हैं। व्रती श्रावक इसका सर्वथा त्यागी होता है।

२. **हिंसादान** – हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुल्हाड़ी, अग्नि, विष, साँकल आदि विविध शस्त्र स्वयं देना या दूसरों के माँगने पर देना आदि कार्य, हिंसादान अनर्थदण्ड हैं। व्रती श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता है।

३. **अपध्यान** – किसी अन्य के प्रति 'इसका अच्छा हो जाए, इसका बुरा हो जाए, यह जीत जाए, यह हार जाए, इसे लाभ हो, इसे हानि हो जाए' इत्यादि चिन्तन, अपध्यान अनर्थदण्ड है। व्रती श्रावक ऐसा राग-द्वेष परक निरर्थक चिंतन नहीं करता है।

४. **दुष्श्रुति** – असि, मषी आदि आरंभ-परिग्रहरूप वार्ताओं को; मिथ्यात्व, राग, द्वेष परक; विषय-वासना परक, लौकिक वीरतापरक वार्ताओं को सुनना; उनमें अपना मन लगाना, दुष्श्रुति अनर्थदण्ड है। व्रती श्रावक ऐसी वार्ताओं को सुनने में अपना समय, शक्ति, उपयोग नहीं लगाता है।

५. **प्रमादचर्या** – बिना प्रयोजन यहाँ-वहाँ जाना-आना, जमीन खोदना, पत्थर आदि फोड़ना, जल गिराना, अग्नि जलाना, पंखा चलाना, पेड़-पौधे तोड़ना-काटना आदिरूप प्रवर्तन प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है। व्रती श्रावक ऐसी निरर्थक, हिंसाकारक, पापमय, पापबंध-कारक प्रमादचर्या नहीं करता है।

उपर्युक्त सभी निरर्थक प्रवृत्तिओं का सर्वथा त्याग, अनर्थदण्डविरतिव्रत नामक गुणव्रत है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच भावों का आचार्य उमास्वामी वहीं, सूत्र ३२ में इसप्रकार वर्णन करते हैं –

"**कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि**– रागपूर्वक हास्ययुक्त अशिष्टवचन बोलने से, शरीर की कुचेष्टाएं करने से, धृष्टतापूर्वक अधिक बकवास करने से, निष्प्रयोजन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करने से, भोगोपभोग के पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करने से अनर्थदण्डविरतिव्रत मलिन/दूषित होता है।"

प्रश्न १७ : सामायिक शिक्षाव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक एकदेश प्रगट वीतरागतारूप देशचारित्र-संपन्न जीव के प्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय विद्यमान होने से समस्त पदार्थों के प्रति साम्यभाव नहीं हो पाता है; अत: वह साम्यभाव

धारण करने के अभ्यासरूप में चौबीस घंटे में कम से कम तीन बार बुद्धिपूर्वक समस्त राग-द्वेष का त्याग कर आत्मस्वभाव की उपलब्धि के बल पर समता-भाव का अभ्यास करनेरूप सामायिक करता है। सुबह, दोपहर और सायं-काल कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त, मध्यम दो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त इस अभ्यास में सावधान रहना, व्रती श्रावक का सामायिक शिक्षाव्रत है।

इस समय वह मन, वचन, काय सहित कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक पाँचों पापों का त्याग कर, एकान्तस्थान में एकाग्र मन से पंचपरमेष्ठिओं का स्मरण, चिन्तन, मनन करता हुआ, वस्तुस्वरूप के, आत्मस्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा सहज ज्ञाता-दृष्टामय साम्यभावरूप रहने का अभ्यास करता है। समय अर्थात् शुद्धात्मा में प्रतिबद्धता इस प्रवृत्ति का आधार होने से इसे सामयिक शिक्षाव्रत भी कहते हैं। मुनिराजों का जीवन सहज समतामय होता है, उसे प्रगट करने के अभ्यासरूप होने से यह शिक्षाव्रत है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाँच अतिचार आचार्य उमास्वामी वहीं, सूत्र ३३ में इसप्रकार लिखते हैं –

''**योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि** – योगों के दुष्प्रणिधान से-मन में आर्त-रौद्र रूप चिंतन से, वचन द्वारा सांसारिक प्रवृत्ति करने से, शरीर की संयमरहित चेष्टा करने से; सामायिक के प्रति अनादरभाव से, सामायिक कार्य को भूल जाने से यह व्रत दूषित होता है।''

इन दोषों से रहित सामायिक व्रत का विधिवत पालन करने से सामायिक चारित्र को प्रगट करने की अर्थात् सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह को छोड़कर आत्म-स्वरूप में लीन रहने की पात्रता जागृत होती है।

प्रश्न १८ : प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ एकदेश वीतरागतारूप देशचारित्र सम्पन्न यह व्रती श्रावक यद्यपि भूमिकानुसार विषय-कषाय से विरक्त रहता है; तथापि प्रत्याख्यानादि कषायों के उदय का सद्भाव होने से, यह उनसे पूर्णतया विरक्त नहीं रह पाता है; अत: विशेष विरक्त रहने के लिए यह अनादिनिधन पर्वरूप अष्टमी, चतुर्दशी के दिन प्रोषधोपवास धारण कर, आहार-विषय-कषाय का त्याग कर अपने स्वरूप में लीन रहने का तथा लीन नहीं रह पाने

पर आत्मस्वभाव के समीप रहने का अभ्यास करता है। इन दिनों यह पापमय सर्व आरम्भ का त्याग कर निष्प्रमादी होता हुआ ज्ञान-ध्यान में ही अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्रोषध=पर्व, उपवास=विषय-कषाय-आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप वास/रहना। शक्त्यनुसार काल की मर्यादा से यह तीन प्रकार का है –

१. ***४८ घंटे का उत्तम प्रोषधोपवास*** – इसमें अष्टमी/चतुर्दशी के एक दिन पूर्व अर्थात् सप्तमी/त्रयोदशी को ही सुबह भोजनादि से निर्वृत्त होकर नवमी/पूर्णिमा/अमावस्या के सुबह पर्यन्त विषय, कषाय, आहार का त्याग कर आत्मसाधना की जाती है। सप्तमी आदि का आधा दिन अर्थात् छह घंटे, उसके बाद की सम्पूर्ण रात अर्थात् बारह घंटे, उसके आगे अष्टमी/चतुर्दशी के पूर्ण दिन-रात संबंधी चौबीस घंटे तथा अगले दिन के प्रात:कालीन छह घंटे – इसप्रकार कुल ४८ घंटे पर्यन्त विषय, कषाय और आहारादि का त्याग कर आत्मसाधना की जाने से, यह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है।

२. ***३६ घंटे का मध्यम प्रोषधोपवास*** – इसमें सप्तमी/त्रयोदशी के दिन सायंकालीन भोजनोपरान्त सर्वारम्भ का त्याग करने से रात्रिकालीन बारह घंटे, अष्टमी/चतुर्दशी के दिन-रात संबंधी चौबीस घंटे – इसप्रकार कुल ३६ घंटे पर्यन्त सर्वारम्भ के त्यागोपरान्त नवमी के दिन सूर्योदय के उपरान्त आरम्भादि में प्रवृत्ति हो जाने से यह मध्यम प्रोषधोपवास कहलाता है।

३. ***२४ घंटे का जघन्य प्रोषधोपवास*** – इसमें अष्टमी/चतुर्दशी के दिन प्रात:कालीन भोजनादि से निर्वृत्त हो आरम्भादि का त्याग कर नवमी आदि को उसी समय पर्यन्त आरम्भादि का त्याग कर २४ घंटे आत्मसाधना में व्यतीत कर, तदुपरान्त ही आरम्भादि में प्रवृत्ति होने से, यह जघन्य प्रोषधोपवास कहलाता है।

इसप्रकार आहार, विषय और कषाय के त्याग की सामर्थ्यानुसार जिनागम में प्रोषधोपवास के ३ भेद मान्य हैं। इस व्रत को मलिन करनेवाले अतिचारों की चर्चा आचार्य वहीं, सूत्र ३४ में इसप्रकार करते हैं –

"**अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि** – बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर मल-मूत्र आदि का क्षेपण

करना; बिना देखे/शोधे शास्त्रादि उपकरणों को ग्रहण करना; बिना देखे/शोधे वस्त्र पहिनना, चटाई बिछाना आदि; भूखादि से व्याकुल होकर आवश्यक धर्मकार्यों में उत्साहरहित होना, आवश्यक धर्मकार्यों को भूल जाना इत्यादि प्रवृत्तिआँ प्रोषधोपवास को मलिन करती हैं।''

मलिन करनेवाली इन प्रवृत्तिओं के प्रति सावधान रहते हुए इस व्रत के विधिवत परिपालन से समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर मुनि बनने की/पूर्ण स्वरूप-लीन होने की शिक्षा मिलने से, यह शिक्षाव्रत है।

प्रश्न १९ : भोगोपभोगपरिमाण या उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ आंशिक वीतरागतारूप एकदेशचारित्र प्रगट हो जाने पर भी प्रत्याख्यानावरणादि कषायों का सद्भाव होने से आरम्भ-परिग्रह का पूर्णतया त्याग नहीं कर पाने के कारण इस व्रती श्रावक के पाँच अणुव्रत हुए थे। उनमें से परिग्रहपरिमाणव्रत में तेईस परिग्रहों का परिमाण जीवनपर्यन्त के लिए किया गया था। उस परिमाण में भी अपने विषय-कषायों को उत्तरोत्तर हीन करता हुआ यह व्रती श्रावक घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह, वर्षादि सीमित समय-सीमानुसार और भी सीमित होता जाता है। इसमें भोगोपभोग सामग्री को सीमित करने की प्रधानता होती है। इस व्रत से विषयासक्ति हीन होती जाती है तथा कषाय भी मन्द होती जाती है; जिससे आत्मसाधना का अधिकाधिक अवसर प्राप्त होता है, जो मुनिदशा प्रगट करने में सहायक है; अत: इसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

इस व्रत को मलिन करनेवाले पाँच अतिचारों को आचार्य वहीं, सूत्र ३५ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''**सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहारा:** – सचित्तपदार्थ, सचित्त-पदार्थ से संबंधित पदार्थ, सचित्त पदार्थ में मिले हुए पदार्थ, कामोत्तेजक गरिष्ठ पदार्थ, दुष्पक्व अर्थात् आधे पके हुए या बुरी तरह से पके हुए आहार आदि को ग्रहण करने से भोगोपभोगपरिमाणव्रत मलिन होता है।''

इन अतिचारों के प्रति सावधान रहते हुए इस व्रत का विधिवत पालन करने से विषय, कषाय और आहार हीन-हीन होते जाते हैं; जिससे आत्म-साधना के लिए अधिकाधिक अवसर प्राप्त होने से मुनि बनने की/पूर्ण स्व-रूप-लीन होने की शिक्षा प्राप्त होती है।

प्रश्न २० : अतिथि संविभाग व्रत को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ आंशिक वीतरागतारूप एकदेश चारित्र प्रगट हो जाने पर भी प्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय का सद्भाव होने से आरम्भ-परिग्रह का पूर्णतया त्याग नहीं हो पाने के कारण यह व्रती श्रावक पूर्णतया धर्ममय नहीं हो पाता है। अपना जीवन पूर्णतया धर्ममय बनाने के उद्देश्य से तथा अन्य धार्मिक जीवों के प्रति सहज वात्सल्य हो जाने से उनके धर्म की अनुमोदना करने के लिए, स्वयं के लिए तैयार की गई शुद्ध, सात्त्विक भोजनादि सामग्री का विभाग करके पात्र जीवों को विधिवत दान देने की प्रवृत्ति अतिथि संविभागव्रत है। इसके पात्र तीन प्रकार के जीव हैं –

१. समस्त आरम्भ-परिग्रह रहित, आत्मसाधनारत दिगम्बर मुनिराज, उत्तम पात्र हैं।

२. अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह सहित आत्मसाधनारत व्रती श्रावक, मध्यम पात्र हैं।

३. आरम्भ-परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा के बिना, व्रतादि रहित, आत्म-साधनारत अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र हैं।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य २६, चतुर्थ चरण के अनुसार –

"**न धर्मो धार्मिकैः बिना** – धर्म धर्मात्मा जीवों के बिना नहीं रहता है।" इस भावना के वशीभूत हो अपनी धर्म-भावना पुष्ट करने के लिए, धर्म की अनुमोदना-हेतु, व्रती श्रावक पूर्वोक्त तीन पात्रों को पूर्णतया निरपेक्ष भाव से, विधिवत अपने लिए तैयार की गई भोजनादि सामग्री देता है – यह इसका अतिथि संविभागव्रत है।

इस व्रत को मलिन करनेवाले पाँच अतिचारों को आचार्य उमास्वामी वहीं, तत्त्वार्थसूत्र, सप्तम अध्याय के सूत्र ३६ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"**सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः** – भोजनादि सामग्री को सचित्त बर्तनादि में रखने, सचित्त बर्तनादि से ढ़क देने, अन्य की वस्तु स्वयं देने से, अन्य दाता से ईर्ष्या करके देने से, योग्य काल का उल्लंघन करके देने से इत्यादि प्रवृत्तिओं से यह व्रत मलिन होता है।"

इन दोषों से बचकर, इसका विधिवत पालन करते हुए धर्मात्माओं के

प्रति निरन्तर वात्सल्य के कारण, उनके धर्म की अनुमोदना निरन्तर करते रहने से, धर्म की परिपूर्ण प्राप्ति का सहज अभ्यास हो जाने से, यह शिक्षाव्रत है।

प्रश्न २१ : परिग्रहपरिमाणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : व्रती श्रावक के ये दोनों ही व्रत एक साथ विद्यमान होने पर भी इन दोनों में पारस्परिक अन्तर है। वह इसप्रकार –

परिग्रहपरिमाणव्रत	भोगोपभोगपरिमाणव्रत
१. यह अणुव्रतरूप मूलव्रत है।	यह महाव्रत की शिक्षा देनेवाला शिक्षाव्रत है।
२. इसमें मिथ्यात्व का अभावकर शेष तेईस परिग्रहों का परिमाण जीवन पर्यन्त के लिए किया जाता है।	इसमें भोजनादि भोगोपभोग सामग्री की सीमा समय-सीमा के माध्यम से की जाती है।
३. इसमें बाह्य परिग्रह की अपेक्षा अंतरंग परिग्रह की सीमा अर्थात् दो चौकड़ी कषाय सम्बन्धी विकारी भावों का त्याग मुख्य है।	इसमें इसके साथ ही बाह्य परिग्रह का परिमाण मुख्य है।
४. यह जीवनपर्यन्त के लिए होने से इसमें किया गया परिमाण बढ़ाया नहीं जा सकता है। कषायादि कम हो जाने पर परिमाण कम किया जा सकता है।	इसमें पदार्थों का त्याग जीवनपर्यन्त के लिए नहीं होकर सीमित समय के लिए होने से, समय-सीमा समाप्त होने पर शक्ति अनुसार पुनः हीनाधिक परिमाण किया जा सकता है।
५. यह मूलव्रत होने से इसके खण्डित हो जाने का अर्थ भूमिका नष्ट हो जाना है, शुद्धि में परिवर्तन हो जाना है, गुणस्थान बदल जाना है।	यह शिक्षाव्रत होने से परिस्थितिवश कुछ काल के लिए नष्ट हो जाने पर भी तत्काल भूमिका नष्ट नहीं होती है। सावधान होने का अवसर बना रहता है।
६. इसे सभी आचार्यों ने मूलव्रत के रूप में अणुव्रत में ही गिना है।	इसे किन्हीं आचार्यों ने गुणव्रत में तथा किन्हीं आचार्यों ने शिक्षाव्रत में गिना है।

इसप्रकार इन दोनों में पारस्परिक अंतर है। ○○○

पाठ ७

मुक्ति का मार्ग

आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व-कर्तृत्व के लिए इसी पुस्तिका का पृ. १२४ देखिए।

प्रश्न १ : मुक्ति अर्थात् मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानानन्द स्वभावी, अनन्त वैभव-संपन्न अपने भगवान आत्मा की पर्याय में परिपूर्ण उपलब्धि होना, मुक्ति है। परिपूर्ण, स्वतंत्र, स्वाधीन, निराकुल आत्मतत्त्व में, आत्मा के आश्रय से ही परिपूर्ण, स्वतंत्र, स्वाधीन, निराकुलदशा प्रगट हो जाना, मुक्ति है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इत्यादि समस्त परपदार्थों से पूर्णतया पृथक् त्रिकाली आत्मा के आश्रय से ऐसी ही स्वभाव-सादृश्य पर्याय प्रगट हो जाना, मुक्ति है। परिपूर्ण अव्याबाधमय अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति, मुक्ति है। अनादि-अनन्त निर्बन्ध/मुक्त स्वभावी आत्मा के आश्रय से पर्याय में भी पूर्ण निर्बन्धदशा हो जाना, मुक्ति है। अपने अनादि-अनन्त वैभव-संपन्न, असंख्यातप्रदेशी स्वदेश का राज्य पा भोक्ता हो जाना, मुक्ति है। सम्पूर्ण विश्व से पूर्णतया अप्रभावित रहकर, अन्य को भी रंचमात्र भी प्रभावित किए बिना सहज ज्ञाता-दृष्टा हो जाना, मुक्ति है।

निष्कर्ष यह है कि स्वात्मोपलब्धिरूप परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल दशा, मुक्ति है।

प्रश्न २ : मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दमयदशा को प्राप्त करने में कारणभूत नियामक कारणों को मुक्ति का मार्ग/मोक्षमार्ग कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथ में मुक्ति का मार्ग बताते हुए लिखते हैं –

"एवं सम्यग्दर्शनबोधचारित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति: ॥२०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। मोक्षार्थी जीव को सदैव यथाशक्ति इसका सेवन करना चाहिए।"

सम्यग्दर्शनादि के अभाव में होनेवाले मिथ्यादर्शनादि से ही आत्मा दुखी है, बन्धन में है; अत: मिथ्यादर्शनादि से विपरीत सम्यग्दर्शनादि ही दु:ख से

मुक्त होने के/सुखी होने के/निर्बन्धदशा के/मोक्ष के, उपाय हैं/मार्ग हैं/साधन हैं।

प्रश्न ३ : सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन शब्द में सम्यक् और दर्शन – ये दो शब्द हैं। सम्यक्= समीचीन/सत्य/यथार्थ/वास्तविक/वस्तुपरक; दर्शन=श्रद्धान/मान्यता/विश्वास/प्रतीति इत्यादि।

अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा के वास्तविक स्वरूप को यथार्थतया समझकर परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का अपनत्वरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मरूप है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं –

''जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

जीव, अजीव आदि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश/उल्टी मान्यता से रहित श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है। इसे प्रगट करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए; कारण कि यह आत्मरूप ही है।''

सम्यग्दर्शन प्राप्त किए बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र सम्यक् नहीं होते हैं; हमारा सारा प्रयत्न निष्फल होता है। इस संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र वहीं लिखते हैं –

''तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो, भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों में से सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को ही पूर्ण प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिए; कारण कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक ही ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नाम पाते हैं।''

सम्यग्दर्शन के बिना सम्पूर्ण ही ज्ञान अर्थात् ग्यारह अंग और नौ पूर्व पर्यन्त का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान और महाव्रतादिरूप सम्पूर्ण ही शुभाचरण मिथ्याचारित्र नाम पाता है।

सम्यग्दर्शन के बिना ये सभी संसारवर्धक ही हैं; संसारनाशक नहीं; अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न ४ : सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय क्या है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम द्रव्यश्रुत/जिनवाणी के माध्यम से अपने प्रगट, उपलब्ध ज्ञानरूपी साधन द्वारा तत्त्वाभ्यास करके, सात तत्त्वों का यथार्थस्वरूप समझकर, उनका निर्णय कर, त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा का अपनत्वरूप से निर्णय करना चाहिए। तत्पश्चात् भेदविज्ञान के माध्यम से परपदार्थ और परभावों में परत्वबुद्धि लाने का तथा उनसे भिन्न अपने त्रिकाली, ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में अपनत्व-बुद्धि लाने का अभ्यास करना चाहिए। इस अपनत्वबुद्धि पूर्वक ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा के सन्मुख होकर आत्मानुभव करना ही सम्य-ग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय है।

यद्यपि यह हठबुद्धि से प्रगट होनेवाली दशा नहीं; वरन् आत्मा में अपन-त्वबुद्धिपूर्वक सहजसाध्य दशा है; तथापि इसमें अनादिकालीन विपरीत मान्यता के समय अपनत्वरूप से स्वीकृत अनन्त परपदार्थों के प्रति परत्वबुद्धि प्रगट हो जाने से इसे अनन्त पुरुषार्थपूर्वक प्रगट होनेवाली दशा भी कहते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए बुद्धिपूर्वक अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में अपनत्व लाने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न ५ : सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शनपूर्वक संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित अनेका-न्तात्मक प्रयोजनभूत तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

"कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवासविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित शाश्वत विद्यमान अनेका-न्तात्मक तत्त्वों का यथार्थज्ञान, सम्यग्ज्ञान है। इसे प्रगट करने का सतत प्रयास करना चाहिए। यह भी आत्मरूप ही है अर्थात् सम्यग्ज्ञान आत्मा की शुद्ध स्वाभाविक दशा है।"

सम्यग्ज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों की स्व-पर भेदविज्ञानात्मक यथार्थ जानकारी होती है। यह ही सर्वज्ञता का मूल है; अतः इसे प्रगट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

वास्तव में तो अपने को अपनत्वरूप से जानकर, आत्मानुभवपूर्वक आ-त्मश्रद्धान प्रगट होने के साथ ही उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है;

तथापि इस पद्य में आचार्यदेव उसे प्रगट करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहने का जो आदेश दे रहे हैं, उसका अभिप्राय यह है कि **सम्यग्दर्शन के कारण प्रगट-ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी, वह क्षायोपशमिक ज्ञान होने से अत्यल्प है। पदार्थों की सामान्य जानकारी से विशेष जानकारी बलवान होती है; उससे श्रद्धा और चारित्र में भी विशेष दृढ़ता आती है; अत: उस सम्यग्ज्ञान में भी वृद्धि करने का सहजरूप से सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। आत्मस्वभाव होने के कारण यह सहजसाध्य ही है, कष्टसाध्य नहीं है।**

प्रश्न ६ : सम्यग्ज्ञान के दोषरूप संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्ज्ञान को दूषित करनेवाले संशयादि तीनों दोषों का स्वरूप इस-प्रकार है –

१. संशय – परस्पर विरुद्ध अनेक कोटिओं को स्पर्श करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है अर्थात् यह है कि वह है इत्यादि प्रकार का ज्ञान, संशय है। जैसे – यह सीप है या चाँदी; मैं जीव हूँ या शरीर; शुभभाव पुण्य है या धर्म आदि।

२. विपर्यय – किसी पदार्थ के संबंध में विपरीत निर्णय करनेवाला ज्ञान, विपर्यय कहलाता है। जैसे – सीप को चाँदी जान लेना, जीव को शरीररूप ही जान लेना; शुभभाव का धर्मरूप में ही निर्णय कर लेना इत्यादि।

३. अनध्यवसाय – किसी पदार्थ के संबंध में तीव्र अरुचि पूर्वक 'यह कुछ भी होगा' – इसप्रकार का अनिर्णयात्मक ज्ञान, अनध्यवसाय कहलाता है। जैसे – मार्ग में गमन करते समय किसी पदार्थ का स्पर्श हो जाने पर भी उसके प्रति तीव्र अरुचि से जानने की इच्छा नहीं करना। 'कुछ भी होगा ? हमें उससे क्या ?' इत्यादिरूप में उसके प्रति अज्ञानतापरक उपेक्षा रखना, अनध्यवसाय है। मैं जीव हूँ या शरीर, शुभभाव पुण्य है या धर्म इत्यादि तथ्यों का निर्णय करने में बुद्धि नहीं लगाना, निर्णय करने की आवश्यकता ही भासित नहीं होना, अनध्यवसाय है।

प्रयोजनभूत तत्त्वों संबंधी सम्यग्ज्ञान इन तीनों दोषों से पूर्णतया रहित ही होता है।

प्रश्न ७ : सम्यक्चारित्र को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : समस्त सावद्ययोगों से रहित, शुभाशुभभावरूप कषायभावों से

मुक्त, जगत से उदासीनरूप निर्मल आत्मस्थिरता/आत्मलीनता सम्यक्-चारित्र है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र वहीं लिखते हैं –

''चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥३९॥

यह सम्यक्चारित्र आत्मरूप ही है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिस ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार किया था, सम्यग्ज्ञान द्वारा जिसे अपनत्वरूप से जाना था; उसमें ही सर्वस्व समर्पण/परिपूर्ण लीनता/परिपूर्ण आचरण सम्यक्चारित्र है। इस स्वरूप संबंधी आचरण के माध्यम से स्वतः सहज ही मन, वचन, काय संबंधी पाप-चेष्टाओं का अभाव हो जाता है। निष्कषायमय वीतरागदशा प्रगट हो जाने से शुभाशुभ भावरूप कषायात्मक सरागता/परप्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। स्वयं में ही परिपूर्ण तृप्ति/संतुष्टि हो जाने से, शेष समस्त जगत के प्रति सहज ही उदासीनभाव उत्पन्न हो जाता है। यही आत्मा की निर्मलदशा है, मोक्ष का साक्षात् कारण है, स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल परिणति है।''

प्रश्न ८ : निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर : वास्तव में तो मोक्षमार्ग मात्र मोक्षमार्ग है। उसके निश्चय, व्यवहार – ऐसे कोई भेद नहीं होते हैं; परन्तु जब उसका निरूपण किया जाता है, कथन किया जाता है, तब निश्चय-व्यवहार – दो प्रकार से कथन करने के कारण उसके दो भेद हो जाते हैं।

अनादि-अनन्त निर्बन्ध/मुक्त ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार कर (सम्यग्दर्शन), उसे ही अपनत्वरूप से जान-कर (सम्यग्ज्ञान), उसमें ही लीनता/स्थिरता (सम्यक्चारित्र) ही वास्तव में दुःखों से छूटने का उपाय होने से वास्तविक मोक्षमार्ग कहलाता है। ये तीनों ही दशाएं आत्मामय हैं। आत्मा के आश्रय से उत्पन्न स्वाभाविक परिणमन हैं। निराकुल अतीन्द्रिय आनन्दमय हैं। – इसप्रकार आत्मा के समान ही यह भी यथार्थ स्वाभाविक परिणमन होने से निश्चय मोक्षमार्ग कहलाता है।

प्रश्न ९ : निश्चयमोक्षमार्ग या सम्यक्रत्नत्रय मुक्ति का ही मार्ग है तथा निश्चय मोक्षमार्ग या सम्यक्रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है – इसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : उपर्युक्त दो प्रकार का कथन कार्य और कारण अथवा फल और साधन की अपेक्षा किया गया कथन है। निश्चय मोक्षमार्ग या सम्यक्रत्नत्रय मुक्ति का

ही मार्ग है।' यह कथन कारण या साधन की मुख्यता से किया गया है तथा 'निश्चय मोक्षमार्ग या सम्यक्रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है।' यह कथन कार्य या फल की मुख्यता से किया गया कथन है। मात्र 'ही' शब्द के स्थान-परिवर्तन से दो अर्थ फलित हो गए हैं।

सम्यक्रत्नत्रय पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन आत्मपरिणति होने से स्वयं सुखमय तथा सुख का कारण है। परिपूर्ण सुखमय स्वाधीनदशा सम्यक्रत्नत्रय की परिपूर्णता का ही दूसरा नाम है। परलक्ष्यी, पराधीनभावों से कभी भी सुखमय, निराकुलदशा प्रगट नहीं हो सकती है; अत: मुक्ति का मार्ग एकमात्र सम्यक्रत्नत्रय ही है, अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार कारण और फल – दोनों ओर से ही पूर्णतया नियम होने के कारण इसे दोनों रूपों में कहा जाता है।

प्रश्न १० : सम्यक्रत्नत्रय स्वर्गादि की प्राप्ति का कारण है या नहीं ? यदि नहीं तो सम्यक्रत्नत्रयधारी स्वर्गादि की प्राप्ति क्यों करते हैं ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में कोई एक कारण परस्परविरुद्ध दो कार्य नहीं कर सकता है। स्वाधीनकारण से पराधीनतारूप कार्य नहीं हो सकता है। सम्यक्रत्नत्रय स्वयं स्वाधीन सुखमयदशा है; अत: यह स्वाधीन सुखमय मुक्ति का कारण है। स्वर्गादि पराधीन संसारमय दशाएं हैं। मोक्ष के कारण का मोक्ष से विपरीत संसार का कारणपना सम्भव नहीं होने के कारण, सम्यक्रत्नत्रय स्वर्गादि का कारण नहीं हो सकता है।

जब कभी साधकदशावर्ती सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न जीव अपने स्वरूप में पूर्ण स्थिर नहीं हो पाते हैं, तो उनके गुणस्थानानुसार शुभभावरूप अपराध वृत्ति चलती रहती है। जिससे उन्हें देवायु आदि पुण्यप्रकृतिओं का बन्ध होता है। जिनका उदय आने पर वे स्वर्गादि जाते हैं। इसप्रकार शुभोपयोग/शुभभावरूप पराधीन भाव ही स्वर्गादि का कारण है; सम्यक्रत्नत्रयरूप स्वाधीनभाव स्वर्गादि का कारण नहीं है। भूमिकानुसार शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति होने पर भी सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न जीव उसे सदा हेय ही मानते हैं। अपने स्वरूपलीनतारूप पुरुषार्थ द्वारा उससे बचने का ही सतत प्रयास करते रहते हैं। इस संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र वहीं इसप्रकार लिखते हैं –

"रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

रत्नत्रयरूप धर्म तो निर्वाण/मोक्ष का ही कारण है, अन्य स्वर्गादि का कारण नहीं है। उनके जो स्वर्गादि के कारणभूत पुण्य का आस्रव होता है, वह यह शुभोपयोगरूप अपराध है अर्थात् उनके शुभोपयोगरूप परलक्ष्यी अपराधी वृत्ति के कारण पुण्य का आस्रव-बन्ध होता है।

सम्यक्रत्नत्रय रंचमात्र भी आस्रव-बन्ध का कारण नहीं होने पर भी, उन्हें आस्रव-बन्ध क्यों होता है ? इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

"येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥

साधकदशावर्ती सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न जीव के शुद्धि और अशुद्धि, वीतराग और सराग – इसप्रकार मिश्र परिणमन चलता रहता है। जितने अंशों में सम्यग्दर्शनरूप शुद्धि है, उतने अंशों में बन्ध नहीं है तथा जितने अंशों में राग विद्यमान है, उतने अंशों में उस राग से बन्ध है।

जितने अंशों में ज्ञानरूप शुद्धि है, उतने अंशों में बन्ध नहीं है; जितने अंशों में राग है, उतने अंशों में उस राग से बन्ध है।

इसीप्रकार जितने अंशों में चारित्र है, स्वरूपलीनता है, उतने अंशों में बन्ध नहीं है; जितने अंशों में राग है, उतने अंशों में उस राग से बन्ध है।"

निष्कर्ष यह है कि साधकदशा में यद्यपि मिश्रधारा चलती रहती है; तथापि विद्यमान शुद्धि/वीतरागता निर्बंध-दशारूप मुक्तदशा की ही कारण है; शेष विद्यमान शुभभावरूप अशुद्धि बन्ध/संसार का ही कारण है। शुभभाव आदि कर्माधीन परलक्ष्यी परिणाम होने के कारण अपराध हैं। अपराध का फल बंधन की प्राप्ति लोक में भी प्रसिद्ध है।

इसप्रकार सम्यक्रत्नत्रय-सम्पन्न जीव को साधकदशा में बन्ध होता है; तथापि वह सम्यक्रत्नत्रय के कारण नहीं है; उसके साथ ही विद्यमान शुभभावादि के कारण है। इसप्रकार बन्ध के अभाव का/संसार के दु:खों से छूटने का एकमात्र उपाय सम्यक्रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही है; अन्य कोई नहीं। ○○○

पाठ ८

निश्चय और व्यवहार

पं. टोडरमलजी व्यक्तित्व-कर्तृत्व के लिए इसी पुस्तिका का पृ. ९८ देखें।

प्रश्न १ : नय का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु को अन्य का विरोध नहीं करते हुए प्रयोजनवश किसी एक अंश की मुख्यता से जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं।

नय अर्थात् एक दृष्टिकोण। वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से तथा हमारे पास अनन्तपदार्थों को, अनन्तधर्मों को स्पष्टतया जाननेवाला विशद ज्ञान नहीं होने से, हम अपने अल्प श्रुतज्ञान के माध्यम से ही उस वस्तु के एक-एक अंश को पृथक्-पृथक् जानकर, उसकी विशद जानकारी कर लेते हैं। जानने की यही पद्धति नय कहलाती है।

किसी विशिष्ट प्रयोजन की मुख्यता से वस्तु के अन्य सभी धर्मों को गौण करके मात्र वह प्रयोजन जिस धर्म को जानने से सिद्ध होगा, उस धर्म को मुख्य करके जानने की पद्धति नय कहलाती है।

नय श्रुतज्ञान के अंश होने से ज्ञानात्मक ही हैं; तथापि वचनों से समझने-समझाने का व्यवहार प्रचलित होने से नय शब्दात्मक भी हो जाते हैं। इस-प्रकार सभी नय ज्ञाननय और शब्दनय के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

वास्तव में नय किन्हीं वस्तुओं का, द्रव्यों का, गुणों का, धर्मों का, स्व-भावों का, शक्तिओं का, श्रुतज्ञान की नयात्मक पर्याय को छोड़कर अन्य किन्हीं पर्यायों का या प्रवृत्तिओं का नाम नहीं है; अत: किसी वस्तु आदि को ही नयरूप मान लेना उचित नहीं है। एकमात्र वस्तु के विविध पक्षों को मुख्य-गौणकर जाननेवाली पद्धति को नय कहते हैं।

प्रश्न २ : नय के मोक्षमार्ग की दृष्टि से मुख्यतया कितने भेद हैं ?

उत्तर : वैसे तो नय अनन्त प्रकार के भी कहे गए हैं; परन्तु मोक्षमार्ग की दृष्टि से अत्यन्त प्रयोजनभूत मुख्य नय दो हैं – निश्चय और व्यवहार। प्रत्येक वस्तु में मुख्यतया अंतरंग और बहिरंग – ये दो परिस्थितिआँ विद्यमान होने के कारण उन्हें जाननेवाले ये दो नय मुख्य हैं।

१. **निश्चयनय** – समस्त परपदार्थों से भिन्न, अपने से अभिन्न वस्तु के वास्तविक स्वरूप को मुख्यरूप से जाननेवाला ज्ञान निश्चयनय है। निश्चय शब्द नि: और चय – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। नि:=नि:शेष रूप से/नियमरूप से/निश्चितरूप में; चय=संग्रह करना/इकट्ठा करना/ग्रहण करना अर्थात् वस्तु के जिस अंश के लिए हम सम्पूर्ण वस्तु का संग्रह करते हैं, वह उसका वास्तविक अंश होने के कारण, उसे जाननेवाला ज्ञान, निश्चयनय कहलाता है।

इसप्रकार वस्तु के मूलस्वरूप को/यथार्थ अंश को/भूतार्थ अंश को जाननेवाला ज्ञान या कहनेवाले शब्द निश्चयनय हैं।

२. **व्यवहारनय** – वस्तु के जिस अंश की मुख्यता से वस्तु का विशेष ज्ञान होता है, उसे जाननेवाले ज्ञान या कहनेवाले शब्दों को व्यवहारनय कहते हैं।

व्यवहार शब्द वि और अवहार – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। वि = विशेषरूप से, अवहार=ज्ञान करानेवाला अर्थात् वस्तु का जो अंश विशेषरूप से वस्तु का ज्ञान कराता है/वस्तु की पहिचान कराता है, उस अंश की मुख्यता से वस्तु को जाननेवाला ज्ञान व्यवहारनय है। यह अंश औपचारिक/अभूतार्थ/असत्यार्थ होने के कारण इसे जाननेवाला/विषय बनानेवाला व्यवहारनय भी असत्यार्थ/अभूतार्थ है।

ये दोनों ही नय भेदविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत प्रयोजनभूत वस्तु-व्यवस्था का भी ज्ञान करने में सहायक हैं तथा मोक्षमार्ग का भी ज्ञान करने में सहायक हैं। इस दृष्टि से इन दोनों नयों के मुख्यतया दो-दो भेद हो जाते हैं – निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय तथा व्यवहारनय के सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। शुद्ध निश्चयनय के पुन: तीन भेद हैं – एकदेश शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय अथवा साक्षात् शुद्ध निश्चयनय और परम शुद्ध निश्चयनय। दोनों ही प्रकार के व्यवहारनयों के भी उपचरित और अनुपचरित – ये दो-दो भेद हैं।

नयों के ये भेद-प्रभेद भेदविज्ञान और मोक्षमार्ग के संदर्भ में वस्तु-व्यवस्था को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। प्रत्येक नय एक विशिष्ट प्रयोजन से वस्तु का निरूपण करता है।

इन भेद-प्रभेदों को हम चार्ट द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

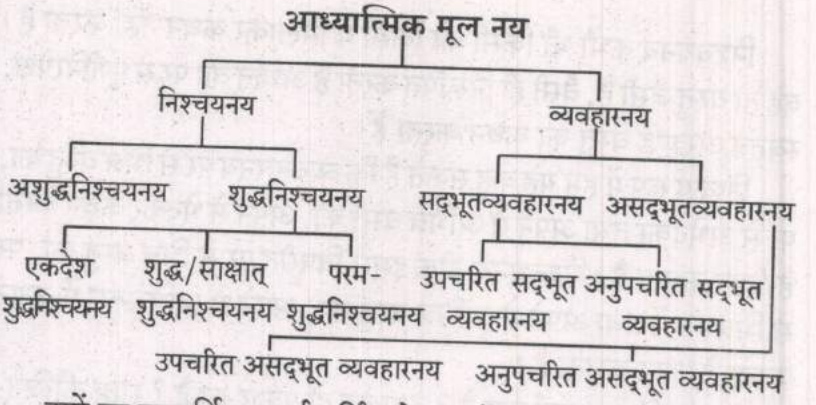

नयों का द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक के रूप में तथा नैगमादि के रूप में भी विस्तृत विवेचन जिनागम में उपलब्ध है। आत्महित की दृष्टि से इन्हें भी जानना आवश्यक है।

(इस संदर्भ में अत्यंत स्पष्ट जानकारी के लिए डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'परमभाव प्रकाशक नयचक्र' नामक ग्रंथ गम्भीरता से पठनीय/मननीय है।)

प्रश्न ३ : व्यवहारनय और निश्चयनय की प्ररूपण-पद्धति क्या है ?

उत्तर : व्यवहारनय सदैव (१) स्वद्रव्य-परद्रव्य में से किसी को किसी में मिलाकर जानता है, कथन करता है; (२) उन द्रव्यों के नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि भावों में से भी किसी को किसी में मिलाकर जानता है, कथन करता है; इसीप्रकार (३) वह किसी विवक्षित कार्य के संदर्भ में होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप कारण-कार्य में से किसी को किसी में मिलाकर जानता है, कथन करता है। इन तीनों पद्धतिओं को हम क्रमशः निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा समझ सकते हैं –

१. पौद्गलिक शरीर के संयोग में जीव को देखकर, जीव को ही उस शरीरवाला अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच, त्रस, स्थावर आदिरूप कहना।

२. पर्याय के उत्पाद-व्ययरूप अनित्यस्वभाव को देखकर द्रव्य को ही अनित्य कह देना इत्यादि।

३. वर्णादि को जानने में निमित्त होने से नेत्रादि इन्द्रियों को ही जाननेवाला कह देना इत्यादि।

निश्चयनय कभी भी किसी को किसी में मिलाकर कथन नहीं करता है। वह तो वस्तु जैसी है, वैसी ही निरूपित करता है अर्थात् वह पर से पूर्णनिरपेक्ष, स्वतंत्र अखण्ड वस्तु का कथन करता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि व्यवहारनय पर से भिन्न वस्तु का, पर से अभेदकर तथा अपने से अभिन्न वस्तु का, अपने से भेदकर कथन करता है/ज्ञान कराता है। निश्चयनय ठीक इससे विपरीत पर से भिन्न वस्तु का, पर से भिन्नरूप में तथा अपने से अभिन्न वस्तु का, अपने से अभिन्नरूप में कथन करता है/ज्ञान कराता है।

प्रश्न ४ : मुक्ति का मार्ग क्या है ? क्या वह दो प्रकार का है ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप सम्यकरत्नत्रय ही दुःखों से मुक्त होने का उपाय है। अपने ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीन होना/स्थिर होना/तन्मय होना/तद्रूप होना, मुक्ति का मार्ग/सुखी होने का उपाय/मोक्षमार्ग है।

वास्तव में सुखी होने का उपाय एक मात्र यह ही होने से मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; मोक्षमार्ग का निरूपण/कथन/वर्णन दो प्रकार से किया जाता है। उपर्युक्त वास्तविक मोक्षमार्ग वास्तव में ही मोक्षमार्ग होने से, उसे मोक्षमार्ग जानना/कहना निश्चयमोक्षमार्ग है तथा वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी, वास्तविक मोक्षमार्ग की निमित्त या सहचारीभूत शारीरिक क्रियाओं या शुभभावादि को उपचार से मोक्षमार्ग जानना/कहना व्यवहार मोक्षमार्ग है।

वास्तव में शारीरिक क्रियाएं बन्ध और मोक्ष के कारणों से रहित, पूर्णतया जड़ होने से, न तो बन्धमार्ग हैं और न ही मोक्षमार्ग; तथापि साधकदशा में यथायोग्य गुणस्थानानुसार कुछ विशिष्ट क्रियाओं/दशाओं से मोक्षमार्गिओं की पहिचान हो जाने के कारण उन्हें निमित्त की मुख्यता से मोक्षमार्ग कह दिया जाता है। इसे ही उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

इसीप्रकार यथायोग्य गुणस्थानानुसार साधक दशा में परिपूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होने के कारण शेष रहीं कषायों के अनुसार भूमिकानुरूप शुभभाव होते हैं। उनसे वीतरागता का अनुमानज्ञान भी हो जाता है तथा वीतरागता सुरक्षित भी रहती है। इसप्रकार उन्हें सहचारीपने की मुख्यता से मोक्षमार्ग कह दिया जाता है। इसे ही उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकतारूप वीतरागता मय परिणति ही वास्तविक मोक्षमार्ग होने पर भी, उसके साथ रहनेवाले शुभ-भावादि पर तथा तदनुसार होनेवाली शारीरिक क्रियाओं पर वीतरागता का उपचार करके, उन्हें भी मोक्षमार्ग कह दिया जाता है; परन्तु इतने मात्र से वे कहीं मोक्षमार्ग नहीं हो जाते हैं। उनमें से शारीरिक क्रियाएं तो पूर्णतया जड़-स्वरूप होने से न तो वे बंधमार्ग हैं और न ही मोक्षमार्ग तथा शुभभाव मन्द-कषायमय होने से पूर्णतया बन्धमार्ग/संसारमार्ग ही हैं; मोक्षमार्ग रंचमात्र भी नहीं हैं।

इसप्रकार मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया जाता है। इतने मात्र से मोक्षमार्ग को ही दो मान लेना महामिथ्यात्व है; मोक्ष-मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो एकमात्र एक वीतरागभाव ही है।

प्रश्न ५ : 'सिद्ध समान शुद्धात्मा का अनुभव करना निश्चय और व्रत, शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति करना व्यवहार है' – इस मान्यता में आनेवाले दोषों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : द्रव्य के किसी परिणाम का नाम निश्चय और किसी परिणाम का नाम व्यवहार नहीं होने के कारण 'सिद्ध समान शुद्धात्मा का अनुभव निश्चय और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है' – ऐसा मानना मिथ्या है। वास्तव में नय ज्ञान या कथन में होते हैं; किसी वस्तु या उसकी अवस्थाओं में नहीं होते हैं। वस्तु तो नयों से पूर्णनिरपेक्ष मात्र वस्तु है, उसकी अवस्थाएं भी नयों से निरपेक्ष मात्र अवस्थाएं हैं। उन्हें जानने या कहने के संदर्भ में जिस वस्तु का या अवस्था का जो स्वरूप है, उसे उसीरूप जानना या कहना निश्चयनय है तथा वह जिसरूप में नहीं है, उसे प्रयोजनवश उपचार से उसरूप जानना या कहना व्यवहारनय है – यही इस सन्दर्भ में सही मान्यता है।

प्रश्न ६ : यदि वास्तव में सिद्ध समान शुद्धात्मा का अनुभव निश्चय और व्रत, शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति व्यवहार नहीं है, तो समयसार आदि में ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर : वास्तव में द्रव्य की किसी अवस्था आदि का नाम निश्चय-व्यवहार नहीं होने के कारण 'सिद्ध समान शुद्धात्मा का अनुभव निश्चय और व्रत, शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति व्यवहार' – ऐसा नहीं है; तथापि सिद्ध समान

शुद्धात्मा का अनुभव वास्तविक मोक्षमार्ग/सुखी होने का उपाय होने से, उसे वास्तविक मोक्षमार्ग कहना या जानना, निश्चय मोक्षमार्ग है तथा व्रत, शील, संयमादि वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी, वास्तविक मोक्षमार्ग के निमित्त और सहचारी होने से, उन्हें उपचार से मोक्षमार्ग कहना या जानना व्यवहार मोक्षमार्ग है अर्थात् निश्चय और व्यवहार कहने या जानने में होते हैं, वस्तु में नहीं। इसे ही संक्षिप्तभाषा में ऐसा कहा गया है कि सिद्धों के समान पूर्णतया पर से भिन्न और अपने से अभिन्न शुद्धात्मा का अनुभव निश्चय और व्रत, शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति व्यवहार है। हमें संक्षिप्त कथन का विस्तृत अभिप्राय समझना चाहिए।

प्रश्न ७ : 'श्रद्धान निश्चय का रखना तथा प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखना' – क्या ऐसा मानना उचित है ?

उत्तर : ऐसा मानना उचित नहीं है; अपितु ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी दो नयों की शैली में निबद्ध होने से, एक नय का श्रद्धान करने पर सम्पूर्ण जिनवाणी का श्रद्धान नहीं हो पाने के कारण एकान्त मिथ्यात्व होता है; अत: सम्यक्त्व की पात्रता प्रगट करने के लिए हमें दोनों नयों का श्रद्धान करना चाहिए। दोनों नयों का श्रद्धान करने से तात्पर्य दोनों नयों को एक समान सत्यार्थ या असत्यार्थ मानना नहीं है; वरन् जिस नय का जैसा स्वरूप है, उसे उस रूप ही स्वीकार करना दोनों नयों का श्रद्धान है।

निश्चयनय वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान कराता है; अत: इस नय के द्वारा किए गए प्रतिपादन को 'वास्तव में यह ऐसा ही है' – ऐसा मानकर निश्चयनय का श्रद्धान करना तथा व्यवहारनय प्रयोजनवश वस्तु के औपचारिक, असत्यार्थ स्वरूप का कथन करता है; अत: इस नय के द्वारा किए गए कथन को 'वास्तव में यह ऐसा नहीं है' – ऐसा मानकर व्यवहारनय का श्रद्धान करना; इसे ही दूसरे शब्दों में व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ना भी कहते हैं।

प्रवृत्ति वास्तव में द्रव्य की परिणति/अवस्था होने से, स्वयं किसी नयरूप नहीं होने के कारण, प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखना भी अनुचित है। जब किसी प्रवृत्ति का नाम व्यवहार है ही नहीं, तब फिर उसरूप आचरण कर/प्रवृत्ति कर व्यवहार का स्वीकारपना कैसे सम्भव है?

वास्तविकता तो यह है कि द्रव्य की किसी विशिष्ट अवस्था को उसके

यथार्थ स्वभावमय जानना या कहना अथवा उसे उसी द्रव्य की जानना या कहना, निश्चयनय है तथा उस अवस्था का जो स्वभाव नहीं है, प्रयोजनवश उसे उसरूप जानना या कहना अथवा वह अवस्था जिसकी नहीं है, प्रयोजनवश उसे उसकी जानना या कहना, व्यवहारनय है।

इसप्रकार जिनवाणी दो नयों में निबद्ध होने के कारण, किसी एक नय का श्रद्धान करने पर मिथ्यात्व होने से 'श्रद्धान मात्र निश्चय का रखना' – यह मान्यता मिथ्या है तथा प्रवृत्ति स्वयं में किसी नयात्मक नहीं होने से, 'प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखना' – यह मान्यता भी मिथ्या है। उनके अपने स्वरूप के अनुसार दोनों नयों का यथार्थ श्रद्धान करना ही इस संबंधी सही मान्यता है।

प्रश्न ८ : शास्त्रों में कहे गए दोनों नयों को ग्रहण करने से क्या अभिप्राय है?

उत्तर : सम्पूर्ण जिनागम दो नयों में निबद्ध है। इतना ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था का निरूपण भी दो नयों के आश्रित है। समस्त लोकव्यवहार भी दो नयों के आधार से ही प्रचलित होने के कारण इस लोक को दुनिया कहते हैं। जिनवाणी दो नयों में निबद्ध होने के कारण दोनों नयों का ग्रहण करने पर ही सम्यक्त्व की पात्रता प्रगट होती है; परन्तु नय ज्ञानात्मक या शब्दात्मक होने से इनका ग्रहण भी ज्ञान या शब्दों में ही होता है। वह इसप्रकार है –

निश्चयनय वस्तु का यथार्थ प्रतिपादक होने से, उसके द्वारा किए गए कथन को 'यह वास्तव में ऐसा ही है' – ऐसा मानना/जानना ही निश्चयनय का ग्रहण है; व्यवहारनय वस्तु का औपचारिक कथन करनेवाला होने से, उसके द्वारा किए गए कथन को 'यह वास्तव में ऐसा नहीं है; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से ऐसा कहा गया है' – ऐसा मानना/जानना ही व्यवहारनय का ग्रहण है।

इसप्रकार दोनों नयों के कथनों को एक-समान सत्यार्थ मानना, दोनों नयों को ग्रहण करने का अभिप्राय नहीं है; वरन् उनके स्वरूप के अनुसार निश्चय के विषय को सत्यार्थ और व्यवहार के विषय को असत्यार्थ मानना ही उनका यथार्थ ग्रहण है।

प्रश्न ९ : 'व्यवहारनय को असत्यार्थ/हेय कहने से लोग, व्रत, शील, संय-मादि छोड़ देंगे; अत: व्यवहारनय को असत्यार्थ/हेय नहीं कहना चाहिए' – इस सुझाव को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में नय किसी प्रवृत्ति आदिरूप नहीं होकर मात्र ज्ञानात्मक या शब्दात्मक होने से किन्हीं व्रत, शील, संयमादि प्रवृत्तिओं का नाम व्यवहार-नय नहीं है; अत: उन्हें छोड़ने से व्यवहारनय छूटेगा भी नहीं। उन प्रवृत्तिओं को तो साधक दशा में मोक्षमार्गिओं के साथ देखकर, उन्हें भी उपचार से मोक्षमार्ग कहना या जानना, व्यवहार है तथा ये व्रतादि स्वयं तो शुभभावरूप, मन्दकषायमय आकुलता युक्त होने से, कर्मोदय के अधीन औदयिकभाव होने से कर्मबन्ध के कारण हैं। उनके निमित्त से पुण्यप्रकृतिओं का बन्ध होता है। जिनके फल में कुछ लौकिक अनुकूलताएं भी मिल जाती हैं; तथापि वे पूर्णतया परलक्ष्यी परिणाम होने से, उन्हें मोक्षमार्ग मानना, मिथ्यात्व है।

इसीप्रकार शुभभावानुरूप शारीरिक क्रिया तो पूर्णतया जड़ की क्रिया होने से, बन्ध या मोक्ष की रंचमात्र कारण नहीं होने से, उसे मोक्षमार्ग/धर्म मानना, मिथ्यात्व है। इस मान्यता को छोड़ना ही अर्थात् व्रतादि को मोक्षमार्ग/धर्म नहीं मानना ही, व्यवहार छोड़ना है। मिथ्यात्व अपनी मान्यता का दोष होने से व्रतादि छोड़ने से मिथ्यात्व नहीं छूटता है; वरन् उन्हें धर्म माननेरूप विपरीत मान्यता छोड़ने से मिथ्यात्व छूटता है। इसप्रकार व्यवहार की असत्यार्थता/हेयता का अभिप्राय, उसके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्गादि को वास्तविक मोक्षमार्ग मानना छोड़ देना है।

दूसरी बात यह है कि व्रतादि मन्द-कषायमय परिणाम होने से, इनमें आकुलता कम होने के कारण, इन्हें छोड़कर तीव्र आकुलतारूप अशुभभावों में प्रवृत्ति करना तो किसी भी स्तर पर उचित नहीं है। हाँ, यदि इन्हें छोड़कर निष्कषायरूप पूर्ण निराकुल दशा प्राप्त हो, तो सर्वोत्तम ही है; परन्तु यह निचली भूमिका में अधिक काल तक रह नहीं पाती है; अत: जबतक पूर्ण निराकुल दशा नहीं हो, तबतक नरकादि के कारणभूत, मोक्षमार्ग से सर्वथा विरुद्ध तीव्र कषायरूप अशुभभावों से बुद्धिपूर्वक हटकर, मन्द कषायरूप शुभभावों में रहने का बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करना; परन्तु उन्हें धर्म मानकर उनमें संतुष्ट नहीं हो जाना। उन्हें संसार का ही कारण जानकर सतत स्वरूप-स्थिरता का ही पुरुषार्थ करते रहना सद्विवेक है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि कर्मोदय के कारण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में जीव के परिणाम शुभ से अशुभ, अशुभ से शुभ स्वत: ही होते रहते हैं। इन कर्माधीन परिणामों को हम करनेवाले या छोड़नेवाले होते कौन हैं ? इस

वस्तुस्वरूप को समझकर होते हुए परिणामों की सहज स्वीकृति करके, उनसे सतत भेदविज्ञान करते रहना ही उनसे बचने का उपाय है अर्थात् ये क्रोधादि विकारी भाव मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं; मैं इनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाल ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा हूँ – इसप्रकार उनसे अपनत्व तोड़कर, उनमें परत्वबुद्धि लाकर, अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार कर, उसमें ही सतत लीन रहने का प्रयास करना/सतत सहज ज्ञाता-दृष्टारूप उदासीनवृत्ति रखना, उनसे बचने का उपाय है।

प्रश्न १० : जबकि व्यवहारनय असत्यार्थ कथन करनेवाला होने से, उसका श्रद्धान छुड़ाया जाता है ? तब फिर जिनवाणी में उसका प्रतिपादन ही क्यों किया जाता है ?

उत्तर : जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा का आधार लिए बिना कुछ समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार संसारी/व्यवहारी जीवों को व्यवहारनय का आश्रय लिए बिना परमार्थ का/निश्चय का उपदेश देना सम्भव नहीं है; परन्तु जैसे उसे समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का आधार लेने पर भी स्वयं म्लेच्छ हो जाना उचित नहीं है; उसीप्रकार व्यवहारनय के द्वारा परमार्थ समझाया जाने पर भी व्यवहारमात्र का अनुसरण करना उचित नहीं है। वह इसप्रकार है –

जैसे किसी अज्ञानी जीव को आत्मा की पहिचान कराने के लिए यदि हम उससे मात्र आत्मा-आत्मा कहते रहें, तो उसे कुछ भी समझ में नहीं आता है; परन्तु यदि शरीर की सापेक्षता द्वारा मनुष्य जीव, तिर्यंच जीव आदि रूप में अन्य जड़ पदार्थों से भिन्न जीव की पहिचान कराते हैं, तो उसे जीव/आत्मा समझ में आ जाता है। इसप्रकार मनुष्यादि शरीर के माध्यम से उसे जीव की पहिचान कराई; परन्तु उसे देखकर यदि कोई शरीर को ही जीव मान ले तो वह अपने मिथ्यात्व को ही पुष्ट करेगा; अत: शरीर के माध्यम से जीव की पहिचान तो कर लेना; परन्तु शरीर को ही जीव नहीं मान लेना। उस शरीर में रहनेवाले ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को ही जीव मानना। यही सच्चा श्रद्धान है।

इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की विषयभूत वस्तु को समझना/समझाना सम्भव नहीं होने से जिनवाणी में उसे स्थान मिल गया है; परन्तु

वस्तु का वास्तविक स्वरूप वैसा नहीं होने से, उस व्यवहार को हेय भी कहा गया है/उसका श्रद्धान छोड़ने के लिए भी कहा गया है।

प्रश्न ११ : व्यवहारनय निश्चय का प्रतिपादक कैसे है ?

उत्तर : निश्चयनय की विषयभूत वस्तु अभेद, एक, अखण्ड होने से उसके संबंध में विशेष कुछ कहना सम्भव नहीं है। उसका विशेष प्रतिपादन करने के लिए भेदात्मक और उपचारात्मक वस्तु को विषय बनानेवाला व्यवहारनय समर्थ है।

जैसे हिमालय पर्वत से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली हजारों किलोमीटर लम्बी गंगा नदी की लम्बाई तो क्या चौड़ाई भी हम अपनी आँखों से देखने में समर्थ नहीं हैं; अत: उसकी लम्बाई-चौड़ाई का, प्रवाह का परिज्ञान करने के लिए हमें उस संबंधी नक्शे का आश्रय लेना पड़ता है। नक्शे के माध्यम से हमें उसकी सम्पूर्ण जानकारी हो जाती है; परन्तु उस गंगा नदी से प्यास नहीं बुझाई जा सकती है। नक्शे की गंगा तो मात्र यथार्थ गंगा नदी का ज्ञान कराती है। स्वयं यथार्थ गंगा नहीं होने से, उसमें जल नहीं होने से, उससे प्यास बुझाना सम्भव नहीं है।

इसीप्रकार अमूर्तिक, असंयोगी, अभेद आत्मा का मूर्तिक, संयोगी, भेदादि के माध्यम से औपचारिक कथन करनेवाले व्यवहारनय द्वारा ज्ञान हो जाता है; परन्तु वास्तव में उसरूप नहीं होने से, उसरूप वस्तु को मान लेने पर अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त नहीं होता है; वरन् विपरीत मान्यता पुष्ट हो जाने से दु:ख और अधिक बढ़ जाता है।

मोक्षमार्ग के संदर्भ में निश्चय के प्रतिपादकत्वरूप में यदि व्यवहारनय की उपयोगिता पर विचार किया जाए, तो यह और भी अधिक स्पष्टरूप में सामने आती है। बाह्य व्रत, शील, संयमादि प्रवृत्ति के माध्यम से ही हम मोक्षमार्गी जीवों की पहिचान करते हैं। सच्चे वीतरागी देव की, वीतरागी मार्ग के पथिक गुरु की पहिचान हमें उनकी शारीरिक चेष्टाओं से ही करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त उनकी पहिचान करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

जैसे २८ मूलगुणों के धारक नग्न दिगम्बर मुनिराज ही सच्चे गुरु हैं। यद्यपि उनमें वास्तविक गुरुता तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन चौकड़ी कषाय के उदय के अभाव में व्यक्त हुई शुद्ध परिणति से है; तथापि इसकी

पहिचान कर पाना हमारे लिए सम्भव नहीं है; अत: व्यवहार के विषयभूत बाह्य नग्नत्व आदि से हमें उनकी पहिचान करनी पड़ती है।

इसप्रकार वस्तु-व्यवस्थापरक और मोक्षमार्गपरक निश्चयनय का विषय अमूर्तिक आदिरूप होने से, उसका प्रतिपादन व्यवहारनय द्वारा ही किया जाता है।

प्रश्न १२ : निश्चय और व्यवहार की विविध परिभाषाएँ लिखिए।

उत्तर : जिनागम में निश्चय-व्यवहार को अनेकानेक रूपों में परिभाषित किया गया है। वह इसप्रकार है –

१. सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं।

२. एक ही द्रव्य के भाव को उसरूप ही कहना या जानना निश्चयनय है तथा उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना या जानना व्यवहारनय है।

३. जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उसी की कहना या जानना निश्चयनय है तथा प्रयोजनवश उसे ही अन्यद्रव्य की कहना या जानना व्यवहारनय है।

४. व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को तथा कारण-कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। निश्चयनय उन्हीं का यथावत निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।

इन सभी परिभाषाओं के आधार पर निश्चय-व्यवहार के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं –

१. निश्चयनय सत्यार्थ है, व्यवहारनय असत्यार्थ है।

२. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है, व्यवहारनय उपचरित निरूपण करता है।

३. निश्चयनय का प्रतिपादन एक वस्तु के संबंध में अभेदपरक तथा अन्य वस्तुओं के संबंध में भेदपरक होता है। व्यवहारनय का प्रतिपादन ठीक इससे विपरीत एक वस्तु के संबंध में भेदपरक तथा अन्य वस्तुओं के संबंध में अभेदपरक होता है।

४. निश्चयनय आत्माश्रित है, व्यवहारनय पराश्रित है।

५. निश्चयनय का विषय असंयोगी वस्तु है, व्यवहारनय का विषय संयोगी वस्तु है।

६. निश्चयनय उस द्रव्य की परिणति को उसी द्रव्य की कहता है। व्यवहार नय निमित्तादि की अपेक्षा से उस द्रव्य की परिणति को अन्य द्रव्य की कहता है।

७. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र कथन करता है; व्यवहारनय अनेक द्रव्यों को, उनके भावों को, कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिलाकर कथन करता है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहार नय का स्वरूप-विश्लेषण परस्पर में एक दूसरे से अत्यंत भिन्न है।

प्रश्न १३ : निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में मोक्षमार्ग दो हैं ही नहीं; मात्र उनका निरूपण दो प्रकार से होता है। उस निरूपण की मुख्यता से इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है –

निश्चय मोक्षमार्ग	व्यवहार मोक्षमार्ग
१. यह सुखी होने का वास्तविक उपाय है।	इसे उपचार से सुखी होने का उपाय कहा जाता है।
२. यह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप वीतरागतामय है।	यह मात्र उस वीतरागता का निमित्त या सहचर है।
३. यह संवर-निर्जरा तत्त्वरूप है।	यह अजीवतत्त्व या आस्रव-बन्ध तत्त्व रूप है।
४. निश्चय मोक्षमार्ग स्वयं निराकुलतामय तथा निराकुलता का कारण है।	यह पराधीन, परलक्ष्यी भाव होने से आकुलतामय तथा आकुलता का कारण है।
५. यह सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक प्रगट होनेवाली जीव की स्वाभाविक दशा है।	यह जीव की कमजोरी वश प्रगट होने वाली, वैभाविक अशुद्धदशा है।
६. यह एकदेश उपादेय है।	यह पूर्णतया हेय है।
७. यह जीव के स्वभावानुसार प्रगट होनेवाली आनन्दमयदशा होने से प्रशंसनीय है।	यह जीव के विभावमय परिणमन युक्त दशा होने से प्रशंसनीय नहीं है। उपचार से प्रशंसा करते हैं।
८. इसके फल में समस्त कर्मबन्ध का, दुःखों का अभावरूप मोक्ष फलित होता है।	इसके फल में पुण्यकर्मों का बन्ध तथा उदय में देवादि गतिरूप संसार फलित होता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से इन दोनों मोक्षमार्गों में अन्तर है। ○○○

पाठ ९

दशलक्षण महापर्व

पर्व किसे कहते हैं ? वे कितने और कौन-कौन हैं ? धार्मिक पर्व कैसे मनाए जाते हैं ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर के लिए प्रस्तुत पुस्तिका के पृ. १३४-१३५ देखें।

प्रश्न १ : दशलक्षण महापर्व क्या है ?

उत्तर : आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक चारित्रसंबंधी दश प्रकार की विकृतिओं के अभाव में प्रगट होनेवाली चारित्रसंबंधी दश प्रकार की स्वाभाविक दशाएं दशलक्षण धर्म हैं। लगातार दश दिन पर्यन्त विषय-कषायों से बचकर इन धर्मों की आराधना के लिए आत्मसाधना में संलग्न रहने के कारण यह दशलक्षण महापर्व कहलाता है।

वास्तव में किसी भी पर्व की महानता उसके काल से या उसे मनाने की पद्धति से नहीं नापी जाती है; वरन् उसके फल में फलित होनेवाली वीतरागता से नापी जाती है। ये दशलक्षण धर्म वीतरागता की वृद्धि करते हुए परिपूर्ण वीतरागता प्रगट करने में कारणभूत होने से, इन संबंधी आराधना के दिन भी महापर्व कहलाते हैं।

आष्टान्हिका आदि महापर्वों में पूजन-भक्ति आदि की प्रधानता होती है; परन्तु दशलक्षण पर्व में उत्तमक्षमा आदि शुद्धभावों की प्रधानता होने से यह पर्व सभी पर्वों में सर्वोत्कृष्ट, पर्वाधिराज महापर्व कहलाता है। यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ल पंचमी से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी, माघ शुक्ल पंचमी से माघ शुक्ल चतुर्दशी तथा चैत्र शुक्ल पंचमी से चैत्र शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त – इसप्रकार तीन बार मनाया जाता है।

क्रोधादि विकारीभावों से सदा, सर्वत्र, सभी जीव दुखी होने से, उनके अभावरूप उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सार्वजनिक है। तदनुसार यह महापर्व भी सार्वकालिक/त्रैकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक है।

यद्यपि जिनागम में इस महापर्व की उत्पत्ति संबंधी एक कथा प्रचलित है; तथापि वह कथा एक कल्पकाल के बाद युगारम्भ संबंधी है, पर्वारम्भ संबंधी

नहीं है। इसप्रकार इस कहानी से भी इस अनादि-अनन्त पर्व की त्रैकालिकता खण्डित नहीं होती है।

प्रश्न २ : दशलक्षणपर्व किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के हैं ? नाम सहित लिखिए।

उत्तर : अपने ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरतारूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय वीतरागता ही वास्तविक धर्म है। यह वीतरागता क्रोधादि दश प्रकार के विकारीभावों के अभावरूप होने के कारण दशलक्षण धर्म कहलाती है। वास्तव में धर्म दश प्रकार का नहीं है; वरन् धर्म को बाह्य विकारादि के अभावरूप में पहिचानने के साधन दश हैं; अत: ये दशलक्षण धर्म या धर्म के दशलक्षण कहलाते हैं। वे धर्म के दशलक्षण इसप्रकार हैं –

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रम्हचर्य।

वास्तव में ये धर्म के दशलक्षण अपने त्रैकालिक ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरतारूप में प्रगट होने से इसरूप परिणमित प्रत्येक जीव के पाए जाते हैं। स्वभाव की अपेक्षा धर्म तो सभी के एकसा ही है अर्थात् क्वालिटी सभी की एक ही है; परन्तु स्वरूपस्थिरता में अन्तर होने के कारण इन धर्मों के धारकों में भी परिमाणात्मक/क्वांटिटी का अन्तर है।

जैसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के ये धर्म मात्र मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय के अभाव में उत्पन्न आंशिक वीतरागतारूप ही व्यक्त हुए हैं। इससे आगे क्रमश: बढ़ते-बढ़ते इन धर्मों की परिपूर्णतया पूर्ण अभिव्यक्ति सिद्धदशा में हो जाती है। अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्ध भगवान पर्यन्त सभी आत्माराधक जीव इन धर्मों से सम्पन्न हैं। आत्मा का मूलस्वभाव ही उत्तम क्षमादि रूप होने से सभी आत्माराधक अन्तरात्मा, परमात्मा इन धर्मों की अभिव्यक्ति-सम्पन्न हैं।

प्रतिपादन की अपेक्षा इन धर्मों को निश्चय धर्म और व्यवहार धर्मरूप में भी प्रतिपादित किया जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप सम्यक्रत्नत्रय वास्तविक धर्म होने से निश्चयधर्म कहलाता है तथा भूमिकानुसार शेष रही कषायों के सद्भाव में पाया जानेवाला शुभभाव उपचार से व्यवहारधर्म कहलाता है।

जीवन में उतारने की अपेक्षा इसके गृहस्थधर्म और मुनिधर्म रूप में भी भेद हो जाते हैं।

यद्यपि ये सभी धर्म चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्धदशा पर्यन्त सभी के विद्यमान हैं; तथापि जिनागम में इनका वर्णन मुनिराजों की मुख्यता से अर्थात् छठवें-सातवें गुणस्थान की अपेक्षा विशेषरूप से किया गया है। इसका कारण यह है कि आचार्यों ने गुप्ति, समिति, परिषहजय आदि के साथ ही इन धर्मों का वर्णन किया है। गुप्ति आदि मुनिराजों के होती है; अत: इन धर्मों की चर्चा भी मुनिराजों की मुख्यता से की गई है; परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये अन्य के होते ही नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी ये भूमिकानुसार होते हैं तथा अरहन्त, सिद्ध भगवान के ये परिपूर्ण व्यक्तरूप में विद्यमान हैं।

उत्तम क्षमा आदि आत्मा के चारित्रगुण की वीतरागतामय निर्मलदशाएं हैं। इनके साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के सद्भाव का सूचक है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ प्रगट हुए क्षमा आदि वीतराग धर्म, दशलक्षण धर्म या धर्म के दशलक्षण हैं।

प्रश्न ३ : निश्चय-व्यवहार धर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में धर्म तो एक वीतराग भावमय ही होने से दो प्रकार का नहीं है; परन्तु वास्तविक धर्म के साथ निमित्त और सहचररूप में विद्यमान शुभ-भावादि को भी उपचार से धर्म कह दिया जाने के कारण, धर्म का प्रतिपादन दो प्रकार से हो जाता है। इन दोनों में पारस्परिक बहुत अन्तर है। वह इसप्रकार है–

निश्चय धर्म	व्यवहार धर्म
१. यह वास्तविक धर्म है।	यह उपचार से धर्म कहलाता है।
२. यह स्वयं वीतरागतामय होने से सुखमय तथा सुख का कारण है।	यह मन्दकषायादिरूप होने से आकुलतामय तथा आकुलता का कारण है।
३. यह स्वाभाविक परिणमन होने से मोक्ष का कारण तथा मोक्षमय है।	यह वैभाविक परिणमन होने से बन्ध का कारण तथा बन्धमय है।
४. यह आत्माश्रित सम्यक् पुरुषार्थ से प्रगट होने के कारण स्वाधीन, स्वाश्रित है।	यह कर्मोदयादि के निमित्त से प्रगट होने के कारण पराधीन, पराश्रित है।
५. यह संवर, निर्जरा या मोक्ष तत्त्व-	यह आस्रव-बन्ध या अजीव तत्त्व-

रूप है।	रूप है।
६. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चयधर्म है।	भूमिकानुसार शारीरिक क्रियाएं अथवा मन्दकषायादिरूप शुभभाव वास्तव में धर्म नहीं होने पर भी, उपचार से व्यवहारधर्म कहलाते हैं।
७. यह चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धदशा पर्यन्त विद्यमान है।	यह मात्र साधकदशा में ही पाया जाता है, सिद्धों में इसका सद्भाव नहीं है।
८. इसकी नकल करना सम्भव नहीं होने से यह मिथ्याज्ञानिओं के कभी भी नहीं पाया जाता है।	इसकी नकल करना सम्भव होने से यह स्थूलरूप में मिथ्याज्ञानिओं के भी देखा जा सकता है।
९. यह आनन्दमय होने के कारण कथंचित् उपादेय है।	यह दुःखरूप होने के कारण हेय है।
१०. यह अन्तरात्मा और परमात्मा के पाया जाता है।	यह परमात्मा में नहीं होता है। अन्तरात्मा के है तथा नकलरूप में बहिरात्मा के भी देखा जा सकता है।

इसप्रकार इन दोनों धर्मों में बहुत अन्तर है।

प्रश्न ४ : उत्तम क्षमाधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि क्रोधकषाय के उदय के अभाव में शाश्वत क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मलता, वीतरागता उत्तम क्षमाधर्म है। ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा अनादि-अनन्त क्षमास्वभावी ही है; परन्तु इसे नहीं पहिचानने के कारण पर्याय में क्रोधरूप दशा चल रही है। **क्षमास्वभावी आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरतापूर्वक प्रगट हुई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय निर्मल वीतराग परिणति उत्तम क्षमाधर्म है।** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना उत्तम क्षमाधर्म प्रगट नहीं होने से 'उत्तम' शब्द दोनों के सद्भाव का सूचक है।

अपने पुरुषार्थ की कमजोरी वश क्षमास्वभावी आत्मा में पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर शेष रही क्रोध कषाय की प्रवृत्ति मन्दकषायरूप शुभभावमय हो जाने से उसे भी उपचार से क्षमा कह दिया जाता है। इसप्रकार भूमिकानुसार कषायों के अभाव में प्रगट होनेवाली वीतरागता वास्तविक क्षमा होने से

निश्चय क्षमा कहलाती है तथा शेष कषायों के सद्भाव में निन्दा आदि, शरीरघात आदि विविध प्रतिकूल प्रसंग बनने पर भी क्रोधरूप अशुभभाव उत्पन्न नहीं होना, उपचार से व्यवहारक्षमा कहलाती है।

वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णयकर जब यह जीव ऐसा स्वीकार कर लेता है कि वास्तव में किसी द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य कर्ता-धर्ता नहीं होने से कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता है। वास्तव में जगत में कुछ भला-बुरा होता ही नहीं है। हमें अपने राग-द्वेष वश जो भी भला-बुरा लगता है, उसका कर्ता कोई अन्य नहीं है। उसका उपादान तो स्वयं उस कार्य की तत्कालीन योग्यता ही है तथा निमित्त अपने ही विकारीभावों के कारण बँधे हुए कर्म का उदय है। कोई अन्य उसका उपादान तो है ही नहीं, वास्तविक निमित्त भी नहीं है। इस विचारधारा के बल पर शेष रहे अपने राग-द्वेष वश प्रतिकूल प्रतीत होनेवाली परिस्थितिओं में भी उसे क्रोध नहीं आता है। इस **मन्दकषायरूप शुभभाव को व्यवहार से उत्तम क्षमा कहते हैं।**

उत्तम क्षमाधर्म भूमिकानुसार चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्ध भगवान पर्यन्त विद्यमान रहता है। तत्काल सुख-शांतिमय और आगामी सुख-शांति का कारण होने से हमें भी इसे जीवन में प्रगट करना चाहिए।

व्यवहार से धर्म कहा जानेवाला, क्रोधरूप अशुभभाव के अभावमय शुभभाव भी तात्कालिक तीव्र आकुलता को कम करता है, वातावरण तनावग्रस्त होने से बचाता है। यह वास्तविक क्षमा के साथ प्रगट होनेवाली सहजदशा है। साधक दशा में भूमिकानुसार इन दोनों का सुमेल अवश्य ही होता है।

प्रश्न ५ : उत्तम मार्दवधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि मानकषाय के उदय के अभाव में शाश्वत मार्दव स्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्मलता, वीतरागता उत्तम मार्दवधर्म है। ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा अनादि-अनन्त मार्दवस्वभावी ही है; परन्तु उसे नहीं पहिचानने के कारण पर्याय में मानरूप दशा चल रही है। मार्दवस्वभावी आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरतापूर्वक प्रगट हुई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय निर्मानता, विनम्रता, कोमलता, वीतरागपरिणति, उत्तम मार्दवधर्म है। सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान के बिना यह प्रगट नहीं होने से 'उत्तम' शब्द इन दोनों के सद्भाव का सूचक है।

अपने पुरुषार्थ की कमजोरी वश मार्दवस्वभावी आत्मा में पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर, शेष रही मानकषाय की प्रवृत्ति ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर इत्यादि संयोगों की अनुकूलता-प्रतिकूलता में, हीनाधिकता में भी मन्दकषायरूप शुभभावमय विनयशील, निर्मद हो जाने से, उसे भी उपचार से मार्दव कह दिया जाता है। इसप्रकार **भूमिकानुसार कषायों के अभाव में प्रगट हुई निर्मानतारूप वीतरागता, वास्तविक मार्दवधर्म होने से निश्चय धर्म कहलाती है तथा शेष कषायों के सद्भाव में संयोगों के विविध प्रसंग बनने पर भी उनसे अपना मूल्यांकन नहीं करना, उनसे स्वयं को दीन-हीन नहीं मानना, छोटा-बड़ा नहीं मानना, घमण्ड नहीं करना इत्यादि रूप निरभिमानतामय शुभभाव, उपचार से व्यवहार मार्दवधर्म कहलाता है।**

वस्तु का यथार्थ निर्णय हो जाने से ज्ञानी जीव की यह सतत चिंतनधारा बनी रहती है कि कोई परपदार्थ मेरा नहीं है, कोई भी संयोग या पर्याय स्थिर नहीं है, सभी विनाशीक हैं; इसकारण वह सदा निरभिमानी, नम्र, विनयशील रहता है। इसके साथ ही मार्दवस्वभावी अपने आत्मा को बतानेवाले देव, शास्त्र, गुरु के प्रति भी उसका व्यवहार अत्यन्त मृदुतामय विनय-संपन्न होता है। इसे व्यवहार मार्दवधर्म कहते हैं।

उत्तम मार्दवधर्म भूमिकानुसार चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्ध भगवान पर्यन्त विद्यमान है। तत्काल सुख-शांतिमय तथा आगामी सुख-शांतिमय अमृतसम्पन्न होने से हमें भी इसे जीवन में प्रगट करना चाहिए।

व्यवहार से धर्म कहा जानेवाला, मान या दीनतामय अशुभभाव के अभाव रूप शुभभाव भी तात्कालिक तीव्र आकुलता को कम करता है, व्यर्थ ही वातावरण को तनावग्रस्त नहीं होने देता, निरर्थक भेदभाव नष्ट करता है। यह वास्तविक मार्दव के साथ प्रगट होनेवाली सहजदशा है। साधकदशा में भूमिकानुसार इन दोनों का सुमेल जीवन में अवश्य ही होता है।

मान कषाय महाविषरूप है। इस विष को एकमात्र अमृतमय मार्दवधर्म ही नष्ट कर सकता है; अत: उसे प्रगट करने का भूमिकानुसार सतत पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

प्रश्न ६ : उत्तम आर्जवधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि मायाकषाय के उदय के अभाव में शाश्वत आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली सरलता, निर्मलता, वीतरागता, उत्तम आर्जवधर्म है। ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा अनादि-अनन्त आर्जवस्वभावी है; परन्तु इसे नहीं पहिचानने के कारण पर्याय में मायाचारीरूप दशा चल रही है। आर्जवस्वभावी आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरतापूर्वक प्रगट हुई सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय सरलता, ऋजुतारूप वीतरागता, उत्तम आर्जवधर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना यह प्रगट नहीं होने से इसमें लगा हुआ 'उत्तम' शब्द इन दोनों के सद्भाव का सूचक है।

अपने पुरुषार्थ की कमजोरी वश आर्जवस्वभावी आत्मा में पूर्ण स्थिर नहीं हो पाने पर, शेष रही मायाकषाय की प्रवृत्ति छल-कपट, मायाचार आदि रूप नहीं होकर मन्दकषायमय शुभभावरूप हो जाती है; अत: इसे भी आर्जव धर्म कहते हैं। इसप्रकार भूमिकानुसार कषायों के अभाव में प्रगट होनेवाली सरलतामय वीतरागता वास्तविक आर्जवधर्म है तथा शेष कषायों के सद्भाव में मायाचारी के निमित्त बनने पर भी वस्तुस्वरूप के निर्णय के बल पर माया-रूप अशुभभावमय परिणमन नहीं करना, व्यवहार आर्जवधर्म है।

ज्ञानी सतत ऐसा विचार करता है कि वास्तव में कभी भी कोई भी कार्य छल से सिद्ध होता ही नहीं है। उस कार्य की सिद्धि में उपादानकारण तत्समय की योग्यता है और निमित्तकारण है पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय। मायाचारी तो पूर्णतया निरर्थक ही है। मायाचारी से कार्य सिद्ध तो नहीं होते; परन्तु तिर्यंचगति का बन्ध हो जाने पर तत्संबंधी दु:ख अवश्य भोगने पड़ते हैं। इस चिन्तन के बल पर भूमिकानुसार कुछ कषायों का सद्भाव होने पर भी उनसे छल-कपट रूप अशुभभाव नहीं हो पाते हैं; शुभभावरूप सरलता/निष्कपटता बनी रहती है। इसे उपचार से व्यवहार आर्जवधर्म कहते हैं।

आत्मस्वरूप में लीनता संबंधी हीनाधिकता की अपेक्षा उत्तम आर्जव-धर्म अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्ध भगवान पर्यन्त विद्यमान है। **अपने ज्ञानानन्दमय आर्जवस्वभावी भगवान आत्मा में लीनतारूप व्यक्त वीत-रागी सरलता वास्तविक आर्जवधर्म होने के कारण, निश्चय आर्जवधर्म है तथा साधक दशा में पूर्ण आत्मलीन नहीं रह पाने पर शेष रही माया-कषायादि की विद्यमानता में भी कपटरूप अशुभभावों का सहज अभाव**

हो जाना और मन, वचन, काय की एकतारूप प्रवृत्तिमय निश्छलता विद्यमान रहना, वीतरागतारूप आर्जवधर्म के साथ होने के कारण, उपचार से व्यवहार आर्जव धर्म कहलाता है।

अपने स्वभावसम्बन्धी वक्र परिणति का अभाव ही सुखमय तथा सुख का कारण है; अत: इसे प्रगट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। लौकिक, व्यावहारिक सरलता भी अनेक समस्याओं का निराकरणकर जीवन तनाव-मुक्त, सरल बनाती है। यह वास्तविक ऋजुता के साथ प्रगट होनेवाली सहजदशा है। ज्ञानी साधक के जीवन में इन दोनों का सुमेल होता है।

प्रश्न ७ : उत्तम शौचधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि लोभादि कषायों के उदय के अभाव में, शाश्वत शौचस्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई वीतरागी निर्मलता, पवित्रता, शुचिता उत्तम शौचधर्म है। ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा अनादि-अनन्त शौच स्वभावी ही है; परन्तु उसे नहीं पहिचानने के कारण पर्याय में अशुचिदशा चल रही है। शुचितामय आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर; उसमें ही स्थिरता, पवित्रता, निर्मलता, स्वच्छतारूप वीतरागपरिणति उत्तम शौचधर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना यह प्रगट नहीं होने से 'उत्तम' शब्द इन दोनों के सद्भाव का सूचक है।

अपने पुरुषार्थ की कमजोरी वश स्वाभाविक शुचितासम्पन्न आत्मा में पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर, शेष रही लोभादि कषाय की प्रवृत्ति अशुभरूप नहीं होकर, निर्लोभादिरूप शुभभावमय होने से, उसे भी उपचार से शौचधर्म कह दिया जाता है।

वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति हो जाने से ज्ञानी जीव की यह चिन्तनधारा सतत चलती रहती है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं में समग्रतया परिपूर्ण है। प्रत्येक वस्तु में एक त्यागोपादानशून्यत्व नामक शक्ति विद्यमान होने से, उसका अन्य के साथ या अन्य का उसके साथ किसीप्रकार का लेन-देन परक सम्बन्ध नहीं है। कोई भी वस्तु कभी भी किसी अन्य की नहीं हो सकती है। वास्तव में तो किसी अन्य की उसे आवश्यकता ही नहीं है। इस चिन्तन के बल पर वह सभी पापों को उत्पन्न करनेवाले लोभ से सहज दूर रहता है। इसे व्यवहार शौचधर्म कहते हैं।

उत्तम शौचधर्म भूमिकानुसार चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्धभगवान पर्यन्त विद्यमान रहता है। **गुणस्थानानुसार व्यक्त वीतरागता वास्तविक शौचधर्म होने से, निश्चय शौचधर्म कहलाती है; तथा तदनुसार विद्यमान शुभभावमय निर्लोभता, उपचार से व्यवहार शौचधर्म कहलाती है।**

उत्तम शौचधर्म समस्त कषायों सम्बन्धी मलिनता के अभाव में प्रगट होने से परिपूर्ण निर्मल, आनन्दमय है। इसके साथ रहनेवाला शुभभावरूप शौचधर्म भी तीव्रतृष्णा का नाशक होने से तत्सम्बन्धी अनन्तदु:खों से बचाकर जीवन तनावमुक्त, निर्लोभी, सन्तोषी बना देता है। ज्ञानी साधकों के जीवन में दोनों का ही सुनिश्चित सुमेल पाया जाता है।

प्रश्न ८ : उत्तम सत्यधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : विश्व में विद्यमान प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होने से सत् स्वभावी है। मैं भी विश्व का एक पदार्थ होने से अनादि-अनन्त सत् स्वभावी हूँ। इस सत् स्वभावी स्वयं ज्ञानानन्दमय भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें स्थिरतारूप व्यक्त वीतरागता, निर्मलदशा उत्तम सत्यधर्म है। सत् स्वभावी आत्मा के आश्रय से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के उदय का भूमिकानुसार अभाव होते जाने के कारण, यह उत्तम सत्यधर्म भी चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्धपर्यन्त विद्यमान रहता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बिना यह प्रगट नहीं होने से इसके साथ लगा 'उत्तम' शब्द इन दोनों के सद्भाव का सूचक है।

यह वीतरागतामय वास्तविक सत्यधर्म निराकुलतामय, सुखस्वरूप तथा सुख का साधन होने से, निश्चय सत्यधर्म है तथा साधकदशा में अपनी कमजोरी वश अपने सत् स्वभाव में पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर, शेष रही कषायों के उदय के सद्भाव में सत्य बोलने आदि रूप शुभभाव इस सत्यधर्म के साथ-साथ विद्यमान रहने के कारण, उपचार से व्यवहार सत्यधर्म कहलाता है; तथापि वह कषाय की मन्दतारूप शुभभाव पुण्यबंध का कारण होने से, वास्तविक धर्म नहीं है, आस्रव-बन्ध तत्त्व है तथा बोलनेरूप क्रिया तो एकमात्र वाणी का व्यापार होने के कारण, अपने से पूर्णतया भिन्न जड़ पदार्थ का परिणमन है।

सत्यवचनरूप व्यवहारसत्यधर्म को आचार्यों ने चार रूपों में विभक्त किया है – वचनगुप्ति, सत्यमहाव्रत, भाषासमिति और सत्याणुव्रत।

वाणी-व्यापार के संबंध में आचार्यदेव लिखते हैं कि यदि बोले बिना ही काम चल जाए तो बोलने का भाव नहीं करना ही सर्वोत्कृष्ट है। इसे ही वचनगुप्ति कहते हैं। यदि बोले बिना नहीं रहा जाए, बोलने का भाव आ जाए तो पूर्णतया सत्य बोलना; कषाय या अज्ञान के वशीभूत हो रंचमात्र भी असत्य नहीं बोलना सत्यमहाव्रत है। पूर्णतया सत्य बोलते हुए भी हित, मित और प्रिय वचन रूप ही सत्य बोलना, भाषा समिति है। इसरूप में बोलने पर भी अपना बोलने का भाव नष्ट नहीं होने पर, मुनिराज के समान स्वरूप-स्थिरता नहीं होने पर, गृहस्थावस्था में कम से कम ऐसा असत्य तो नहीं बोलना कि जिससे अपना या अन्य का जीवन संकट में पड़ जाए; यही सत्याणुव्रत है।

व्यवहार सत्यधर्म का पूर्णतया परिपालन करने के लिए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र ५ में निम्न पाँच भावनाएं बताई हैं –

''**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच** – व्यवहार सत्यधर्म का पालन करने के लिए क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि कषायों का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए तथा अनुवीचिभाषण करना चाहिए।''

अनुवीचि शब्द में अनु और वीचि दो शब्द हैं। अनु=अनुसरण करता हुआ, तीर्थंकरों की परम्परा से चला आया, एक के बाद एक क्रमशः होते-होते अपने पास आया हुआ। वीचि=लहर/तरंग अर्थात् जिसप्रकार लहरें क्रम से उठती-उठती किनारे पर्यन्त पहुँचती हैं; उसीप्रकार भगवान द्वारा प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को भलीभाँति परम्परा से जानकर, समझ कर बोलना, अनुवीचि भाषण कहलाता है।

यह उत्तम सत्यधर्म जवाहररत्न के समान अनमोल जीवन को सुख-शांतिमय बनाता है; अतः अपनी भूमिकानुसार इसे जीवन में बनाए रखने का सतत प्रयास करना चाहिए। अपने सत् स्वभावी ज्ञानानन्दमय भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार कर, उसमें ही स्थिर रहने का सतत प्रयास करते रहना चाहिए।

प्रश्न ९ : दशधर्मों के क्रम में उत्तम आर्जवधर्म के बाद कहीं उत्तम शौचधर्म को और कहीं उत्तम सत्यधर्म को लिया गया है। इसका कारण क्या है ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में तो स्वरूप-स्थिरता के बल पर ये दशों धर्म एक साथ ही

प्रगट होने के कारण इनके क्रम का कुछ प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है; तथापि समझना, समझाना क्रम से होने के कारण कथनशैली में क्रम पड़ता है।

जहाँ उत्तम आर्जवधर्म के बाद उत्तम शौच को रखा गया है, वहाँ कारण यह है कि इन धर्मों की घातक क्रोधादि कषायों का क्रोध, मान, माया, लोभ – यह क्रम प्रचलित है। इन्हें मुख्य कर इनके अभाव में व्यक्त होनेवाले धर्मों को भी इसी क्रम से चर्चित करने के कारण उत्तम आर्जवधर्म के बाद उत्तम शौचधर्म को रखा जाता है।

जहाँ उत्तम आर्जव के बाद उत्तम सत्य धर्म को रखा गया है, उसके पीछे कारण यह है कि उत्तम शौचरूप परिपूर्ण पवित्रता, सत् स्वभाव में परिपूर्ण स्थिरतारूप उत्तम सत्य के बिना सम्भव नहीं है – इसप्रकार प्रयोगात्मक प्रक्रिया को मुख्य करने पर उत्तम सत्य के बाद उत्तम शौच को स्थान दिया जाता है।

इसप्रकार विवक्षाभेद से क्रम-परिवर्तन समझ लेना चाहिए।

प्रश्न १० : उत्तम संयमधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ''संयमनं संयमः अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः – संयमित होना, सिकुड़ जाना, संकुचित हो जाना, सीमित हो जाना संयम है अथवा व्रतों का धारण, समितिओं का अनुपालन, कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूपी दण्डों का त्याग, इन्द्रियों को जीतना/उनके अधीन नहीं होना संयम है।''

अनन्त वैभवसम्पन्न ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीन हो जाना, सिमट जाना, सीमित हो जाना, संकुचित हो जाना, संयम है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना ऐसा संयम प्रगट नहीं होने से संयम के साथ लगा उत्तम शब्द इन दोनों के सद्भाव का सूचक है।

उत्तम संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसके बिना तीर्थंकर का जीव भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। इन्द्रिय आदि समस्त परपदार्थों को भोगने और जानने से दृष्टि हटाकर अर्थात् समस्त परपदार्थों की पराधीनता से मुक्त होकर, अपने स्वरूप में स्थिरता/लीनता, उत्तम संयमधर्म है। मिथ्यात्व और भूमिकानुसार अनन्तानुबंधी आदि कषायों के अभाव में प्रगट हुई वीतरागता/स्वरूपस्थिरता वास्तविक संयमधर्म होने के कारण, निश्चय संय-

मधर्म कहलाता है तथा भूमिकानुसार शेष रहीं कषायों के सद्भाव में प्रगट होनेवाला इन्द्रियविजय, प्राणी-अहिंसा आदि रूप शुभभाव, उपचार से व्यवहार संयमधर्म कहलाता है।

इसके मूलतया दो भेद हैं – प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम। इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं – पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक रूप षट्कायिक जीवों की हिंसा आदि का भाव नष्ट हो जाना/इन जीवों के प्रति दयापरिणाम/अहिंसापरिणाम उत्पन्न होना, छह प्रकार का प्राणी संयम है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, अनिन्द्रिय/मन – इन छह के माध्यम से इनके भोग्य-विषय में और ज्ञेय-विषय में नहीं उलझना अर्थात् इनके अधीन नहीं होना, इन पर विजय पाना, छह प्रकार का इन्द्रिय संयम है।

वास्तव में पर के साथ किसी भी द्रव्य का, कोई भी संबंध नहीं होने के कारण, उनके अधीन होने का, वस्तुस्वरूप में कहीं अवकाश ही नहीं है; परन्तु यह जीव अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को नहीं पहिचानने के कारण, अज्ञानतावश पर के साथ संबंध स्थापित कर, उनमें उलझता हुआ, असंयमी बनकर अनन्त कष्ट भोगता है। अपनी अज्ञानता समझ में आने पर अपने स्वरूप में स्थिरता के बल पर यह कष्टकर असंयमदशा नष्ट होकर सुख-मयदशा की कारणभूत, स्वयं सुखमय संयमदशा प्रगट होती है। इस अतीन्द्रिय आनन्दमय संयमदशा को, उत्तम संयमधर्म को प्रगट करने का हमें सतत अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न ११ : उत्तम तपधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : "इच्छानिरोधस्तपः अथवा समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः – इच्छाओं का निरोध होना, इच्छाएं उत्पन्न नहीं होना, तप है अथवा समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्यागपूर्वक स्व-स्वरूप में प्रतपन करना, विजयन करना, संतुष्ट होना, लीन रहना तप है।"

तात्पर्य यह है कि अनन्त वैभवसम्पन्न अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, स्वयं में संतुष्टि के बल पर स्वरूप-स्थिरता की दशा में प्रगट हुई वीतरागता, इच्छाओं का अभाव उत्तम तपधर्म है। अपने वैभव को पहिचाने, उपलब्ध किए बिना परपदार्थों संबंधी इच्छाएं समाप्त नहीं होने के कारण तप के साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का सूचक है।

साधकदशा में भूमिकानुसार कमजोरीवश पूर्ण स्वरूपलीनता नहीं हो पाने पर शेष रही कषायों के सद्भाव में होनेवाला अनशनादिरूप शुभभाव भी उपचार से तपधर्म कहलाता है। इस तपधर्म के मुख्यतया दो भेद हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन, कायक्लेश रूप तप बाह्य में दिखाई देने के कारण तथा प्रायश्चित्तादि के बाह्य स्थान होने से बहिरंग तप कहलाते हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान रूप तप मुख्यतया बाह्य में दिखाई नहीं देने के कारण तथा शुद्धोपयोगरूप वास्तविक धर्म के साधन होने से अन्तरंगतप कहलाते हैं।

इन बारह भेदों में से क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्जरा होने के कारण इन्हें इस क्रम में रखा गया है। **इन सभी तपों में बाह्यक्रिया की प्रधानता नहीं होकर, इच्छाओं के निरोध की प्रधानता है। ये सभी तप हमारी पराधीन प्रवृत्तिओं को नष्ट कर हमें स्वतंत्र, स्वाधीन बनाते हैं।**

स्वरूप-स्थिरता के बल पर इच्छाओं के निरोधरूप व्यक्त वीतरागता, वास्तविक तप होने से निश्चय तपधर्म है तथा भूमिकानुसार शेष कषायों के सद्भाव में व्यक्त वीतरागता के साथ रहनेवाले अनशनादिरूप शुभभाव, उपचार से व्यवहार तपधर्म कहलाते हैं।

यह उत्तम तपधर्म कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट करने के लिए वज्र के समान है; अतः इसे हमें भूमिकानुसार अपनाने का/धारण करने का सतत प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न १२ : उत्तम संयम और उत्तम तपधर्म का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : वास्तव में तो उत्तम क्षमादि सभी धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रगट हुई चारित्रगुण की निर्मल वीतरागमय सम्यक्चारित्ररूप दशाएं होने से ये सभी एक ही हैं; तथापि किसी विशिष्ट विकाररूप प्रवृत्ति से हटकर हुई स्व-रूप-स्थिरता की अपेक्षा इसके अनेक भेद हो जाते हैं। उत्तम संयमधर्म में षट्कायिक जीवों तथा षट् इन्द्रिय-विषयों से दृष्टि हटकर स्वरूप-स्थिरता होती है तथा उत्तम तपधर्म में इच्छाओं के निरोधपूर्वक स्वरूप-स्थिरता होती है। उत्तम संयमधर्म उस-उस गुणस्थान को स्थिर रखने के लिए अनिवार्य है; परन्तु अनशनादि तप ऐच्छिक होते हैं। संयम के बिना तो गुणस्थान की वृद्धि होती ही नहीं है; परन्तु अनशनादि कुछ बाह्य तपों के बिना तो गुणस्थान बढ़

जाता है, मोक्ष भी हो जाता है। संयम के बिना तप कभी भी नहीं हो सकता, तप सदैव संयमपूर्वक ही होता है; परन्तु संयम विशिष्ट तप के बिना भी रह सकता है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न १३ : उत्तम त्यागधर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ''निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिर्वृत्तिस्त्याग:– अपने शुद्धात्मा को सब ओर से ग्रहण कर बहिरंग-अंतरंग समस्त परिग्रहों से निर्वृत्ति उत्तम त्यागधर्म है। जब यह जीव अनन्त वैभवसम्पन्न अपने आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर होता है, तो सहज-रूप में ही सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग हो जाता है। यह स्वरूपस्थिरता वास्तविक धर्म होने से, निश्चय त्यागधर्म है।''

साधकदशा में भूमिकानुसार कमजोरीवश पूर्ण स्थिर नहीं रह पाने पर अशुभ से बचने के लिए, तृष्णा कम करने के लिए होनेवाले आहारदान, औषधिदान, अभयदान, ज्ञान/उपकरण दान इत्यादि रूप शुभभाव वीत-रागता के निमित्त और सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार त्यागधर्म कहलाते हैं।

बारहाणुवेक्खा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव उत्तम त्यागधर्म प्रगट करने की पात्रता इसप्रकार निरूपित करते हैं –

''णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।।

जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि जो जीव सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों के प्रति उदासीन परिणाम रखता है, उसे त्यागधर्म होता है।''

वास्तव में किसी भी द्रव्य का किसी भी अन्य द्रव्य के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं होने के कारण तथा प्रत्येक द्रव्य में त्यागोपादानशून्य-त्वशक्ति होने के कारण अन्य द्रव्य का ग्रहण-त्याग सम्भव ही नहीं है; परन्तु यह जीव अपने अज्ञानवश अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरण में परद्रव्यों को ग्रहण करने का प्रयास करता है; अत: ज्ञान होने पर वास्तविक त्याग भी श्रद्धान, ज्ञान और आचरण में ही होता है। बाह्य परपदार्थ तो जीव से पूर्ण निरपेक्ष रहते हुए अपनी-अपनी योग्यतानुसार मिलते-बिछुड़ते रहते

हैं। इसे ही आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार की ३४वीं गाथा में इसप्रकार लिखते हैं –

''सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥

क्योंकि समस्त परपदार्थ 'पर हैं' – ऐसा जानकर छूटते हैं। 'ये पर हैं' – इस श्रद्धान, ज्ञान के बल पर ही उनका त्याग होता है; अत: वास्तव में नियम से ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।''

इस त्यागधर्म के बिना कोई भी जीव निश्चिन्त, निराकुल सुखी नहीं हो सकता है; अत: हमें इसे प्रगट करने के लिए/धारण करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न १४ : उत्तम आकिंचन्यधर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : आकिंचन्य शब्द अकिंचन का भाववाचक है। अकिंचन शब्द अ और किंचन से मिलकर बना है। अ=नहीं, किंचन=कुछ अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभावी मुझ शुद्धात्मा के अतिरिक्त जगत में मेरा अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अकिंचन है। इस अकिंचन का भाव अर्थात् तद्रूप परिणमन आकिंचन्य है अर्थात् विश्व के समस्त परपदार्थों से पूर्णतया भिन्न अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, सभी के प्रति ममत्व का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थिरता के बल पर प्रगट होने-वाली वीतरागदशा, उत्तम आकिंचन्यधर्म है। यह वास्तव में सुखमय तथा सुख का कारण होने से, निश्चय आकिंचन्यधर्म कहलाता है।

साधकदशा में भूमिकानुसार कमजोरीवश स्वरूप में पूर्ण स्थिरता नहीं हो पाने पर, शेष रहीं कषायों के सद्भाव में प्रगट होनेवाला परिग्रहत्याग संबंधी शुभभाव वास्तविकधर्म का निमित्त या सहचारी होने के कारण, उपचार से व्यवहार आकिंचन्यधर्म कहलाता है।

आकिंचन्यधर्म का घातक परिग्रह मूलतया दो प्रकार का है – बहिरंग परिग्रह क्षेत्र, घर, चाँदी, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन के भेद से अथवा खेत, घर, सुवर्णादि धन, गेहूँ आदि धान्य, मनुष्यादि द्विपद, गाय आदि चतुष्पद पशु, कार-साइकिल आदि यान-वाहन, पलंग-कुर्सी आदि शैयासन, वस्त्रादि और बर्तनादि रूप में दश प्रकार का है। अंतरंग परिग्रह

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद रूप में चौदह प्रकार का है।

आकिंचन्य-धर्मधारी जीव मिथ्यात्वपरिग्रह का तो नियम से पूर्णतया त्यागी हो जाता है। शेष परिग्रहों का भी भूमिकानुसार त्याग होता जाता है। परिपूर्ण आकिंचन्य तो चौबीसों प्रकार के समस्त परिग्रहों का पूर्णतया त्याग होने पर ही प्रगट होता है।

वास्तव में तो मूर्छाभाव ही परिग्रह है। मूर्छा ममत्वपरिणाम को कहते हैं। 'यह मेरा है' – ऐसा भाव ममत्व कहलाता है। यह मूर्छा परिणाम ही अनन्त दु:खमय तथा दु:ख का कारण है; अत: अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक इसे नष्ट करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। बाह्यपरिग्रह तो पुण्य के अभाव में और पाप के उदय में भी अनेकों बार छूट जाता है; परन्तु उससे जीवन सुखमय नहीं हो पाता है। वास्तव में नरकादि गतिओं में नहीं पाया जाने के कारण बाह्य-परिग्रह व्यापक भी नहीं है; अत: सुखी होने के संदर्भ में इसका त्याग विशेष महत्त्व नहीं रखता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो अपने भावपाहुड़ नामक ग्रन्थ में ऐसा लिखते हैं कि –

''भावविशुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरथगंजुत्तस्स॥३॥

बाह्यपरिग्रह का त्याग तो मात्र अन्तरंग परिणामों की शुद्धि के लिए किया जाता है; अत: रागादिभावरूप अन्तरंग परिग्रह के त्याग बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल ही है।''

इसप्रकार समस्त परिग्रह का पूर्णतया त्याग ही परिपूर्ण उत्तम आकिंचन्य धर्म है। हमें भी भूमिकानुसार इस अतीन्द्रिय आनन्दमय धर्मरूप जीवन बनाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न १५ : उत्तम ब्रम्हचर्य धर्म को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : ब्रम्हस्वभावी अपने भगवान आत्मा में चर्या करना, रमण करना, लीन होना उत्तम ब्रम्हचर्य है। इस संदर्भ में पण्डित आशाधरजी अपने अनगार धर्मामृत नामक ग्रन्थ में लिखते हैं –

''या ब्रम्हणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे, चर्या परद्रव्यमुच प्रवृत्तिः।
तद् ब्रम्हचर्यव्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्॥

परद्रव्यों से रहित शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती

है, उसे ही ब्रम्हचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ इस ब्रम्हचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करते हैं।''

सम्पूर्ण परपदार्थों से भिन्न अनन्त वैभवसम्पन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनता रूप वीतरागता, उत्तम ब्रम्हचर्यधर्म है। यह वास्तव में ही सुखमय तथा सुख का कारण होने से, निश्चय ब्रम्हचर्यधर्म कहलाता है।

साधकदशा में पुरुषार्थ की कमजोरी वश पूर्ण स्वरूप-स्थिरता के अभाव में विद्यमान कषायों के कारण भूमिकानुसार पाँच इन्द्रियों संबंधी विषय-भोगों के त्यागरूप, उन संबंधी ज्ञेयों के त्यागरूप शुभभाव वीतरागता का निमित्त या सहचारी होने के कारण, उपचार से ब्रम्हचर्यधर्म कहलाता है।

उत्तम ब्रम्हचर्यधर्म की विरोधी पंचेन्द्रिय-मन विषयों में प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है – भोग्यरूप में और ज्ञेयरूप में। ब्रम्हचर्य धर्म में इन दोनों का ही त्याग किया जाता है। पाँच इन्द्रिय और मन के विषय इसप्रकार हैं –

१. स्पर्शनेन्द्रिय के विषय – हल्का, भारी, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म, नर्म, कठोर आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

२. रसनेन्द्रिय के विषय – खट्टा, मीठा, चरपरा, कडुवा, कषायला आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

३. घ्राणेन्द्रिय के विषय – सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

४. चक्षु इन्द्रिय के विषय – काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

५. कर्णेन्द्रिय के विषय – षडज आदि सात स्वरों, शब्दों, ध्वनिओं आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

६. मन के विषय – संकल्प-विकल्प आदि, चिन्तन-मनन आदि विषयों में भोग्यवृत्ति और ज्ञेयवृत्ति।

इनमें से किन्हीं भी विषयों में उलझा हुआ ज्ञान स्वरूपलीन नहीं हो पाने के कारण ब्रम्हचर्य सम्पन्न नहीं हो पाता है। तात्पर्य यह है कि **पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों की विषय-भोगरूप प्रवृत्ति तो ब्रम्हचर्य की घातक ही है; उनके माध्यम से पर-पदार्थों की जानकारी में लगा हुआ उपयोग**

भी ब्रम्हचर्य का घातक ही है; अत: मुक्ति के साक्षात् कारणभूत उत्तम ब्रम्हचर्यधर्म को धारण करने के लिए हमें इन दोनों से बचना चाहिए।

उत्तम ब्रम्हचर्य मोक्षरूपी महल की अन्तिम सीढ़ी है। यह परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्ति का साक्षात् कारण है; अत: हमें इसे पुरुषार्थपूर्वक जीवन में अपनाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न १६ : मुनिराज और गृहस्थों के उत्तमक्षमादि धर्म सम्बन्धी अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : यह तो पहले ही स्पष्ट हो गया है कि मूलतया धर्म एक वीतरागमय ही होने से उसमें कभी, कहीं, कोई भी अन्तर नहीं होता है; परन्तु भूमिकानुसार जीवन में उतारने की अपेक्षा परिमाणात्मक (क्वांटिटी का) अन्तर हो सकता है। गृहस्थ श्रावक चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती होने से उसके या तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय के अभाव पूर्वक उत्तमक्षमादि रूप वीतरागता होती है या फिर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के उदय के अभावपूर्वक उत्तमक्षमादिरूप वीतरागता होती है; परन्तु मुनिराजों के छठवें-सातवें गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के उदय के अभावपूर्वक विशिष्ट उत्तम क्षमादिरूप वीतरागता होती है।

गुणस्थानानुसार जितनी कषायें शेष हैं, उतने क्रोधादि भी विद्यमान रहते हैं। जैसे मुनिराजों के संज्वलन संबंधी क्रोधादि हैं। इससे आगे ये भी क्रम-क्रम से नष्ट होते-होते ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर सिद्ध भगवान पर्यन्त इनका पूर्णतया अभाव होने से उत्तम क्षमादिरूप वीतरागी धर्म पूर्णतया प्रगट हो गए हैं।

कषायों की मन्दता, तीव्रता के अनुसार धर्म में अन्तर नहीं पड़ता है; वरन् कषायों के अभावानुसार धर्म में परिमाणात्मक अन्तर हो जाता है। कषायों की मन्दता-तीव्रता के अनुसार लेश्या परिवर्तित होती है, गुणस्थान परिवर्तित नहीं होता है। गृहस्थ और मुनिराज सम्बन्धी उत्तम क्षमादि धर्मों में लेश्यासम्बन्धी अंतर मुख्य नहीं है; कषाय के अभावसंबंधी अंतर मुख्य है।

प्रश्न १७ : सत्य वचन बोलना सत्यधर्म नहीं है, क्योंकि सत्यधर्म आत्मा का धर्म है और वचन पुद्गल की पर्याय है। – इस तथ्य को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सत् स्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट वीतरागता, उत्तम सत्यधर्म है। साधक दशा में इस वीतरागता के साथ ही जो कषायें विद्यमान रहती हैं, उनके सद्भाव में यदि उसे बोलने का भाव आता है, तो वह भाव सत्यवचन

आदिरूप में ही व्यक्त होता है; परन्तु वास्तव में वचन भाषा-वर्गणारूप पुद्गल का कार्य होने से वह आत्मा का धर्म नहीं है। उसे आत्मा का धर्म मानने में अनेकानेक समस्याएं भी हैं। वे इसप्रकार हैं –

सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने पर मौन रहनेवाले मुनिराजों, केवलिओं तथा सिद्धभगवानों के वचनमात्र का अभाव होने से उनके सत्यधर्म सम्भव नहीं होता; परन्तु ये सभी सत्यधर्म-संपन्न हैं; अत: सत्यवचन सत्यधर्म नहीं है।

असत्यवचन नहीं बोलने के कारण यदि उन्हें सत्य बोले बिना भी धर्मात्मा मान लिया जाए, तो पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीवों को भी उत्तम सत्य-धर्म-सम्पन्न धर्मात्मा मानना पड़ेगा; क्योंकि वे भी न तो सत्य बोलते हैं और न असत्य ही। जबकि आगम में यह तथ्य प्रसिद्ध है कि धर्म प्रगट करने की पात्रता मात्र सैनी पंचेन्द्रिय जीव में ही होने से एकेन्द्रियादि धर्म प्रगट कर ही नहीं सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत्य बोलना या असत्य नहीं बोलना, उत्तम सत्यधर्म नहीं है। वास्तव में तो बोलना शरीराश्रित वचनयोग का कार्य होने से पूर्णतया पुद्गलमय होने के कारण आत्माश्रित धर्म के साथ इसका संबंध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि आचार्यों ने जिनागम में वचनगुप्ति, सत्यमहाव्रत, भाषासमिति और सत्याणुव्रत के रूप में वचनसम्बन्धी सम्पूर्ण दशाओं का विश्लेषण करने के बाद, उनसे पृथक् उत्तम सत्यधर्म का निरूपण किया है। वे कहते हैं कि यदि सम्भव हो तो बोलना ही नहीं। बोलने का भाव ही नहीं आना, वचनगुप्ति है। यदि बोलने का भाव तीव्रता से चल रहा है, उसे रोकना सम्भव नहीं है, तो पूर्णतया सत्य ही बोलना, असत्य रंचमात्र भी नहीं बोलना, सत्यमहाव्रत है। सत्य भी हित-मित-प्रिय ही बोलना, भाषासमिति है। यदि इतने से भी काम नहीं चल सके; गृहस्थ दशा में और भी अधिक बोलना पड़े, तो कम से कम ऐसा असत्य तो कदापि नहीं बोलना कि जिससे अपना या अन्य का जीवन संकट में पड़ जाए; यही सत्याणुव्रत है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वचनसम्बन्धी अस्ति-नास्ति परक समस्त व्यवहार को आचार्यों ने इनमें गर्भित कर लिया है। इनके अतिरिक्त वचन संबंधी कोई भी क्रिया शेष नहीं रहने पर भी, आचार्य इनसे भिन्न उत्तम सत्य-धर्म का निरूपण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह वचनों के समस्त व्यापार से पार आत्मा की वीतरागदशामय है। इसप्रकार वास्तव में सत्यधर्म का पुद्गल की पर्यायरूप वचनों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ○○○

पाठ १०

बलभद्रराम

प्रश्न १ : बलभद्रराम की कहानी अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर : इस भरतक्षेत्र में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में रामचन्द्र, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण के रूप में विद्यमान थे। अयोध्या के राजा दशरथ की चार रानिआँ थीं – कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा। इनसे क्रमशः रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक पुत्रों का जन्म हुआ। इसप्रकार ये चारों परस्पर में सौतेले भाई थे।

राम (पद्म) का विवाह राजा जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ। उनके सीता आदि आठ हजार रानिआँ थीं। नारायण होने से लक्ष्मण के भी विशल्या आदि सोलह हजार रानिआँ थीं।

एक बार अपनी वृद्धावस्था देखकर राजा दशरथ ने अपने बड़े पुत्र पद्म/राम को राज्य देकर दीक्षा लेकर आत्मसाधना करने का विचार किया। तदनुसार राम के राज्याभिषेक की घोषणा हो जाने के बाद भी, कारणवश पहले से वचनबद्ध कैकेयी की इच्छानुसार राम को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत को राजगद्दी मिली।

राम के साथ सीता और लक्ष्मण ने भी वनवास स्वीकार किया। एक बार वन में तीन खण्ड के अधिपति, मन्दोदरी आदि अठारह हजार रानिओं के पति प्रतिनारायण रावण ने सीता को देखकर कामुक हो, उसका अपहरण कर लिया। वह सीता को लेकर अपनी राजधानी लंका चला गया। वहाँ सीता ने उसे किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं किया। रावण के इस अन्याय, दुराचार को देखकर विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, हनुमान आदि मण्डलेश्वर राजाओं ने उसे सहयोग देना समाप्त कर दिया।

यहाँ वन में राम, लक्ष्मण सीता का अपहरण हो जाने से अत्यधिक दुखी थे। सीता को प्राप्त करने के प्रयास में आगे बढ़ते हुए उनकी भेंट विभीषण, सुग्रीव आदि अनेकानेक मण्डलेश्वर राजाओं से हुई। उन सभी के सहयोग से

राम, लक्ष्मण ने दुराचारी रावण के साथ युद्धकर, लक्ष्मण ने आश्विन शुक्ल दशमी के दिन रावण को मार दिया। राम, लक्ष्मण विजयी हुए; उन्हें सीता पुनः मिल गई। इस विजय के कारण ही यह दिन भारतीय संस्कृति में विजयादशमी या दशहरा के नाम से याद किया जाता है।

इस बीच चौदह वर्ष की समय-सीमा भी समाप्त हों जाने से सीता को साथ ले, राम, लक्ष्मण अयोध्या वापिस आ गए। भरत तो पहले से ही वैराग्य-वृत्ति सम्पन्न होने से उनके आगमन की सतत प्रतीक्षा ही किया करते थे। उनके आने पर लक्ष्मण राजा बने और भरत दीक्षा लेकर चले गए। लक्ष्मण भरतखण्ड के एक आर्यखण्ड और दो म्लेच्छखण्ड–इसप्रकार तीन खण्डों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर त्रिखण्डाधिपति, अर्धचक्रवर्ती, नारायण हुए। राम भी उनके साथ बलभद्र हुए।

वास्तव में यह जीव जबतक मोह, राग, द्वेषादि अपने विकारीभावों को नष्टकर वीतरागी नहीं होता है; तबतक इस पर संकट ही संकट आते रहते हैं। यह जीव तृष्णावश अनन्त दुःखमय सुखाभासों में सुख की कल्पनाकर पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में रमता है; परन्तु उसके फल में इसे अनेक संकट सहन करने पड़ते हैं। राम-सीता का कुछ ही समय शांति से राजमहलों में बीत पाया था कि सीता को गर्भवती देखकर लोगों ने उसके शील पर शंका करना प्रारम्भ कर दिया। लोकापवाद के कारण राम ने गर्भवती सीता को भयंकर जंगल में छुड़वा दिया।

उस भयंकर जंगल में कार्यवश पुण्डरीकपुर का राजा वज्रजंघ आया था। सीता को असहाय, एकाकी देखकर उसका हृदय साधर्मीवात्सल्य से ओत-प्रोत हो जाने के कारण उसने, परोक्षरूप में पंच परमेष्ठी भगवान को तथा प्रत्यक्षरूप में अपने धर्म को साक्षी बनाकर, असहाय सीता को धर्मबहिन बनाकर सहारा दिया। वह सीता को अपने साथ पुण्डरीकपुर ले गया। वहाँ सीता ने अनंगलवण और मदनांकुश नामक युगल बालकों को जन्म दिया। वे दोनों भी रामचन्द्र के समान ही धीर, वीर, प्रतापी और तद्भव मोक्षगामी थे। बड़े होने पर तो एक बार उन्होंने राम-लक्ष्मण से भी घमासान युद्ध किया; परन्तु हार-जीत का निर्णय होने के पूर्व ही सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर युद्ध-स्थल, स्नेह-सम्मेलन-स्थल में परिवर्तित हो गया। पिता-पुत्र, काका-भतीजे आदि का मिलाप हुआ।

इतना सब हो जाने के बाद भी राम ने अग्नि-परीक्षा के बिना सीता को स्वीकार नहीं किया। महासती सीता ने भयंकर अग्नि में प्रवेशकर अपने शील की अखण्ड पवित्रता का प्रमाण प्रस्तुत किया। अग्नि की भयंकर ज्वालाएं शीतल, शान्त, स्वच्छ जलरूप में परिणमित हो गईं। शील के माहात्म्य से प्रभावित हो स्वर्गवासी देवों द्वारा यह चमत्कार किया गया था। सीता का अखण्ड शील सिद्ध हो जाने पर राम ने उसे स्वीकार किया, अपने साथ पुनः पूर्ववत रहने का अत्यधिक आग्रह किया; परन्तु संसार के स्वरूप से भली-भाँति परिचित, आत्मज्ञानी, वैराग्य-सम्पन्न सीता ने किसी भी कीमत पर पुनः गृहस्थी की राग-द्वेषरूपी आग में जलना स्वीकार नहीं किया।

विषय-भोगों में रंचमात्र भी सुख नहीं है। एकमात्र वीतरागता ही सुखमय दशा है। वीतरागी मार्ग ही सुखी होने का उपाय है।–इस श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के बल पर उन्होंने पृथ्वीमति आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा धारणकर, आत्मसाधना में तत्पर हो, मनुष्यभव को सार्थककर, इस स्त्रीपर्याय का पूर्णतया विच्छेदकर सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

कुछ समय बाद देवों द्वारा राम-लक्ष्मण की स्नेह-परीक्षा का निमित्त पाकर लक्ष्मण का देहावसान हो गया। यह देखकर बलभद्र राम उन्मत्तवत हो उनकी देह लेकर लगभग छह माह पर्यन्त यहाँ-वहाँ घूमते रहे। बाद में देवों द्वारा संबोधित किए जाने पर सावधान हो, लक्ष्मण के शरीर का दाहसंस्कार कर, संसार की असारता-क्षणभंगुरता का विचारकर, वे भी राज्यादि का राग छोड़कर दीक्षा लेकर वीतरागी साधु बन गए।

आत्मसाधना की अन्तिम स्थितिपर्यन्त पहुँचकर, राग-द्वेषादि का पूर्णतया नाशकर, वे परिपूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ अरहन्त हो गए। कुछ समय बाद महाराष्ट्र प्रान्त के माँगी-तुंगी नामक सिद्धक्षेत्र से अशरीरी दशा को प्राप्तकर सिद्ध भगवान बन गए। इसी पर्वत से हनुमान, सुग्रीव, नल, नील आदि ९९ करोड़ मुनिराज मोक्ष पधारे।

इसप्रकार बलभद्र राम रागादि का अभावकर पूर्ण वीतरागी भगवान बन गए। उनका यह अनेकानेक सांसारिक उतार-चढ़ाव युक्त अनुकूलता-प्रतिकूलतामय आश्चर्यकारक विचित्रतासम्पन्न जीवन हमें भी सतत इन सांसारिक संयोगों से दृष्टि हटाकर आत्मसाधना में अग्रसर रहने की प्रेरणा देता है।

बलभद्र राम के सामान्य पारिवारिक परिचय को हम चार्ट द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं –

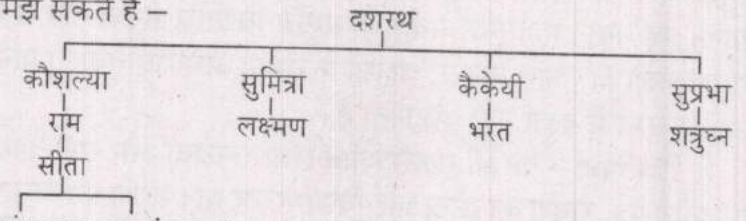

प्रश्न २ : बलभद्र राम के जीवनकाल से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तिओं का सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर : बलभद्र राम के जीवन में सीताहरण की घटना घटित हो जाने से, उसके कारण अनेकानेक राजा-महाराजा उनके सम्पर्क में आए। जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण का परिचय इसप्रकार है–

१. रावण – राक्षसवंशीय विद्याधर रावण राजा रत्नश्रवा और रानी केकसी का प्रथम पुत्र, तीन खण्ड का अधिपति, आठवाँ प्रतिनारायण, राजधानी लंका में रहकर तीन खण्ड पर शासन करनेवाला, मन्दोदरी आदि अठारह हजार रानिओं का स्वामी, जिनेन्द्र भगवान का परमभक्त, महान व्यक्ति था। वह स्वयं कोई क्रूरकर्मा राक्षस नहीं था; वरन् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का परमउपासक, उदारचेता, विनयवान, दयालु, त्रेषठ शलाका पुरुषों में गणनीय महापुरुष था; राक्षसवंश में उत्पत्ति के कारण राक्षस कहलाता था।

पूर्वभव के रागात्मक संस्कारवश सीता का अपहरणकर सीता को सतत अपनी रानी बना लेने का प्रयास करते हुए भी, सीता के नहीं चाहने पर बलात्कार न कर, अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहनेवाला, दृढ़संकल्पी महापुरुष था।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहरूप रौद्र परिणाम से मरकर यद्यपि अभी वह नरक गया है; तथापि आगामी काल में तीर्थंकर हो सिद्ध भगवान होनेवाला है।

उसका एक नाम दशानन भी प्रसिद्ध है। यह नाम दशमुखों का सूचक है। वह तो अन्य मनुष्यों के समान एक मुखवाला ही था; परन्तु जन्म के कुछ समय बाद ही एक मूल्यवान नौ मणिओंमय देवोपनीत हार के साथ सहजरूप से खेलते समय उसमें पड़ने वाले नौ प्रतिबिम्बों को देखकर, नौ मणिओं संबंधी

नौ मुख और एक वास्तविक मुख – इन दश मुखों के आधार पर इसका नाम दशानन पड़ गया। महासुन्दर सर्व गुण-सम्पन्न विद्याधर मनुष्य होने से इसे दशमुखवाला या राक्षस मानना, राक्षसों के समान अघोरीवृत्तिवाला मानना इसके सम्बन्ध में बहुत बड़ी अज्ञानता है।

२. **विभीषण** – यह भी राक्षसवंशीय राजा रत्नश्रवा और रानी केकसी का द्वितीय पुत्र, रावण का छोटा भाई विद्याधररत्न था। रावण का अन्याय, दुराचार समझ में आने पर, उसे समझाते समय रावण द्वारा अपमानित किए जाने पर यह रावण का पक्ष छोड़कर राम के पक्ष में आ मिला। रावण की मृत्यु के बाद लंका का राज्य राम ने इसे ही दिया था। अन्त में निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर स्वर्ग गया।

३. **हनुमान** – वानरवंशीय विद्याधर पवनंजय और अंजना के पुत्र अठारहवें कामदेव थे। त्रिखण्डाधिपति रावण के माण्डलिक राजाओं में से एक थे। रावण ने प्रसन्न हो इन्हें कर्णकुण्डलपुर का राज्य दिया था; परन्तु रावण की दुराचारी वृत्ति के कारण उसका पक्ष छोड़कर ये भी राम के सहयोगी बन गए। जीवन के अन्त में दिगम्बर दीक्षा ग्रहणकर पूर्ण आत्माराधना के बल पर माँगी-तुंगी पर्वत से मुक्त हो गए।

४. **सुग्रीव** – किस्किन्धपुर के वानरवंशीय विद्याधर सूर्यरज के पुत्र तथा महासती सुतारा के पति थे। पहले रावण के राज्य में माण्डलिक राजाओं में से एक होने पर भी, बाद में रावण की दुराचारी वृत्ति देखकर, उसका पक्ष छोड़कर राम के सहयोगी बने। जीवन के अंत में मुनि दीक्षा धारणकर आत्माराधना के बल पर माँगी-तुंगी पर्वत से मोक्ष पधारे।

५. **नल-नील** – किस्कुपुर नगर के वानरवंशीय विद्याधर अक्षरज के पुत्र ये दोनों भी पहले रावण के माण्डलिक राजा थे। बाद में उसका विरोधकर राम के सहयोगी बने। जीवन के अन्त में दिगम्बर दीक्षा धारणकर परिपूर्ण आत्माराधना के बल पर माँगी-तुंगी पर्वत से मोक्ष पधारे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सुग्रीवादि वास्तव में बन्दर नहीं थे; वरन् उनका वंश वानर था। उन्हें शरीर से भी वानर मानना, उनके सम्बन्ध में हमारी बहुत बड़ी अज्ञानता है। हनुमान तो अपने समय के कामदेव अर्थात् तत्कालीन संपूर्ण भरतक्षेत्र के सर्वाधिक रूप-सौन्दर्य सम्पन्न महापुरुष थे। उन्हें वानर जैसे विकृतरूप में प्रदर्शित करना, महा अज्ञानता है।

६. **वज्रजंघ** – ये पुण्डरीकपुर के भूमिगोचरी राजा थे। हाथी पकड़ने के लिए भयंकर जंगल में घूमते हुए, तीर्थयात्रा के बहाने वहाँ छोड़ी गई सीता से भेंट हुई। वहाँ तत्काल धर्म और धर्मात्मा की साक्षीपूर्वक सीता को धर्मबहिन बनाकर, अपने नगर ले जाकर सर्वांगीण संरक्षण दिया। लव-कुश का जन्म, बाल्यकाल, शिक्षण, विवाहादि सभी कुछ इनके यहाँ ही हुए; अर्थात् इन्होंने उस समय साधर्मी-वात्सल्य का एक बृहद्रूप जगत के समक्ष प्रस्तुत किया था।

इत्यादि अनेक व्यक्ति बलभद्र राम के जीवन से सम्बन्धित रहे हैं।

प्रश्न ३ : भगवान किसे कहते हैं? राम, हनुमानादि भगवान हैं या नहीं? यदि हैं, तो क्यों?

उत्तर : जो आत्माराधना की चरमस्थिति पर्यन्त पहुँचकर, राग-द्वेषादि विकारीभावों का और भूख-प्यासादि अठारह दोषों का पूर्णतया अभावकर परिपूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाते हैं; वे भगवान कहलाते हैं। राम-हनुमानादि आत्माराधना द्वारा परिपूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो गए हैं; अत: भगवान हैं।

हिन्दू संस्कृति में रागादि की उपासना होने से यद्यपि वहाँ अयोध्या के राजा मर्यादा पुरुषोत्तम राम और उनके परमभक्त/सेवक हनुमान के रूप में ही राम और हनुमान की पूजा की जाती है; परन्तु वास्तव में हम स्वयं ही रागादिसंयुक्त होने के कारण तथा रागादि दु:खमय और दु:ख के कारण होने से इनसे युक्त जीव पूज्य कैसे हो सकते हैं? अत: जैनसंस्कृति में राजा राम आदि तो पूज्य नहीं माने गए हैं; परन्तु जीवन के अन्त में उन्होंने भी संसार की असारता-क्षणभंगुरता जानकर, सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्यागकर, निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ग्रहणकर, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में परिपूर्ण लीनता के बल पर वीतराग-सर्वज्ञ दशा प्रगट की है। वे अरहन्त भगवान बनकर बाद में सिद्ध हुए हैं। हम उनकी इस वीतरागता-सर्वज्ञता के ही उपासक हैं।

इसप्रकार वीतरागी सर्वज्ञ राम, हनुमानादि भगवान होने से हमारे पूज्य हैं।

○○○

कहे सीताजी सुनो रामचन्द्र...

कहै सीताजी सुनो रामचन्द्र, संसार महादुखवृक्षकन्द है ॥कहै. ॥
पंचेन्द्री भोग भुजंग जानि, यह देह अपावन रोगखानि ॥१॥
यह राज रजमयी पापमूल, परिग्रह आरंभ में छिन न भूल ॥२॥

पाठ ११ | समयसार-स्तुति

प्रश्न : समयसार-स्तुति के प्रत्येक छन्द का अर्थ लिखकर, उसकी रुचिकरता का कारण लिखिए।

उत्तर : समयसार-स्तुति गुजराती भाषा में लिखी हुई पण्डित हिम्मतभाई की मूलकृति है। इसमें समयसार ग्रन्थ का भगवान महावीर से सम्बन्ध जोड़ते हुए उसकी प्रामाणिकता तो स्पष्ट की ही है, इसके साथ-साथ समयसार की मूल प्रतिपाद्य वस्तु को हृदयंगम करने से होनेवाले लाभ का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। अन्त में हम कुन्दकुन्दाचार्य के अत्यन्त ऋणी हैं। उनके ऋण से उऋण हो पाना सम्भव नहीं है अर्थात् हम कितना ही कुछ भी करें; तथापि उनके उपकार का प्रत्युपकार कर पाना सम्भव नहीं है। – इसप्रकार के भाव व्यक्तकर स्तुति पूर्ण की गई है। इसमें मात्र छह छन्द हैं। जो इसप्रकार हैं –

हरिगीत : संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता बहावी सुधा तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी ।।

संसारी जीव के मोह, राग, द्वेष आदि भावमरण को नष्ट करने के लिए करुणा करके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी ने वास्तविक जीवन देनेवाली संजीवनी वाणी सम्पन्न दिव्यध्वनि से अमृतमयी तत्त्वज्ञानरूपी नदी प्रवाहित की। उस तत्त्वज्ञानरूपी नदी को कालक्रमानुसार सूखता हुआ देख-कर अत्यन्त करुणामय हृदय से मुनिराज कुन्दकुन्दाचार्य ने समय-प्राभृतरूपी बर्तन में भर दिया है।

रुचिकरता का कारण : इस छन्द में समयप्राभृत/समयसार ग्रन्थ को साक्षात् महावीर भगवान की दिव्यवाणी का सार बताया गया है। यह ग्रन्थ कपोल-कल्पित/मनगढ़न्त नहीं है; अपितु सर्वज्ञ भगवान की वाणी होने से पूर्णतया प्रामाणिक है – ऐसा भाव व्यक्त किया होने से, यह छन्द हमें अच्छा लगा।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी समयसार ग्रन्थ की प्रथम गाथा की टीका में इस ग्रन्थ को अरहन्त भगवान के प्रवचन का अवयव कहा है तथा टीका पूर्ण

करते हुए २४५वें कलश में जगत का अद्वितीय चक्षु कहा है। – ये सभी कथन इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु की प्रामाणिकता और उपयोगिता के सूचक हैं।

अनुष्टुप : **कुन्दकुन्द रच्यूं शास्त्र, साँथिया अमृते पूर्या,**
ग्रन्थाधिराज! तारामां भावो ब्रम्हांडना भर्या।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के पाँच परमागमों में से तीन परमागम अर्थात् समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका लिखी है। समयसार ग्रन्थ पर लिखी गई आत्मख्याति टीका और उसके कलशों के सन्दर्भ में कवि लिखते हैं कि मानो उन्होंने यह टीका लिख-कर ग्रन्थ पर मंगलकारी स्वस्तिक ही बनाया है। कवि लिखते हैं कि ग्रन्था-धिराज! महान ग्रन्थ समयसार !! तुम्हारे अन्दर समस्त ब्रम्हाण्ड का भाव भरा है; अर्थात् इसमें मुख्यरूप से सम्पूर्ण विश्व में सुखी होने की दृष्टि से सारभूत शुद्धात्मतत्त्व का निरूपण किया गया है।

रुचिकरता का कारण : इस पद्य में आत्मख्याति टीका की अद्भुत महिमा गाई गई है। लौकिक तथा धार्मिक क्षेत्र में स्वस्तिक का अपना एक विशेष महत्त्व है। दोनों ही क्षेत्रों में इसे अविनाशी कल्याणकारक, शुभसूचक माना गया है। आत्मख्याति टीका को स्वस्तिक की उपमा देकर कवि ने इसे हृदयंगम करने की प्रेरणा दी है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी तो अपने एक पत्र 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में यहाँ तक लिखते हैं कि 'अध्यात्म तो आत्म-ख्याति में है'।

सम्पूर्ण जिनागम के सार, प्रतिपाद्य बिन्दु एक शुद्धात्मा की मुख्यता से इस पद्य में निरूपण होने से हमें यह पद्य अच्छा लगा। कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इस ग्रन्थ को 'विराटक सौं विसतार' कहकर महिमा-मण्डित किया है।

शिखरिणी : **अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,**
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी।
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणती।।

हे आचार्य कुन्दकुन्ददेव! समयसार नामक महाशास्त्र में प्रगट हुई आपकी वाणी अत्यन्त शान्तरस को झरानेवाली है, उपशमरस से भरपूर है। मुमुक्षु प्राणी इस अमृत-रस का अंजुली भर-भरकर पान करते हैं। जिसप्रकार

विषपान से उत्पन्न हुई मूर्छा अमृतपान से नष्ट हो जाती है; उसीप्रकार अनादि-कालीन मिथ्यात्वरूपी विष से उत्पन्न हुई मूर्छा आपकी अमृतवाणी का पान करके नष्ट हो जाती है। विभावभावों में आसक्त परिणति स्वभाव की ओर दौड़ने लगती है।

रुचिकरता का कारण : समयसारस्वरूप शुद्धात्मतत्त्व की महिमा बताने वाले इस समयसार ग्रन्थ को पढ़ने का फल इस पद्य में बताया गया होने से, यह पद्य हमें अच्छा लगा।

शार्दूलवि-क्रीडित : **तूं छै निश्चयग्रन्थ, भंग सघला व्यवहारना भेदवा,**
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञानने उदयनी संधि सहु छेदवा।
साथी साधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तूं पंथ मुक्ति तणो ॥

हे ग्रन्थाधिराज ! तुम्हारे में निश्चय (नय) की मुख्यता से शुद्धात्मतत्त्व का निरूपण किया गया होने के कारण तुम निश्चयनय के ग्रन्थ हो; अत: व्यवहारनय सम्बन्धी समस्त भंगों को नष्ट करनेवाले हो अर्थात् इस ग्रन्थ में गौण करके व्यावहारिक भेदों का निषेध किया गया है। हे ग्रन्थाधिराज ! तुम ज्ञानभाव और कर्मोदयजन्य विकारीभावों के बीच में विद्यमान सन्धि को पृथक्-पृथक् करने के लिए प्रज्ञारूपी छैनी हो। मोक्षमार्ग के साधकजीव के लिए तुम साथी हो, परममित्र हो; अर्थात् मोक्षमार्ग की साधना जिस शुद्धा-त्मतत्त्व के आश्रय से होती है, उसे समझने में तुम परम सहायक हो। तुम संपूर्ण विश्व को स्व-पर का भेदविज्ञान कराने के लिए सूर्य-समान हो।

वास्तव में समयसारस्वरूप शुद्धात्मा ही भगवान महावीरस्वामी का वास्तविक सन्देश है और समयसार में इसी का वर्णन होने से, भगवान महावीर का यही सन्देश जन-जन तक तुम पहुँचाते हो। हे ग्रन्थाधिराज ! अनादिकालीन संसार दु:खों से दुखी प्राणिओं के हृदय को विश्राम देने वाले तुम ही मुक्ति के मार्ग हो।

रुचिकरता का कारण : इस पद्य में असहाय दुखी संसारी प्राणी को सहायक और दु:खों से मुक्ति का मार्ग बतानेवाले रूप में समयसार ग्रन्थ की स्तुति की गई होने से, यह छन्द हमें अच्छा लगा।

वसंततिलका : **सूण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,**
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय।

तुं रूचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तुं रीझता सकल ज्ञायक देव रीझे ।।

हे समयसार ! एकाग्रतापूर्वक तुम्हें सुनने से हमारे कर्मों की फलदानशक्ति शिथिल हो जाती है। तुम्हें जानने से अतीन्द्रिय आनन्द में निमग्न रहनेवाले जीवों का हृदय जान लिया जाता है। तुम्हारे सम्बन्ध में रुचि उत्पन्न होते ही सांसारिक विषय-भोगों की रुचि के प्रति यह जीव आलसी बन जाता है; अर्थात् उसे पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति रुचि नहीं रहती है। जिस पर तुम प्रसन्न हो जाते हो, उस पर उसका सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला आत्मा रीझ जाता है; अर्थात् सकल ज्ञेयों का ज्ञायक आत्मा उसकी अनुभूति में प्रगट हो जाता है/वह स्वानुभव-सम्पन्न हो जाता है।

रुचिकरता का कारण : इस पद्य में समयसार ग्रन्थ के स्वाध्याय का फल और समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा के प्रति रुचि का फल बताया गया होने से यह पद्य हमें अच्छा लगा।

इस सन्दर्भ में कविवर पण्डित बनारसीदासजी का निम्नलिखित छन्द भी द्रष्टव्य है –

"मोख चलिवे को सौन, करम कौ करै बौन।
जाके रस भौन बुध लौन ज्यों घुलत है।।
गुन को गरंथ, निरगुन को सुगम पंथ।
जाको जस कहत सुरेश अकुलत है।।
याही के जु पच्छी ते उड़त ग्यान गगन में।
याही के विपच्छी जगजाल में रुलत हैं।।
हाटक सौं विमल, विराटक सौं विसतार।
नाटक सुनत हिए फाटक खुलत हैं।।

प्रस्तुत पद्य में समयसार ग्रन्थ की तथा समयसारस्वरूप शुद्धात्मा की महिमा गाई गई है। कवि लिखते हैं कि यह ग्रन्थ मोक्षमहल पर पहुँचने के लिए सीढ़िओं के समान है, कर्मरूपी विकार का वमन करानेवाला है। इसके रसरूपी जल में ज्ञानी जन नमक के समान घुल-मिल जाते हैं।

यह सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रन्थ/भण्डार है, मुक्ति का सुगम-सरल मार्ग है। इसकी महिमा वर्णन करते समय इन्द्र भी आकुलित हो जाते हैं अर्थात् इसकी महिमा करने की सामर्थ्य इन्द्र में भी नहीं है।

इस ग्रन्थ के पक्षरूपी पंख को प्राप्त जीव ज्ञानरूपी आकाश में विहार करते हैं और जिन्हें इस ग्रन्थ के पक्षरूप पंख प्राप्त नहीं हुए हैं, वे जगत के जंजाल में फसकर अनन्त दु:ख भोगते हैं।

यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल है, विराटरूप के समान विस्तृत है। इस ग्रन्थ को सुनने से हृदय के फाटक/द्वार खुल जाते हैं।''

लगभग इसीप्रकार का वर्णन समयसार-स्तुति के प्रस्तुत पद्य में होने से यह पद्य मुझे अच्छा लगा।

अनुष्टुप : **बनावुं पत्र कुन्दनना, रत्नोंना अक्षरो लखी,**
तथापि कुन्दसूत्रोना अंकाये मूल्य ना कदी ॥

कवि इस ग्रन्थ की अमाप महिमा से अभिभूत हो, ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के उपकारों से उपकृत होते हुए भावविभोर हो लिखते हैं कि यदि परिपूर्ण शुद्ध कुन्दन/२४ केरिट सुवर्ण के पत्र/पृष्ठ बनाकर, उन पर कीमती रत्नों से अक्षर लिखे जाएं/ये गाथाएं लिखीं जाएं; तो भी आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्रों का, उनकी गाथाओं का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्यों की गाथाओं का मूल्य जड़वस्तुओं से नहीं किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जिस आत्मिक गहराई से इन गाथाओं को लिखा है; उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का उपाय भी एकमात्र उस आत्मिक गहराईपर्यन्त पहुँच जाना है, आत्मानुभव करना है। यही एकमात्र उनके ऋण से उर्ऋण होने का तथा सुखी होने का उपाय है।

रुचिकरता का कारण : इस पद्य में आचार्य कुन्दकुन्ददेव की गाथाओं को, उनमें वर्णित शुद्धात्मतत्त्व को अनमोल बताया गया होने से, उनकी महिमा से अभिभूत हो हमारा मन जिनागम के गम्भीरतम अध्ययन, मनन, चिन्तन के बाद आत्मानुभव के लिए अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थशील होता है; अत: यह पद्य हमें अच्छा लगा। ○○○

जिनवाणी की ही शरण है...

''शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने आचार्यों के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमें परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा; किन्तु परोक्षरूप से वह हमें जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल में अभाव होने एवं आत्मज्ञानिओं की विरलता होने से एक जिनवाणी की ही शरण है।''